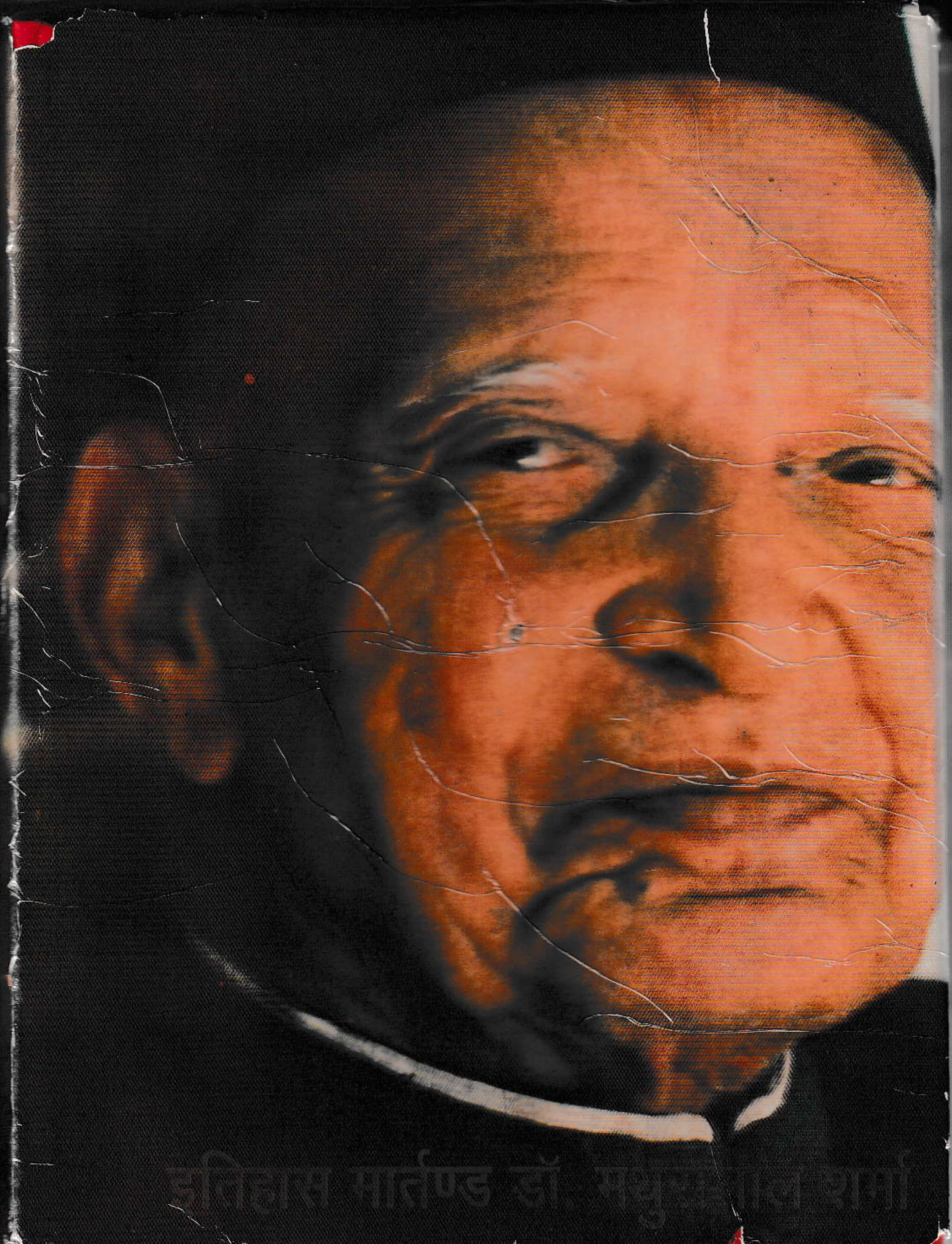
इतिहास मार्तण्ड डॉ. मथुरालाल शर्मा

इतिहास मार्तण्ड डॉ. मथुरालाल शर्मा

जन्म तिथि : 21 अगस्त, [illegible]
पुण्य तिथि : 1 अप्रैल, [illegible]

अर्पित तव चरणों में,
अश्रु सुमन करते हैं।
हे मेधावी, ज्ञान उदधि,
हम तुम्हें नमन करते हैं॥

इतिहास मार्तण्ड डॉ. मथुरालाल शर्मा

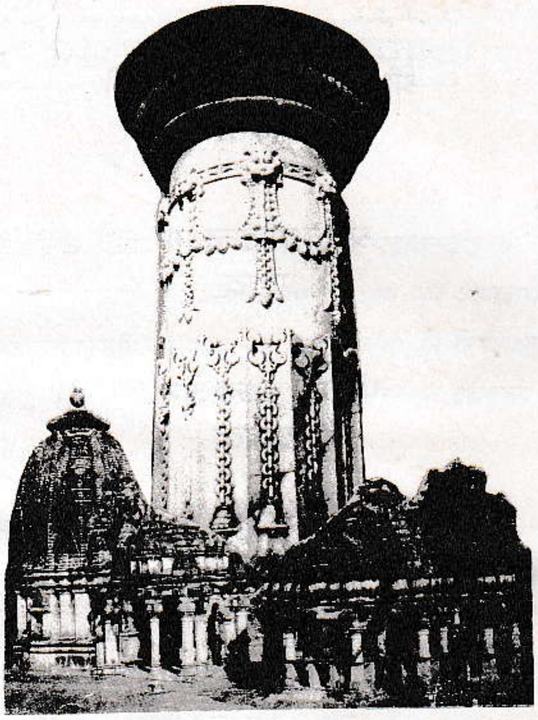

प्रधान सम्पादक

पं. परमानन्द शर्मा

सम्पादकगण

रामस्वरूप जोशी — श्रीकृष्ण शर्मा

डॉ. वेणी गुप्ता — डॉ. के.एस. राजोरा

इतिहास मार्तण्ड डॉ. मथुरालाल शर्मा

जन्मशती आयोजन समिति

श्री ललितकिशोर चतुर्वेदी
संरक्षक

श्री लक्ष्मीचन्द गुप्त
अध्यक्ष

पं. परमानन्द शर्मा
संयोजक

परामर्श मण्डल

श्री रामनिवास मिर्धा	श्री भुवनेश चतुर्वेदी
श्री रघुवीरसिंह कौशल	न्यायमूर्ति श्री बी. पी. बेरी
न्यायमूर्ति श्री विनोदशंकर दवे	श्री शिवमंगलसिंह सुमन
श्री मंगल बिहारी	श्री विद्यारत्न भटनागर
डॉ. के. एस. राजोरा	श्री त्रिभुवन नाथ चतुर्वेदी
श्री कलानाथ शास्त्री	डॉ. रामसहाय सक्सेना
डॉ. जी. पी. पिलानिया	डॉ. फतेह सिंह
श्री अश्विनीमोहन शर्मा	श्री आनन्दमोहन शर्मा
श्री प्रभातमोहन शर्मा	श्री रामस्वरूप जोशी

स्मरण एवं समर्पण

हे महाप्राण स्वर्गस्थ पितृव्य! आपके दीर्घस्थ जीवन के महावटवृक्ष की छाया तले हम निर्द्वन्द्व आनन्दपूर्वक जीवनयापन करते रहे। अपने विशाल वितान पर आप सब आपदायें झेलते रहे और हम आश्रितों को संरक्षण देते रहे। आपका स्नेहिल संरक्षण सब अभावग्रस्तों, निर्धन शिक्षार्थियों, आर्त्त व्यक्तियों को प्राप्त था। उस विशाल छाया के लुप्त हो जाने से, आपके ज्वलन्त एवं देवतुल्य जीवन का स्मरण ही अब हमारा बल व सम्बल है।

हे कीर्तिपुरुष! आप मातृभूमि के इस शताब्दी के श्रेष्ठतम सपूत थे, आपने जननी जन्मभूमि को गौरवान्वित किया एवं परिवार में ऐसी ज्योति प्रज्वलित की जो सदा अक्षुण्ण रहेगी एवं आपके दिव्य जीवन का स्मरण कराती रहेगी तथा हमारे जीवन को आलोकित करती रहेगी।

निभ्रान्त आत्मा! परमपिता आपको चिर शान्ति प्रदान करे। आप जैसे विराट व्यक्तित्व की विशेषताओं और विलक्षणताओं को इस ग्रंथ में स्थापित कर पाना सहज कार्य नहीं था, तथापि आपकें प्रकाण्ड वैदुष्य एवं आदर्श व्यक्तित्व से प्रेरित होकर आपके आत्मीयों, विद्वान् एवं शिष्यों ने कुछ श्रद्धा सुमन जुटाये हैं। वे ही इस ग्रन्थ के रूप में आपके चरणों में समर्पित हैं।

त्वदीयं वस्तु गोविन्द, तुम्यमेव समर्पमेः।

चरणसेवक

पं. परमानन्द शर्मा

स्वकथ्य

इतिहास पुरुष डॉ. मथुरालाल जी शर्मा के स्मृति ग्रन्थ को तैयार करने का जब पूज्य दादा भाई पं. परमानन्दजी शर्मा का आदेश मिला तो, जहाँ मुझे अपनी सीमाओं का बोध होने के कारण मन में संकोच हुआ, मैंने इसे एक पुनीत कर्म समझ कर शिरोधार्य कर लिया तथापि स्मृति ग्रन्थ की रूपरेखा बनाने, उसमें अधिक से अधिक उपयोगी सामग्री का समावेश करने के बारे में पूज्य दादा भाईजी का मार्गदर्शन मुझे निरन्तर प्राप्त होता रहा है। यह ग्रन्थ उसी की सुखद परिणति है।

ग्रन्थ के पहले भाग में डॉ. साहब के बहुआयामी व्यक्तित्व पर विभिन्न आलेख समाविष्ट हैं। इन लेखों में डॉ. साहब के शिष्यों, मित्रों, सहयोगियों, प्रशंसकों और परिजनों ने उनके व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला गया। इसके साथ ही डॉ. साहब के देहावसान पर समाचार पत्रों में प्रकाशित विचार और समाचार सम्मिलित करने के साथ-साथ उन सभी विशिष्ट महानुभावों के उद्‌गार भी समाविष्ट हैं, जो डॉ. साहब के प्रति अपनत्व और आदर का भाव रखते रहे हैं।

कृतित्व खंड में डॉ. साहब के वे शोधपरक लेख प्रस्तुत किए गये हैं, जो उन्होंने अनेक अवसरों पर लिखे और प्रकाशित किए। इनमें से एक डॉ. साहब का राजस्थान इतिहास काँग्रेस में दिया गया अध्यक्षीय भाषण भी है। यह सामग्री इतिहास, दर्शन, संस्कृति, कला और साहित्य सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर प्रकाश डालती है। आधुनिक जयपुर के निर्माता महाराजा रामसिंह द्वितीय पर भी एक विशिष्ट लेख डॉ. साहब द्वारा लिखा गया था, यह लेख और दूसरे अनेक लेख जो उनकी समर्थ व्यञ्जना शक्ति, प्रकाण्ड पाण्डित्य और प्रांजल भाषा के परिचायक हैं, सम्मिलित किये गये हैं।

इतिहास तो डॉ. साहब का विशिष्ट कार्यक्षेत्र था अतः उन्होंने इतिहास के विभिन्न पहलुओं पर 40 से अधिक छात्रों को अनुसंधान कराकर पी.-एच.डी. की उपाधि प्रदान कराई।

मैं उन महानुभावों का भी आभारी हूँ, जिन्होंने अनेक प्रकार से इस ग्रन्थ के प्रकाशन में महत्त्वपूर्ण सहयोग और सहायता प्रदान की। डॉ. के. एस. राजौरा, डॉ. बेनी गुप्ता, डॉ. मनोहर प्रभाकर; श्रीकृष्ण शर्मा अध्यक्ष 'शब्द संसार'; अश्विनीमोहन शर्मा, आनन्दमोहन शर्मा और प्रभातमोहन शर्मा तथा मुद्रक सत्यनारायण अग्रवाल 'प्रिन्ट ओ लैण्ड' जयपुर का विशेष रूप से कृतज्ञ हूँ।

इस स्मृति ग्रन्थ की प्रस्तुति के प्रयत्न में मुझे निरन्तर डॉ. साहब के आशीर्वाद व स्मृति का सुख प्राप्त हुआ। डॉ. साहब के ज्वलन्त जीवन पर चिन्तन, उनकी प्रतिष्ठा में प्राप्त अत्यन्त आत्मीय एवं विद्वतापूर्ण लेखों के संकलन से मुझे अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव हुआ है। ग्रन्थ को विद्वज्जनों के हाथों में सौंपते हुए मुझे एवं सम्पादक मण्डल को अतीव प्रसन्नता की अनुभूति हो रही है। आशा है विद्वज्जन, आत्मीय इससे आनन्दित और लाभान्वित होंगे।

रामस्वरूप जोशी

विमला शर्मा

राष्ट्रपति भवन, नई दिल्ली
दिनांक : 13 अक्टूबर, 1995

सन्देश

डॉ. मथुरालालजी शर्मा एक जाने-माने इतिहासकार, प्राच्यविद्या विशारद तथा लोकप्रिय शिक्षाविद् थे।

राजस्थान में शिक्षा के विकास में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि ऐसे स्मरणीय व्यक्तित्व की जन्मशती मनाई जा रही है।

मैं उनकी पुण्य स्मृति को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करती हूँ।

विमला शर्मा
(विमला शर्मा)

पी. वी. नरसिम्हा राव
प्रधानमंत्री
भारत सरकार, नई दिल्ली

सन्देश

राष्ट्रीय इतिहास पुरुष एवं शिक्षा शिरोमणी डॉ. मथुरालाल शर्मा की जन्मशती समारोह डॉ. शर्मा के सुकृत्यों को उजागर करने तथा इतिहासविदों, कला, संस्कृतिप्रिय शिक्षकों को प्रेरणा देने में सफल एवं सार्थक सिद्ध होगा, ऐसी मेरी दृढ़ मान्यता है, क्योंकि उनकी जिह्वा पर सरस्वती विद्यमान थी और उनकी भाषणकला अद्‌भुत थी।

डॉ. शर्मा इतिहास के आकाश में जाज्वल्यमान नक्षत्र थे। स्मृतियों के वातायन से स्नेह सम्पदा के धनी व इतिहास के युगप्रवर्तक थे। उन्होंने युग सत्य का अनुगायन किया। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम और नवजागरण में उनके भावजगत एवं विचारजगत का अन्तर्दर्शन सन्निहित रहा है वस्तुत: वे अग्निल पुरुष थे – क्रान्तिशलाका थे। मानवता, सदाशयता और आत्मीयता के वे सुगन्धित धूम्रगंध थे। भारतीय संस्कृति के उन्नायक, गायक और शोधान्वेषी थे।

इतिहास उनका उद्रेक था, उत्साह था, उन्होंने उसे साधना आराधना के रूप में पुष्पित एवं पल्लवित किया। वे इतिहास के वाल्मीकि तो नहीं पर भवभूति के निकट होते हुए तुलसीदास के नावीन्य से सम्प्रक्त थे।

'कोटा राज्य का इतिहास' और 'जयपुर राज्य का इतिहास' उनकी अमर कृतियाँ हैं, जो इतिहासज्ञों के लिए सदा सर्वदा प्रेरणा की अजस्र स्रोत बनी रहेंगी वस्तुत: वे एक वैज्ञानिक इतिहासकार थे। मात्र राजाओं की जीवनी लेखन, यात्रा वृत्तान्त लेखक नहीं, जैसा कि उन दिनों इतिहासकार कर रहे थे। डॉ. शर्मा ने इतिहास स्रोतों को काफ़ी जाँचकर, परखकर प्रामाणिक लेखन किया है।

मैं डॉ. शर्मा की जन्मशती पर आयोजित समारोह की सफलता की कामना करता हूँ।

(पी. वी. नरसिम्हा राव)

बलिराम भगत
राज्यपाल, राजस्थान

राजभवन, जयपुर
दिनांक : 16 अक्टूबर, 1995

सन्देश

मैं आशा करता हूँ कि प्रमुख इतिहासविज्ञ एवं शिक्षाविद् डॉ. मथुरालाल शर्मा की स्मृति में जन्मशती समारोह का आयोजन उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व को और प्रकाशमान करेगा।

डॉ. शर्मा बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी थे। वे इतिहासकार तो थे ही परन्तु बहुत अच्छे वक्ता भी थे। जब बोलते या कहीं भाषण देते तो उनकी वाणी से शब्दों की जादूगरी लगती थी।

वह अनेक पदों पर रहे, जिनमें कोटा स्टेट के स्टेट हिस्टोरियन, महकमा ख़ास के मुख्यसचिव, हर्बर्ट कॉलेज, कोटा और महाराजा कॉलेज, जयपुर के प्रिंसिपल, राजस्थान शिक्षा विभाग के निदेशक, राजस्थान विश्वविद्यालय में इतिहास के प्रोफ़ेसर व कुलपति के पद पर रहे। वे प्रोफेसर एमरीट्स भी रहे।

मैं डॉ. शर्मा का श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हुए इस अवसर पर आयोज्य समारोह के लिये अपनी शुभकामनायें प्रेषित करता हूँ।

(बलिराम भगत)

मुख्यमंत्री

राजस्थान, जयपुर

दिनांक: 26 सितम्बर, 1995

सन्देश

मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि हाड़ौती समाज, जयपुर द्वारा डॉ. मथुरालाल शर्मा जन्म शताब्दी समारोह का आयोजन किया जा रहा है और इस अवसर पर एक वृहद् स्मृति ग्रंथ का प्रकाशन किया जा रहा है।

डॉ. मथुरालाल जी शर्मा उन सारस्वत सपूतों में से थे जिन्होंने अपने व्यक्तित्व एवं कृतित्व से हाड़ौती ही नहीं, पूरे राजस्थान का नाम प्रकाशमान किया। इतिहास एवं शिक्षा के क्षेत्र में उनकी सृजन दृष्टि श्लाघनीय रही और प्रो.फ़ेसर से राजस्थान विश्वविद्यालय के कुलपति एवं उसके बाद ''हिस्टोरीकल इंस्टीट्यूट ऑफ़ राजस्थान'' के माध्यम से उन्होंने इतिहास एवं शोध के क्षेत्र में उल्लेखनीय सेवाएँ दीं।

मुझे विश्वास है कि शताब्दी समारोह के कार्यक्रम एवं ग्रन्थ डॉ. शर्मा के संस्कृत, हिन्दी, अँग्रेजी, उर्दू, .फ़ारसी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं पर अधिकारिक वक्ता होने तथा इतिहास एवं अन्य विषयों पर सृजन को प्रकाशमान करने वाले होंगे।

मैं ऐसे विद्वान् को श्रद्धापूर्वक नमन करते हुए आयोज्य सारस्वत अनुष्ठान की सफलता के लिए अपनी शुभकामनाएँ प्रेषित करता हूँ।

(भैरोंसिंह शेखावत)

ललितकिशोर चतुर्वेदी
मंत्री, सार्वजनिक निर्माण,
उच्च शिक्षा एवं तकनीकी शिक्षा

सन्देश

हाड़ौती समाज के तत्वावधान में विख्यात इतिहासज्ञ एवं शिक्षाविद् श्रद्धेय डॉ. मथुरालालजी शर्मा का जन्मशती समारोह आयोजित किया जा रहा है। इस अवसर पर एक स्मृति ग्रन्थ भी प्रकाशित किया जा रहा है। हाड़ौती क्षेत्र के सामान्य परिवार में जन्मे और पले श्रद्धेय डॉ. मथुरालाल शर्मा राजस्थान के उन मेधावी पुरुषों में से थे जिन्हें प्रथम डी. लिट्. छात्र होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। तत्कालीन कोटा राज्य में उन्हें प्रशासनिक पद पर नियुक्त किया गया था। किन्तु मूलत: शिक्षा से जुड़े होने के कारण उन्होंने शिक्षा क्षेत्र में आना उपयुक्त समझा और प्रशासन क्षेत्र से मुक्ति पा ली। वर्तमान राजकीय महाविद्यालय एवं तत्कालीन हर्बर्ट कॉलेज, कोटा के विकास और वहाँ के छात्रों के निर्माण में उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा। उसके बाद महाराजा कॉलेज, जयपुर एवं बाद में शिक्षा निदेशक तथा कुलपति, राजस्थान विश्वविद्यालय के पदों पर कार्य करते हुए जीवन भर शिक्षा के क्षेत्र में समर्पित रहे। एक प्रसिद्ध इतिहासज्ञ होने के नाते श्रद्धेय डॉ. मथुरालालजी शर्मा का सदैव स्मरण किया जाता रहेगा। उस मनीषी की जन्मशती के अवसर पर उन्हें शत-शत नमन करने के साथ-साथ जो प्रकाशन किया जा रहा है वह वास्तव में उनकी कीर्ति के अनुरूप हो, इस विश्वास के साथ, मैं आयोजन के लिए शुभ कामना करता हूँ।

दिनांक: 4 अक्टूबर, 1995

ललितकिशोर चतुर्वेदी

पूर्व न्यायाधिपति
उच्चतम न्यायालय

इन्दौर (म.प्र.)
दिनांक: 30 सितम्बर, 1995

सन्देश

यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि हाड़ौती समाज, जयपुर महान् शिक्षाविद् एवं राजस्थान के इतिहास के मूर्धन्य विद्वान् आदरणीय डॉ. मथुरालालजी शर्मा का जन्मशती समारोह मनाने जा रहा है।

डॉ. मथुरालालजी शर्मा से मेरे सम्बन्ध सन् 1947 ई. से उनके जीवनकाल तक बने रहे। राजस्थान के इतिहास में मेरी रुचि होने के कारण, जब भी उनके सामीप्य का अवसर आया, चर्चा में घंटों बीत जाते थे। समय कब और कितना निकल गया, पता ही नहीं चलता था। उनकी आत्मीयता एवं विद्वता की जो छाप मेरे हृदयपटल पर अंकित है, वह शब्दातीत है। इसे मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ कि मुझे ऐसे महान् विद्वान् के सम्पर्क में आने का सुअवसर मिला।

आज भी जब कोटा या जयपुर जाता हूँ तो पूर्व स्मृतियाँ ताज़ी हो जाती हैं। इस अवसर पर उस महान् आत्मा को मैं अपने श्रद्धा सुमन अर्पित करता हूँ और समारोह की सफलता की कामना करता हूँ।

गोवर्धनलाल ओझा

रघुवीरसिंह कौशल,
मंत्री, ऊर्जा, वन, पर्यावरण तथा
संसदीय मामलात, राजस्थान

दिनांक : 21 अगस्त, 1995

संदेश

मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि हाड़ौती समाज, जयपुर के तत्वावधान में विख्यात इतिहासकार एवं शिक्षाविद् श्रद्धेय डॉ. मथुरालालजी शर्मा का जन्मशती समारोह आयोजित किया जा रहा है। मुझे यह जानकर विशेष प्रसन्नता हुई कि इस अवसर पर एक वृहद् स्मृति ग्रन्थ का भी प्रकाशन किया जाएगा जिसमें उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर सारगर्भित लेख होंगे। डॉ. शर्मा का व्यक्तित्व इतना बहुमुखी एवं कृतित्व इतना विशद है कि उसके एक-एक पहलू पर वृहद् ग्रन्थ का प्रकाशन किया जा सकता है परन्तु मैं चाहता हूँ कि इस ग्रन्थ में डॉ. शर्मा के जीवन के अब तक अज्ञात एवं अनछुए पहलुओं को उद्‌घाटित किया जावे तथा ऐसे प्रेरक प्रसंगों को उजागर किया जावे जो नई पीढ़ी के लिए प्रेरणादायी सिद्ध हों।

मैं इस स्मृति समारोह एवं ग्रन्थ के प्रकाशन की सफलता की कामना करता हूँ।

रघुवीरसिंह कौशल

मदन दिलावर
राज्य मंत्री
समाज कल्याण विभाग, राजस्थान

सन्देश

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि हाड़ौती समाज, जयपुर के तत्वावधान में विख्यात शिक्षाविद् डॉ. मथुरालाल जी शर्मा, पूर्व कुलपति, राजस्थान विश्वविद्यालय का जन्मशती समारोह आयोजित किया जा रहा है तथा इस उपलक्ष्य में एक स्मृति ग्रंथ का भी प्रकाशन किया जा रहा है।

आशा है कि उक्त स्मृति ग्रंथ में संग्रहीत सामग्री पाठकों को उत्कृष्ट साहित्य अध्ययन के साथ-साथ प्रेरणादायी भी साबित होगी।

मदन दिलावर

वैद्य दाऊदयाल जोशी

संसद सदस्य

कोटा

दिनांक : 11 सितम्बर, 95

संदेश

मुझे यह जानकर अत्यन्त ही खुशी हुई है कि हाड़ौती के गौरव, महान् शिक्षाविद्, विख्यात इतिहासकार डॉ. मथुरालाल शर्मा के जन्म शताब्दी समारोह पर, उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर स्मृति ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है। उनका दिव्य जीवन हाड़ौती ही नहीं वरन् राजस्थान के लाखों युवकों के लिए प्रेरणास्पद व वंदनीय है। मैं इस अवसर पर स्मृति ग्रंथ प्रकाशित करने के निर्णय का स्वागत करते हुए अपनी हार्दिक शुभकामना प्रस्तुत करता हूँ। यह ग्रंथ भविष्य में राज्य के नागरिकों का मार्गदर्शक एवं प्रेरणास्पद होगा, ऐसी शुभेच्छा है।

दाऊदयाल जोशी

सुमन श्रृंगी

महापौर

नगर निगम

कोटा

संदेश

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि हाड़ौती समाज, जयपुर के तत्वावधान में विख्यात इतिहासज्ञ, देश के कर्णधार, शिक्षाविद्, श्रद्धेय डॉ. मथुरालाल शर्मा पूर्व कुलपति, राजस्थान विश्वविद्यालय का जन्मशती समारोह जयपुर में आयोजित किया जा रहा है।

माननीय डॉ. साहब महर्षि दयानन्द सरस्वती, स्वामी श्रद्धानन्द एवं स्वातंत्र्य वीर सावरकर के अनुयायी रहे। महर्षि दयानन्द एवं आर्यसमाज से उन्हें प्रेरणा मिली, इसलिए निर्भीकता उनका स्वाभाविक गुण रहा। उन्होंने कभी अपने सिद्धान्तों के साथ समझौता नहीं किया। मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि राष्ट्रीय स्तर के विद्वान डॉ. मथुरालालजी शर्मा ने, आर्यसमाज रामपुरा, कोटा में कई वर्षों तक प्रधान पद को सुशोभित किया। उनके द्वारा स्थापित शिक्षण संस्थाएँ आज भी जीवन्त रूप में कार्यरत हैं।

हर्ष की बात है कि उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर एक स्मृति ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है। उनके स्मृति ग्रन्थ को मैं शिक्षा जगत का अभिनन्दन मानती हूँ।

इस अवसर पर मेरी हार्दिक श्रद्धांजलि और शुभकामनाएँ प्रेषित हैं।

सुमन श्रृंगी

विद्यानिधि सुधीन्द्र प्रतिमान प्रणिधान

-मन्मथकुमार मिश्रा

राजनीति के छल छन्दों से विरत, ज्ञानज्योति ध्वज धारक, सारस्वत उपासना जिनकी निश्छल निरुपम नीति प्रसारक।

योगनिष्ठ, एकान्त साधना, विभूतिमत् विज्ञान-वितान, आदि मध्य अवसान अविकृत, निर्विकल्प अतुलित मतिमान।

गुरु-गौरव गरिमा महिमा के कीर्तिमान निरहंकारी, ज्ञानार्जन हित सर्वसमर्पित व्रतधारी व्रतचारी।

जीवन के प्रत्येक चरण में, ज्ञान पिपासा है द्विजधर्म, तत्व बोध हित वह अध्येता, ज्ञानयज्ञ में पाया मर्म।

सुधी समाज की परम्परा के निर्वाहक अभियन्ता चेता, सविनय सादर अभिवन्दन है ऋषिपुंगव माया के जेता।

धर्मयुद्ध के योद्धा जैसा साहस, संयम, शक्ति निधान, मौन मुनीश्वर की मुद्रा में निरभिमान निर्जित विद्वान्।

यह जीवन संयोग नहीं है, संकल्पों का तान वितान, मानवता परिवार एक है, राजमार्ग बन्धुता प्रधान।

आर्य संस्कृति के प्रतिहारी, सौम्य सरस वह रूप विधान, देश काल की परिधि को वह पार कर गया विद्युत-यान।

सुधी समाज है विश्वसदन का ज्योति शिखर पावन जयदीप, अमृत वाणी का विलास है, मानवता का महा महीप।

संस्कृति क्या है- 'मानवता का सत्यं शिवं सुन्दरं रूप', चिन्तन, मन्थन, मनन प्रक्रिया से त्रसूत है अमृत अनूप।

महापुरुष का स्मरण प्रकीर्तन सम्प्रेरित परम्परा धारा, पूजा अभिवन्दन समान है चन्दन चर्चित है ध्रुवतारा।

समुदारता, सद्भावना, सौजन्य विनयी अग्रणी,, यह झलक है मूर्धन्य मानव की यशस्वी मुकुटमणि।

संस्कृत संस्कृति के अनन्य आराधक शुचि सौजन्य निधान, गुरुपद की सार्थकता क्षमता में उनका अपूर्व अनुदान।

धन्य धन्य सन्निष्ठा अणुव्रत धन्य समर्पित जीवन दान, एक अलौकिक अद्भुत शक्ति सर्वसमन्वित चरित्विधान।

आर्ष-प्रणाली के महर्षि मानव के वैभव का सम्मान, 'अमृतं तु विद्या' निनाद है प्रेरक स्वर गुंजित गतिमान।

महामानवों के पदरज से पावन पथ की यह पहचान, श्रद्धा के शुचि सुमन समर्पित जन्मशती जयन्तिका गान

श्रद्धा विनय सहित प्रणिधान, विद्यानिधि को सतत् प्रणाम।

मिश्रा भवन, दाधीचि नगर, सीकर

इतिहासविद् डॉ. मथुरालाल शर्मा, जयपुर महाराजा सवाई मानसिंह को अभिनन्दन पत्र भेंट करते हुए।

अनुक्रम

- श्लाघनीय पुरुष डॉ. मथुरालाल शर्मा 1
- प्रात:स्मरणीय काकाजी : पं. परमानन्द शर्मा 8
- मानवता एवं महानता के प्रतीक : डॉ. गंगाधर भट्ट 14
- त्रिकालदर्शी डॉ. मथुरालाल शर्मा : गोपालनारायण बहुरा 17
- स्वाभिमान के अप्रतिम पुंज : डॉ. त्रिभुवन नाथ चतुर्वेदी 19
- इतिहास के पुरोधा— डॉ. शर्मा : डॉ. विश्वेश्वरस्वरूप भार्गव 22
- बहु आयामी व्यक्तित्व के धनी — डॉ. शर्मा : डॉ. ब्रह्मानन्द शर्मा 25
- इतिहास पुरुष डॉ. मथुरालाल शर्मा : डॉ. के.एस. राजोरा 28
- विद्वता के शिखर पुरुष— डॉ. मथुरालाल शर्मा : डॉ. दयाकृष्ण विजयवर्गीय 'विजय' 31
- ऋषिकल्प विद्वान् डॉ. शर्मा : कलानाथ शास्त्री 34
- महाप्राण डॉ. मथुरालाल शर्मा : प्रो. भवानीलाल भारतीय 36
- प्रेरणा और प्रोत्साहन के अजस्र स्रोत : प्रो. हरिश्चन्द्र भारतीय 40
- गूदड़ी के लाल डॉ. मथुरालाल शर्मा : लीलाधर चतुर्वेदी 43
- यादें जो शेष रह गई : डॉ. जे.के. ओझा 46
- प्रज्ञा पुरुष डॉ. मथुरालाल शर्मा : डॉ. प्रेमचंद विजयवर्गीय 50
- हाड़ौती के वरद पुत्र : रूपचन्द गुप्त 54
- डॉ. मथुरालाल शर्मा की भाषणकला : डॉ. रामचरण महेन्द्र 57
- अनूठी अभिव्यक्ति के प्रचेता : डॉ. ए.के. वर्मा 60
- संस्कृति और भाषा के पोषक डॉ. मथुरालाल शर्मा : रामस्वरूप जोशी 63
- ग़रीब परवर : प्रद्युम्न शर्मा 65
- शहर को तो बड़े लोग ही खराब करते हैं : आनन्दमोहन शर्मा 66
- डॉ. मथुरालाल शर्मा और स्वतन्त्रता संग्राम : शरतचन्द्र कौशिक 67
- डॉ. मथुरालाल शर्मा की वक्तृत्व कला : अश्विनीमोहन शर्मा 69
- पिताश्री डॉ. मथुरालाल शर्मा की दिनचर्या : प्रभातमोहन शर्मा 71
- स्वतन्त्रतापूर्व कोटा की कुछ यादें : कुन्ती शर्मा 73
- प्राणामांजलि : डॉ. सत्येन्द्र चतुर्वेदी 77
- मैं करता हूँ उनको प्रणाम : डॉ. मनोहर प्रभाकर 79

व्यक्तित्व का उन्मेष

डॉ. मथुरालाल शर्मा की मातुश्री जानकी बाई

डॉ. मथुरालाल शर्मा की चिरजीवन संगिनी श्रीमती राधादेवी

काशी में डॉ. मथुरालाल शर्मा
अपने अग्रज पं. मोतीलाल शर्मा के साथ

'दि हिस्ट्री ऑफ इण्डियन मेजिकल बिलीफ्स एण्ड
सुपरस्टीशन्स' विषय पर बनारस हिन्दु विश्वविद्यालय द्वारा
डी. लिट् की उपाधि प्राप्त करने के उपरान्त
डॉ. मथुरालाल शर्मा ।

डॉ. मथुरालाल शर्मा अपने बड़े पौत्र आशुतोष को दुलारते हुए ।

जानकी देवी बजाज कन्या महाविद्यालय कोटा में मुख्य अतिथि डॉ. मथुरालाल शर्मा पुरस्कार वितरण करते हुए । साथ में खड़ी हैं प्राचार्य डॉ. बेनी गुप्ता

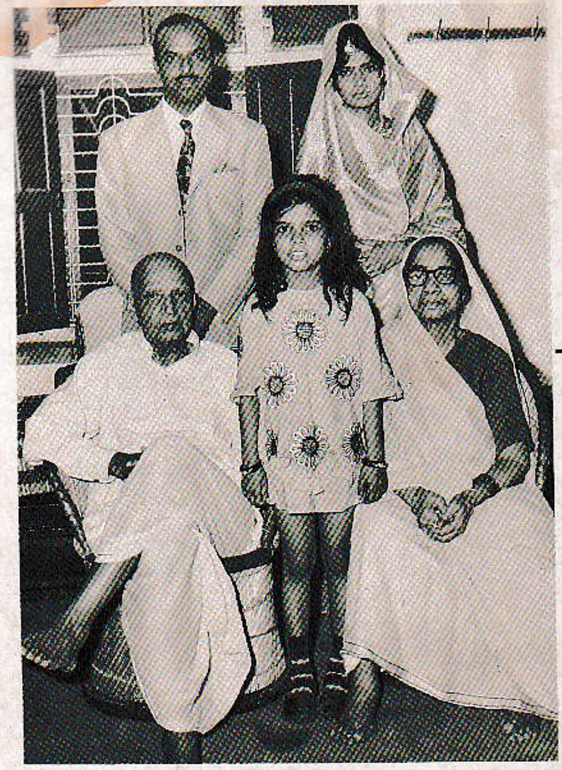

डा. शर्मा, धर्म पत्नी श्रीमती राधादेवी, पुत्र श्री प्रभात मोहन शर्मा,
पुत्रवधु श्रीमती चन्द्रकान्ता एवं पौत्री प्रीति शर्मा

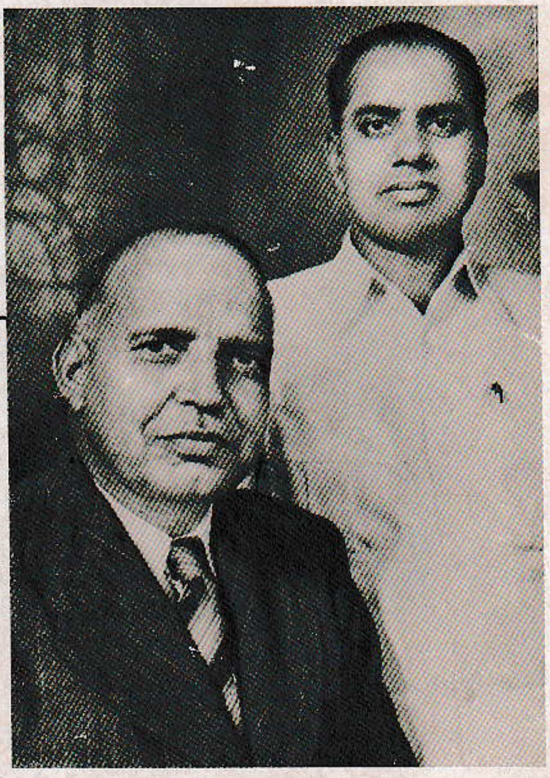

शिक्षा निदेशक राजस्थान, बीकानेर के रूप में
डॉ. शर्मा एवं परमानन्द शर्मा

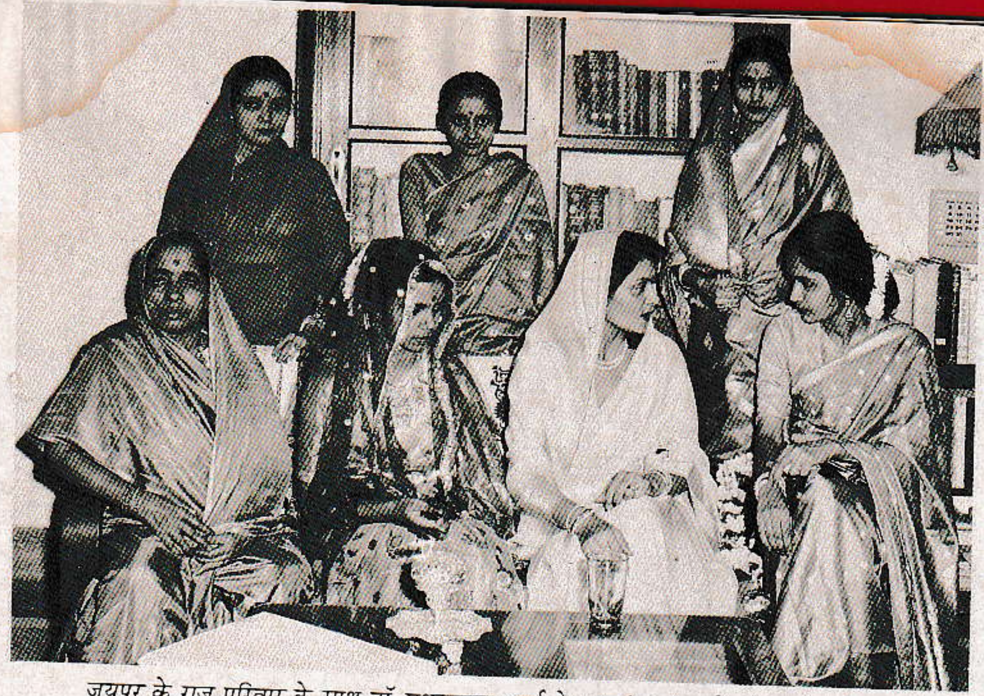

जयपुर के राज परिवार के साथ डॉ. मथुरालाल शर्मा के अन्तरंग सम्बन्धों को दर्शाता चित्र – जयपुर की महारानी सांसद गायत्री देवी, डॉ. शर्मा की पुत्री विजय लक्ष्मी के विवाहोत्सव पर आर्शीवाद देते हुए । बांये डॉ. मथुरालाल शर्मा की धर्म पत्नी श्रीमती राधा देवी ।

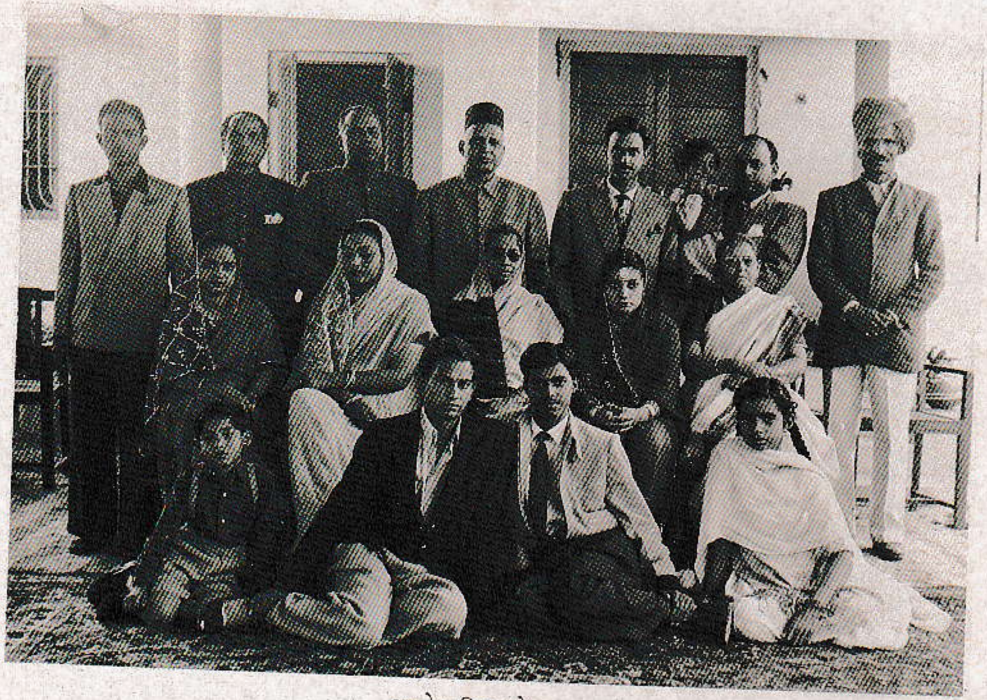

अपने परिवार के साथ

खड़े हुए बायें से आनन्द मोहन शर्मा (पुत्र) राधिका प्रसाद (दामाद) परमानन्द शर्मा, (भतीजा) डा. मथुरालाल शर्मा अश्विनी मोहन शर्मा पुत्र, डॉ. मदन मोहन शर्मा (पुत्र) गोद में प्रभा (नातिन), जगन्नाथ शर्मा (भ्राता) कुर्सी पर कुन्ती शर्मा, (पुत्री) आशा शर्मा (वधु) राधिका देवी (पत्नी) विद्या शर्मा (पुत्र वधु) रामप्यारी शर्मा (बहन) नीचे फर्श पर राजेन्द्र (पौत्र), भूपेन्द्र कुमार (भतीजा) प्रभात मोहन शर्मा (पुत्र) विजय लक्ष्मी (पुत्री)

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्ययनरत हाडौती के आत्मीय छात्र जनों में - डॉ. शर्मा ।

बनारस विश्वविद्यालय

प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति कक्षा

के बी. उपाध्याय, मथुरालाल शर्मा, प्राचार्य ए. बी. ध्रुव, कोनिन बाजार के महाराज, प्रोफेसर ए. एस. अल्तेकर

श्लाघनीय पुरुष डॉ. मथुरालाल शर्मा

पारिवारिक परिदृश्य :

राजस्थान आर्यावर्त का एक प्रदेश है। जिस प्रकार शरीर में हृदय जैसी कोमल वस्तु की सुरक्षा के लिए कठोर वक्षस्थल होता है ठीक वैसे ही देश के मध्य में है राजस्थान। यह भारत का हृदय है, वीरता का भण्डार है और शक्ति का पुंज है। राजस्थान में 31 ज़िले हैं जो मिलकर इस प्रदेश की संरचना करते हैं। कोटा, बूँदी व झालावाड़ जिले मिलकर हाड़ौती का निर्माण करते हैं। हाड़ौती प्रदेश राजस्थान का एक रत्न है। इस रत्न की चमक राजस्थान ही के लिए नहीं अपितु सम्पूर्ण भारत के लिए गर्व करने का विषय है। उसी हाड़ौती अंचल की बारां तहसील के समसपुर गाँव में एक सम्भ्रांत ब्राह्मण परिवार रहा करता था। पं. कन्हैयालाल शर्मा (जोशी) के सान्निध्य में यह परिवार समसपुर गाँव में अपनी विद्वता की विशिष्ट छाप स्थापित कर चुका है। पं. कन्हैयालाल शर्मा धर्मनिष्ठ एवं सतोगुणी व्यक्ति थे। कृषि क्षेत्र में राज्य प्रशासन को सहयोग देते थे। वे संस्कृत भाषा के अच्छे ज्ञाता थे तथा भागवत् पुराण का उन्हें अच्छा ज्ञान था। वे इन दोनों धार्मिक पुस्तकों पर अधिकार के साथ प्रवचन करते थे। ज्योतिष का सम्पूर्ण परिवार को अच्छा ज्ञान था।

पं. कन्हैयालाल शर्मा के दो पुत्र थे। पं. मोतीलाल शर्मा बड़े पुत्र थे, वे भी बड़े चतुर एवं विद्वान थे। यद्यपि ग्रामीण परिवेश में ही अधिकांश जीवन व्यतीत होने के कारण उनकी पढ़ाई-लिखाई नहीं हो पाई लेकिन उन्हें व्यावहारिक ज्ञान परिवार में ही इतना प्राप्त हो गया था कि गाँव के लोगों में उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी परन्तु दुर्देव ने मोतीलालजी को युवावस्था ने छीन लिया। यद्यपि वे बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे जिन्होंने कालान्तर में वरदगिरा के पुनीत मंदिर में जो साहित्य सुमन अर्पित किए उनकी पावन सुरभि भारतीय संस्कृति, सन्दर्भ और उदात्त मानवीय गुणों की उन्नायक कालातीत महत्व की उपलब्धि कही जा सकती है।

सन् 1896 में आषाढ़ कृष्णा 3, सम्वत् 1952 को पं. कन्हैयालाल शर्मा के परिवार रूपी उपवन में डॉ. मथुरालाल शर्मा के रूप में एक पुष्प खिला जिसने अपनी सुवास से सम्पूर्ण परिवार, समाज एवं राष्ट्र को सुवासित किया। उनका व्यक्तित्व अनूठा था। प्रारम्भिक जीवन ग्रामीण परिवेश में व्यतीत करते हुए भी उन्होंने अपनी प्रतिभा को दीमक नहीं लगने दी तथा अपने व्यक्तित्व के विकास हेतु सदैव प्रयासरत रहे।

डॉ. साहब जब बहुत छोटे ही थे तभी एक प्रहार नियति के निर्मम हाथों इन्हें झेलना पड़ा। उनके पूज्य पिताजी का स्वर्गवास हो गया।

डॉ. शर्मा की माता श्रीमती जानकी बाई बड़ी विदुषी, बुद्धिमति तथा उदार विचारों की महिला थीं। पं. परमानन्द शर्मा, डॉ. शर्मा के भतीजे हैं जो उम्र भर डॉ. शर्मा के पुत्रवत् होने के कारण प्रायः उनके साथ ही रहे। भारतीय प्रशासनिक सेवा में उच्च अधिकारी के पद से सेवा निवृत्त हुए हैं।

इस तरह डॉ. शर्मा के परिवार पर सदैव से ही सरस्वती का वरद्हस्त रहा है। डॉ. शर्मा का विवाह अजमेर निवासी डॉ. ईश्वरी प्रसाद की सुपुत्री श्रीमती

राधाबाई के साथ जब ये मैट्रिक के विद्यार्थी थे, तभी अल्पायु में सम्पन्न हुआ। डॉ. शर्मा के घर चार पुत्र एवं तीन पुत्रियों ने जन्म लिया। सबसे बड़े पुत्र डॉ. मदनमोहन शर्मा, सेवा निवृत्त सर्जन एवं क्रान्तिकारी पुत्री उमा शर्मा का तो देहावसान भी हो चुका है। इसके अतिरिक्त अश्विनीमोहन शर्मा, आनन्दमोहन शर्मा दोनों ही अभियन्ता हैं, प्रभातमोहन शर्मा कृषि विभाग में कार्यरत हैं एवं दो पुत्रियाँ श्रीमती कुन्ती शर्मा और श्रीमती विजयलक्ष्मी शर्मा हैं।

शिक्षा के कीर्ति स्तम्भ :

शिक्षा ज्ञान का ज्योति पुंज होता है, वह पुंज जिसकी प्रकाश रश्मियाँ मानव हृदय के कोने कोने को जगमगाती हैं, दूधिया चाँदनी से नहलाती हैं तथा अज्ञान की कालिमा का निवारण करती हैं। शिक्षा प्रकाश का वह स्रोत है जो जीवन के हर क्षेत्र में हमारा सच्चा पथप्रदर्शन करता है तथा परलोक में मोक्ष। शिक्षा कल्पलता के समान हमारे समस्त मनोरथों को सिद्ध करती है। शिक्षा के इस महत्व को डॉ. शर्मा ने समझा। बचपन से ही सीखने की प्रवृत्ति उनके व्यक्तित्व में पराकाष्ठा पर थी जहां भी कुछ ज्ञान प्राप्त होता था, उन्होंने उसे प्राप्त किया। यद्यपि गाँव में रहने के कारण बचपन में उनकी औपचारिक शिक्षा का समुचित प्रबन्ध नहीं हो पाया, लेकिन घर पर ही विद्वान लोगों का सानिध्य उनके जीवन निर्माण की प्रथम सीढ़ी साबित हुआ। अपने विद्वान परिजनों के सम्पर्क से डॉ. शर्मा ने संस्कृत एवं हिन्दी का उच्च ज्ञान प्राप्त किया। पूत के लक्षण पालने में ही दृष्टिगत होने लग जाते हैं। ऐसा ही डॉ. मथुरालाल शर्मा के साथ था। सम्पर्क में आने वाले सभी परिवारजनों एवं अन्य लोगों को डॉ. शर्मा में विलक्षण प्रतिभा दृष्टिगत होने लगी अत: उनके मेधावी व्यक्तित्व को देखकर ग्रामवासियों एवं सहयोगियों ने उन्हें अँग्रेज़ी ज्ञान प्राप्त करने हेतु प्रोत्साहित किया, जो उस समय की अपरिहार्य आवश्यकता थी लेकिन उस युग में ग्रामीण परिवेश में ऐसी शिक्षा की कल्पना असम्भव थी। सौभाग्य से उसी समय बारां में एक एंग्लोइण्डियन सेवा निवृत्त सैनिक अधिकारी का परिवार रहा करता था। डॉ. शर्मा इस परिवार के सम्पर्क में आए और उनके बच्चों के साथ खेलते हुए अँग्रेज़ी का अनौपचारिक ज्ञान प्राप्त किया लेकिन यह अनौपचारिक ज्ञान उस समय की मैट्रिक कक्षा के स्तर तक डॉ. शर्मा ने अर्जित कर लिया था। इसके पीछे उनकी शिक्षा के प्रति रुचि स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। व्यवस्थित रूप से उनकी शिक्षा कोटा में प्रारम्भ हुई। प्रारम्भिक जाँच के उपरान्त उन्हें कक्षा छ: में भर्ती किया गया। अपनी विलक्षण प्रतिभा की छाप जहाँ भी वे रहे, उन्होंने छोड़ी। उन्होंने सदैव उच्च अंकों के साथ अपनी परीक्षाएं उत्तीर्ण कीं। उन्होंने हाई स्कूल की परीक्षा सन् 1914 में, इन्टरमीजिएट की परीक्षा 1916 में तथा बी. ए. की परीक्षा 1919 में प्रयाग विश्वविद्यालय से उत्तीर्ण की। तदुपरान्त प्राचीन भारत का इतिहास और संस्कृति में एम. ए. करने के बाद सन् 1931 ई. में काशी विश्वविद्यालय से डी. लिट् की उपाधि प्राप्त की।

पढ़ाई के साथ-साथ वे अध्यापन कार्य में भी व्यस्त रहे। अध्यापन के पीछे यह बात नहीं थी कि वे आर्थिक दृष्टि से कमज़ोर थे अपितु अध्यापन सदैव से ही उनके व्यक्तित्व का अभिन्न अंग था। वे प्रतिष्ठित घरों में अध्यापन का कार्य करते थे जिनमें मुख्य थे एक फ़ारसी परिवार तथा आपजी साहब का घराना। आपजी साहब डॉ. शर्मा के व्यक्तित्व एवं विद्वता से इतने अधिक प्रभावित थे कि उन्होंने डॉ. शर्मा को अपने यहीं रहने दिया। शिक्षा में आमूलचूल परिवर्तन उनके अध्ययनकाल में हुए तथा शिक्षा के विस्तार पर बल दिया गया। इसी क्रम में काशी विश्वविद्यालय की स्थापना हुई।

हिन्दुस्तान के सभी बड़े राजघरानों के लोगों ने, जो शिक्षा के महत्व को समझते थे, अपने बच्चों को काशी विश्वविद्यालय में दाखिला दिलवाया। इसी क्रम में आपजी साहब ने भी अपने बच्चों को काशी विश्वविद्यालय में अध्ययन हेतु भेजा। आपजी को सरस्वती के वरद् पुत्र डॉ. शर्मा से अच्छा संरक्षक कहाँ प्राप्त हो सकता था? इस बात को वे भी अच्छी तरह समझते थे अत: उन्होंने डॉ. शर्मा को अपने बच्चों का संरक्षक बनाकर बनारस भेजा। बनारस में डॉ. शर्मा ने अपना उत्तरदायित्व तो बखूबी निभाया ही साथ ही अपना अध्ययन भी जारी रखा तथा वहीं से डॉ. शर्मा डॉक्टर ऑफ़ लिटरेचर की उपाधि प्राप्त कर लौटे। इस तरह अपनी सम्पूर्ण शिक्षा प्राप्त कर वे एक निखरा हुआ व्यक्तित्व लेकर बनारस से कोटा लौटे और प्रशासक, अध्यापक और शोध निर्देशक के रूप में जो ख्याति अर्जित की उसे शब्दों में निरूपित करना असम्भव नहीं तो भी कठिन अवश्य है।

प्रशासनिक कौशल :

डॉक्टर ऑफ़ लिटरेचर की उपाधि प्राप्त कर वापस डॉ. शर्मा कोटा लौट आए। सन् 1932 ई. में उन्हें हर्बर्ट कॉलेज में व्याख्याता के रूप में नियुक्त किया गया। सन् 1932 से 1936 तक वे इतिहास के व्याख्याता के रूप में अनवरत रूप से कार्य करते हुए अध्यापन से जुड़े रहे, लेकिन इसी समय कोटा दरबार ने महसूस किया कि डॉ. शर्मा प्रशासनिक कार्यों में भी निपुणता के साथ कार्य कर सकते हैं, क्योंकि उनकी प्रशासनिक दक्षता भी किसी से छिपी हुई नहीं थी अत: विभिन्न छोटे बड़े प्रशासनिक पदों के कार्य का अनुभव करने हेतु उन्हें छोटे-बड़े पदों पर नियुक्त किया गया और अन्त में उनके सुदृढ़ कंधों पर महकमा खास के सेक्रेट्री के पद की जिम्मेदारी सौंपी गई। डॉ. शर्मा ने अपने पद के अनुरूप बड़ी दक्षता से सेक्रेट्री के रूप में कार्य करते हुए अपने बहुआयामी व्यक्तित्व का परिचय दिया। कोटा राज्य की प्रशासनिक व्यवस्थाओं में डॉ. शर्मा के विचार बड़े गौ़र से दरबार व महाराजा द्वारा सुने जाते थे तथा उन पर अमल किया जाता था। सेक्रेट्री के रूप में उन्होंने कार्य की वजह से कोटा के विकास का भी एक क्रम बना और उन्होंने अपनी योग्यता से उपलब्धियों के नए आयाम स्थापित किए। सन् 1936 से 1941 तक डॉ. शर्मा महकमा खास के सेक्रेट्री के रूप में लगभग 6 वर्ष तक कार्य करते रहे। *इस समय कोटा की राजनीति में तेज़ी से* परिवर्तन हुआ और शिक्षाविद् डॉ. शर्मा को पुन: अपने विभाग में उपाचार्य बनाकर हर्बर्ट कॉलेज, कोटा भेज दिया गया। उपाचार्य के रूप में डॉ. शर्मा ने वर्ष 1941 से 1944 तक कार्य कर ख्याति अर्जित की। उनकी दक्षता, योग्यता और विद्वता की त्रिवेणी ने उनकी योग्यता का मार्ग प्रशस्त किया और सन् 1944 में डॉ. शर्मा को हर्बर्ट कॉलेज, कोटा का प्राचार्य नियुक्त कर दिया गया। उस समय यह डिग्री कॉलेज था। अपने प्राचार्यकाल में हर्बर्ट कॉलेज की चहुँमुखी प्रगति हेतु डॉ. शर्मा ने तन-मन से कार्य किया तथा स्नातक स्तर से स्नातकोत्तर स्तर पर हर्बर्ट कॉलेज को पहुँचाया। यहाँ वे प्राचार्य के रूप में 1949 ई. तक रहे। लेकिन चारित्रिक दृढ़ता और स्वाभिमानी व्यक्तित्व के धनी डॉ. शर्मा की तत्कालीन शिक्षामंत्री प्रेमनारायण माथुर से वैचारिक द्वन्द्वता रही। परिणामस्वरूप उनका स्थानान्तरण सन् 1949 में महाराजा कॉलेज, जयपुर के प्राचार्य पद पर कर दिया गया और वहां उन्होंने 1951 ई. तक कार्य किया। इस तरह उनके स्थानान्तरण से जो कोटा को हानि हुई उसका लाभ जयपुर को मिला और राजधानी में रहने के कारण उनकी विद्वता का लाभ राजस्थान के अधिकांश अंचलों को प्राप्त हुआ।

प्रगति की सीढ़ियां वे चढ़ते गए और अपनी

योग्यता से विकास के लौह कपाट खोलते हुए सन् 1951 में वे शिक्षा विभाग के निदेशक बने। वे इस पद पर सन् 1953 तक रहे। यह उनके जीवनकाल का स्वर्णिम समय था, जिसमें उन्होंने शिक्षा में आमूलचूल परिवर्तन किए तथा भारतीय मूलभाषा संस्कृत को अनिवार्य विषय के रूप में पाठ्यक्रम का एक हिस्सा बनाया और शिक्षा को एक नवीन रूप प्रदान करने का प्रयास किया। शिक्षा जगत के इस तरह सर्वोच्च पद से वे सेवानिवृत्त हुए। शिक्षा के प्रति उनका अटूट लगाव था, इसीलिए वे राजस्थान विश्वविद्यालय में सन् 1953 से 1961 तक प्रोफ़ेसर के रूप में कार्य करते रहे और इतिहास विषय से जुड़े रहे। उनकी अवर्चनीय उपलब्धियों को दृष्टिगत रखते हुए ही उन्हें सन् 1953 में राजस्थान विश्वविद्यालय का कार्यवाहक वाइस चांसलर बनाया गया। यही नहीं डॉ. शर्मा की शिक्षा से सम्बद्ध रुचिकर सभी गतिविधियाँ जारी रहीं। वे आरकाइव्ज़ के संस्थापक निदेशक बने। सन् 1953 से 1957 तक वे इस पद पर कार्य करते रहे। आप सन् 1936 से 1954 तक आर्क्योलोजी कोटा के सुपरिन्टेण्डेंन्ट के पद पर भी रहे। आपकी योग्यता को देखते हुए आपको सिनेट, सिण्डीकेट और ऐकेडेमिक कॉउंसिल का मेम्बर भी नियुक्त किया गया और सन् 1949 से 1961 तक आप इन संस्थाओं से सम्बद्ध रहे। सन् 1953 में डॉ. शर्मा को इण्डिया अकादमी का मेम्बर नियुक्त किया और सन् 1955 तक उन्होंने इस अकादमी में कार्य किया। वे दी राजस्थान इन्स्टीट्यूट ऑफ़ हिस्टोरिकल रिसर्च के अवैतनिक निदेशक भी रहे। यही नहीं डॉ. शर्मा सन् 1953 से 1956 तक इण्डियन हिस्टोरिकल रेकार्ड्स कमीशन तथा रिसर्च कमेटी इण्डियन हिस्टोरिकल कॉंग्रेस के मेम्बर रहे तथा आप राजस्थान हिस्ट्री कॉंग्रेस के प्रथम अध्यक्ष तथा राजस्थान संस्कृत सम्मेलन के अध्यक्ष रहे। राजस्थान ब्राह्मण महासभा की स्थापना में भी आपका पूर्ण सहयोग रहा। आर्यसमाज तथा भारतेन्दु समिति से भी आप सम्बद्ध रहे। वे राजस्थान विश्वविद्यालय प्राध्यापक एसोशिएशन के भी प्रथम अध्यक्ष रहे। आप इण्डियन हिस्ट्री कॉंग्रेस सेशन के भी अध्यक्ष रहे। इस तरह डॉ. मथुरालाल शर्मा राजस्थान के उन इतिहास मनीषियों में से थे, जिनका महत्वपूर्ण योगदान सदैव स्मरणीय रहेगा। आज यही कारण है कि इतिहास का हर प्रबुद्ध विद्यार्थी आपका कृतज्ञ है।

पारदर्शी व्यक्तित्व :

इतिहास में डॉ. मथुरालाल शर्मा का व्यक्तित्व अत्यन्त प्रेरणास्पद, प्रतिभाशाली, आकर्षक तथा गरिमामय है। निसर्ग ओजस्विता से परिपूर्ण मुख-मण्डल, आंतरिक आध्यात्मिक ज्ञान से पूर्ण एवं विशाल हृदय, उन्नत ललाट एवं विशाल नेत्रों के समान ही विशाल दृष्टिकोण डॉ. शर्मा के व्यक्तित्व के आकर्षण थे।

सादा जीवन और उच्च विचार डॉ. शर्मा के जीवन का आदर्श था। बचपन से ही डॉ. शर्मा ने सादा वेशभूषा पहनी। ब्राह्मण परिवार में जन्म लेने के कारण प्रारम्भ में वे धोती कुर्ता पहना करते थे। बाद में जवाहर जाकिट, धोती, कुर्ता तथा काली व कभी-कभी भूरी टोपी उनके पहनावे का मुख्य अंग बन गई थी। स्वदेशी आन्दोलन के दौरान उन्होंने भी खद्दर और स्वदेशी कपड़े पहनने पर बल दिया, ऐसा नहीं था कि सदैव ही उनकी पोशाक एक जैसी रही हो। वे एक उच्च अधिकारी बने, पेंट कोट व टाई भी लगाने लगे किन्तु पोशाक चाहे कोई सी भी पहनी हो, सिर पर टोपी अवश्य लगाते थे।

वे लम्बे, चौड़े एवं स्वस्थ स्वास्थ्य के धनी थे। जीवन में वे सदैव स्वस्थ रहे। हाँ, पक्षाघात जैसी घातक बीमारी के चंगुल से वे बच नहीं पाए और दो दौरे उन्हें पड़े, लेकिन फिर भी उन्होंने आत्मविश्वास

से इन पर विजय प्राप्त की।

उनके स्वस्थ शरीर के बारे में वे बताया करते थे कि संतुलित भोजन लेना तथा प्रतिदिन घूमना उनके जीवन के अभिन्न अंग बन गए थे।

डॉ. शर्मा की जीवनपर्यन्त स्मरणशक्ति क़ाफी अच्छी रही। वे स्वयं इस बारे में कहा करते थे कि स्मरण शक्ति को बनाये रखने हेतु उनके पिताजी ने उनसे ब्रह्मीपरायण संस्कार करवाया था।

डॉ. शर्मा अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे। अँग्रेज़ी, हिन्दी, अरबी, फ़ारसी, संस्कृत, उर्दू के अतिरिक्त वे अनेक प्रादेशिक भाषाओं नेपाली, मराठी, गुजराती, गुरुमुखी, डिंगल, बंगला, ब्रज, अवधि, मगधी, ढूंढारी, हाड़ौती, मेवाड़ी व मारवाड़ी आदि भाषाओं पर समान अधिकार रखते थे। ब्रह्मी लिपि में लिखे गए शिलालेख वे आसानी से पढ़ लेते थे। उनके व्यक्तित्व का सबसे बड़ा गुण यह था कि वे विरोधियों के गुणों की भी दिल खोलकर प्रशंसा किया करते थे तथा अपने निकटस्थ लोगों के दोषों को बताने से भी वे तनिक भी नहीं हिचकते थे।

डॉ. शर्मा का व्यक्तित्व स्फटिक मणि के समान जितना निर्मल था उतने ही उनके विचार हर क्षेत्र में सुलझे हुए थे तथा सभी को वे सही दिशा-निर्देश देते थे।

सद्भाव के प्रोन्नायक :

सामाजिक व धार्मिक क्षेत्र में वे सुधारवादी विचारधारा के प्रबल समर्थक थे यद्यपि वे ग्रामीण परिवेश में पले थे लेकिन फिर भी समाज में व्याप्त कर्मकाण्ड व आडम्बरों के घोर विरोधी थे तथा लोकदेवताओं में उनका तनिक भी विश्वास नहीं था। उनके जीवन पर आर्य समाजी विचारधारा का विशेष प्रभाव था। स्वामी दयानन्द सरस्वती के विचार उनके हृदय में क़ाफ़ी गहराई तक समाए हुए थे। वे आर्यसमाज से प्रेरणा लेकर धर्म, संस्कृति तथा समाज के क्षेत्र में युगान्तरकारी कार्य करने के लिए उत्सुक थे। यही कारण था कि उन्होंने राजस्थान में आर्य समाज के सर्वोच्च संगठन आर्य प्रतिनिधि सभा के नेतृत्व को उस समय अपने सशक्त कंधों पर लिया जिस समय सभा विभिन्न कठिनाइयों तथा आर्थिक बाधाओं से ग्रस्त थी। सन् 1953 के दिसम्बर मास में कोटा जंक्शन आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर सम्पन्न सभा के अधिवेशन में डॉ. शर्मा राजस्थान प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभा के अध्यक्ष निर्वाचित हुए तब से लेकर सन् 1968 तक अल्प व्यवधान के अतिरिक्त आप निरन्तर प्रान्त के आर्यों को अपना स्फूर्त एवं गतिशील नेतृत्व प्रदान करते रहे। आपके अध्यक्ष काल में सभा की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हुई, उपदेशकों की संख्या में वृद्धि हुई। पंजाब हिन्दी रक्षा आन्दोलन, गोरक्षा आन्दोलन आदि में प्रान्त के आर्यों ने आपके नेतृत्व में भाग लिया। डॉ. शर्मा ने अपनी अपूर्व विद्वता, वाग्मिता तथा नेतृत्व कुशलता के कारण प्रान्त में ही नहीं अपितु सार्वदेशिक स्तर पर भी सामाजिक जगत को प्रभावित किया।

डॉ. शर्मा की पत्नी भी आर्यसमाजी विचारधारा की प्रबल समर्थक थीं। इसका एक बहुत बड़ा कारण यह था कि उनके पिता डॉ. ईश्वरीलाल स्वयं भी आर्यसमाजी थे। इस तरह डॉ. शर्मा को अपनी विचारधाराओं को कार्य रूप में परिणत करने में घर से भी काफ़ी प्रेरणा मिली।

धार्मिक औदार्य :

आर्यसमाजी होने के साथ डॉ. शर्मा को वेद, वेदान्त, गीता रामायण, अष्टांग योग, महाभारत का भी सुज्ञान था। डॉ. कृष्णस्वरूप राजोरा ने जो कि डॉ. शर्मा के अत्यधिक निकटस्थ रहे हैं डॉ. शर्मा के साथ अलवर से की गई एक यात्रा का वर्णन करते

हुए सुनाया कि डॉ. शर्मा ने डॉ. राजोरा को गीता थमा दी और बिना किसी विराम के पूरी गीता उन्होंने सुना दी। इस तरह डॉ. शर्मा को न केवल आर्यसमाज से सम्बन्धित ग्रंथों का, अपितु और सभी ग्रंथों का भी वृहद् ज्ञान था। वे प्रतिदिन सायंकाल रामायण का एक दो घण्टे वाचन किया करते थे। उन्होंने कालिदास, माघ, भास व दण्डि के साहित्य को भी विशद् रूप से पढ़ रखा था और उन पर साधिकार प्रवचन करते थे।

राजनीतिक परिपक्वता :

राजनीतिक विचारों पर जब हम दृष्टि दौड़ाते हैं, तो डॉ. शर्मा में दो विरोधी विचारधाराओं के दर्शन होते हैं। कोटा राज्य के सेक्रेट्री के रूप में जब उनके विचारों पर दृष्टि डालते हैं तो पाते हैं कि वे सामन्तवादी विचारधारा के प्रबल समर्थक थे। महाराव साहब के यहाँ हर वर्ष जीवनपर्यन्त सालगिरह पर वे नज़र करने जाते थे, लेकिन फिर भी उन्होंने अपने स्वाभिमान को कभी ठेस नहीं पहुँचने दी और कठोर राजतंत्र का शिकंजा उन पर प्रभाव नहीं जमा सका।

जहाँ सारे देश की राजनीति का प्रश्न था तो डॉ. शर्मा की देशभक्ति की भावनाएँ मुखरित होती हैं। डॉ. शर्मा उच्चकोटि के देशभक्त थे। सदैव घर पर खादी का कुर्ता और धोती पहनने वाले डॉ. शर्मा देश की स्वतंत्रता के प्रबल समर्थक थे। यद्यपि वे महकमा खास के सेक्रेट्री थे, लेकिन आंदोलनकारियों से उनके घनिष्ट सम्बन्ध थे। सभी स्वतंत्रता सेनानी उनके सम्पर्क में थे और उनके यहाँ आश्रय पाते थे। कोटा से भागे हुए क्रान्तिकारी उनके अजमेर स्थित ससुराल में प्रश्रय पाते थे और वहाँ से आने वाले डॉ. शर्मा के घर। अखिल भारतीय क्रान्तिकारी दल के सदस्यों में गैंदालाल तथा राजस्थान क्रान्तिकारी दल के सदस्यों में केसरी सिंह जी बारहठ, दुर्गादान कविराज साहब, शिव प्रसाद, बिहारी लाल तथा राजस्थान प्रजामण्डल के सदस्यों में पं. नानूराम शर्मा, अभिन्न हरि, तनसुखलाल मित्तल, हरिभाई किंकर से उनके व्यक्तिगत सम्बन्ध थे। यही नहीं उन्होंने हर प्रकार से इन क्रान्तिकारियों का समर्थन किया तथा भरपूर सहयोग दिया। जिस समय स्वतंत्रता के इन समर्थकों की गतिविधियाँ तेज हो रही थीं उसी समय हरिसिंह गोसालिया को कोटा स्टेट का प्राइम मिनिस्टर बना कर भेजा गया। इसी समय केसरीसिंहजी बारहठ को आंदोलनकारियों हेतु पैसे की आवश्यकता हुई और एक धनाढ्य साधु की हत्या उसके द्वारा की गई। परिणामस्वरूप सजा काटने हेतु उन्हें हज़ारीबाग जेल जाना पड़ा। तभी से डॉ. शर्मा को भी संदेह की दृष्टि से देखा जाने लगा। उनका देश प्रेम भी छुपा नहीं रह सका और उनके क्रान्तिकारी व्यक्तित्व को दबाने हेतु उन्हें पुनः शिक्षा विभाग में भेज दिया गया।

प्रारम्भ में डॉ. शर्मा काँग्रेस व प्रजामण्डल की विचारधाराओं से काफ़ी प्रभावित थे और इसी के साथ जुड़े रहे, लेकिन सन् 1947 में भारत के स्वतंत्र होने के बाद वे स्वतंत्र पार्टी में शामिल हो गए और काँग्रेस के खिलाफ़ स्वतंत्र पार्टी के टिकट पर जयपुर म्यूनिसिपल कॉउंसिल का चुनाव लड़ा और म्यूनिसिपल कॉउंसिल के चेयरमेन बने।

इस तरह डॉ. शर्मा जीवन भर राजनीति से भी सम्बद्ध रहे, लेकिन राजनीति में भी उनके विचार काफ़ी सुलझे हुए थे।

भारतीय संस्कृति के प्रबल समर्थक :

डॉ. शर्मा भारतीय संस्कृति के प्रबल समर्थक थे। उनका रहन-सहन, खान-पान, आचार-विचार, वेशभूषा सभी कुछ भारतीय संस्कृति के अनुरूप था। भारतीय संस्कृति के रंग में रंगे डॉ. मथुरालाल शर्मा उन मनीषियों में से थे, जिन्होंने संस्कृत के कूप

जल से सरस्वती को निकाल कर जन-भाषा के बहते नीर से स्नान कराया था। उनके व्यक्तित्व की छाप सभी पर थी। यही कारण था कि डॉ. शर्मा के विरोधी भी उनका बहुत सम्मान करते थे। स्वयं राजस्थान के प्रथम मुख्यमंत्री, मोहनलाल सुखाड़िया डॉ. शर्मा के वैचारिक विरोधी होते हुए भी उनके आदर्शों के समक्ष नतमस्तक थे तथा सदैव आदर की दृष्टि से देखते थे।.

वे भारतीय संस्कृति के अनुरूप गुरु-शिष्य परम्परा के प्रबल समर्थक थे। उनकी मान्यता थी कि गुरु अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाने का एक सशक्त माध्यम है, अतः गुरु को अपनी प्रतिष्ठानुरूप छात्रों के साथ व्यवहार करना चाहिए। वे छात्रों की समस्यायें सुलझाने हेतु सदैव तत्पर रहते थे। यही कारण था कि छात्र समुदाय में उनके प्रति आदर की भावना अपनी पराकाष्ठा पर थी। जब वे बनारस में थे तब भी कोटा क्षेत्र के सभी छात्रों को उन्होंने पूर्ण संरक्षण दिया तथा उनकी अध्ययन सम्बन्धी कठिनाइयों के निवारण हेतु सदैव तत्पर रहे। शोध छात्रों को भी उन्होंने अपूर्व स्नेह का वातावरण दिया और सही-सही निर्देशित कर उनके भाग्य के कपाट खोलने में सहयोगात्मक रवैया ही जीवन भर अपनाया। बाहर से आने वाले शोधार्थियों को यदि ठहरने में कठिनाई होती थी तो वे उनकी इस समस्या को भी दूर करने हेतु सदैव तत्पर रहते थे। वे सदैव छात्रों को पुत्रवत् प्यार करते थे। यही कारण था कि वे छात्रों में काफ़ी लोकप्रिय थे। चूँकि वे छात्रों के प्रति समर्पित थे, छात्र सदैव उनके निर्देशों का पालन करते थे।

भारतीय संस्कृति के अनुरूप उनमें उच्च-कोटि का मानवीय दृष्टिकोण था। निर्धनों और अपाहिजों के प्रति उनका जीवनभर सहयोगात्मक रुख रहा। गरीबों की सेवा तथा हर प्रकार की आर्थिक सहायता करने में वे आनन्द की अनुभूति करते थे। सभी परिवारजनों के प्रति भी वे समर्पित भाव से कार्य करते थे। शिक्षा विभाग के निदेशक के पद पर रहते हुए उन्होंने अनगिनत लोगों को सरकारी नौकरियाँ प्रदान कर उच्चकोटि का मानवीय दृष्टिकोण प्रस्तुत किया।

इस तरह डॉ. शर्मा का व्यक्तित्व, उच्चकोटि के मानवीय गुणों का संगम था जो सदैव सभी के लिए प्रेरणा का स्रोत रहेगा।

देहावसान :

तीन दिन बीमार रहने के बाद डॉ. शर्मा का भौतिक शरीर एक अप्रैल, 1982 को पंचतत्वों में विलीन हो गया। राजस्थान को निश्चय ही ऐसे महान् इतिहासकार, युग पुरुष को खोकर अपूरणीय क्षति हुई।

❑

'संस्कृति के अध्येता'

डॉ. मथुरालाल शर्मा ने प्रबुद्ध विद्वानों की पीढ़ियों का निर्माण किया है। लंदन में सम्प्रति भारत के उच्चायुक्त श्री लक्ष्मीमल सिंघवी, उज्जैन विश्वविद्यालय के अवकाशप्राप्त प्राचीन भारतीय साहित्य और इतिहास संस्कृति के अध्यक्ष डॉ. कैलाशचन्द्र जैन उनके शिष्यों में हैं। डॉ. शर्मा साहब से मेरा परिचय कालिदास जयन्ति के अवसर पर जब उज्जैन में मुख्यवक्ता के रूप में उन्हें आमन्त्रित किया गया था, तब हुआ था।

जीवन के उत्तरार्ध में भी उनकी जीवन्तता देखते ही बनती थी। वे राजस्थान ही नहीं, समस्त भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के अध्येताओं के अजस्र प्रेरणा के स्रोत थे।

– डॉ. शिवमंगल सिंह 'सुमन'
उपाध्यक्ष, कालिदास अकादमी, उज्जैन

प्रातःस्मरणीय काकाजी

– पं. परमानन्द शर्मा

पूज्य काकाजी का पुण्य स्मरण करना अतीत के मधुर स्वप्नों में खो जाना है। पूरे सात दशक तक मुझे उनकी वत्सल छाँह में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। यह पूरा का पूरा काल-खंड मार्मिक प्रसंगों और इन्द्रधनुषी अहसासों से भरा था।

श्री काकाजी का जन्म बारां में हुआ था। इनका ग्राम तो समसपुर था, जो बारां से करीब पाँच कि. मी. पर है। इनके पिताश्री कन्हैयालालजी साधारण किसान थे, लेकिन काकाजी कहा करते थे कि वे कुशाग्र बुद्धि थे। पढ़े-लिखे तो मामूली थे लेकिन गाँव के किसानों का हिसाब-किताब भी वे करते और पास के गाँव वाले भी उनके मार्गदर्शन के लिए आते थे। निज़ामत वर्तमान तहसील में भी किसानों की सहायता करते थे और नाज़िम साहब तक उनकी पहुँच थी। काकाजी जब सात-आठ वर्ष के थे तब से उनके साथ बारां आ जाते और कभी कभी नाज़िम साहब के साथ भी जाते। नाज़िम साहब इनसे प्रसन्न रहने लगे और अपने लड़के के साथ पढ़ने के लिए आने को कहा। वे बहुत शीघ्रता से पढ़ने लगे। बारां में उस समय कोई स्कूल नहीं था, अतः घर पर ही पढ़ाई होती थी। इन्होंने हिन्दी और मामूली गणित सीख ली और लोगों के पत्र आदि बड़े सुन्दर अक्षरों में और अच्छी भाषा में लिखने लगे जिससे नाज़िम साहब अति प्रसन्न हुए। उन दिनों कोटा राज्य में अफ़ीम ठेकेदार हुआ करते थे और बारां में एक फ़ारसी ऐसा ठेकेदार था। जो अपनी बहन के साथ रहता था और वे दोनों अँग्रेज़ी में ही वार्तालाप करते थे। नाज़िम साहब ने अपने पुत्र और काकाजी को उसके पास अँग्रेज़ी सीखने के लिए भेज दिया। काकाजी सात-आठ महीने में ही खूब अँग्रेज़ी बोलने-लिखने लगे। इससे फ़ारसी भी बहुत प्रभावित हुआ और इनके पिताजी से कहा कि यह लड़का बहुत होनहार है, इसको कोटा स्कूल में पढ़ावें। अर्थाभाव था इसलिए कुछ समय तक विचार करते रहे। इतने में काकाजी कोर्ट के आगे अर्ज़ी लिखने वालों के पास बैठने लगे और कोर्ट में आसामियों की अर्ज़ी आदि खुशखत में लिखने लगे जिससे चार-आठ आने मिल भी जाते। लेकिन आखिर में इन्हें उनकी भूआ के पास जो कोटा रहती थीं, भेज दिया गया और इनके खर्चे के दो या तीन रुपये मासिक देने लगे। काकाजी की अँग्रेज़ी तो दसवीं कक्षा जैसी थी। अन्य विषय पढ़े ही कम थे, इससे कमज़ोर थे। इससे इन्हें आठवीं कक्षा में भर्ती किया गया। वे आठवीं कक्षा में प्रथम नम्बर पर पास हुए। नवीं कक्षा में जब थे तब पिताजी का देहान्त हो गया। हैडमास्टर ने तार दिखाया, ढांढस बँधाया और वापस आने का आग्रह किया और वचन लिया और पूरी सहायता का आश्वासन दिया।

तीन वर्ष की अवस्था में मैं मातृहीन हो गया। मेरी दादी मुझ बालक को भी काकाजी के पास कोटा ले आईं। काकाजी ने एक कोटड़ी किराये पर ले रखी थी। उस कोटड़ी में हम तीन प्राणी हो गये। बा सक्षम विधवा थीं, मैं मातृहीन था और काकाजी नवीं क्लास में। वे एक नवीं क्लास के लड़के की ही ट्यूशन कर और कुछ छात्रवृत्ति के आधार पर उस 16,17 वर्ष की अवस्था में हमारा पालन कर रहे थे।

जब से मैंने होश सम्भाला मैंने उन्हें गम्भीर और संयत ही देखा। ज्ञान और आत्मविश्वास से उनका मुखमण्डल उद्दीप्त ही देखा। जब वे नवीं कक्षा में थे तभी कोटा आर्यसमाज की तरुण शाखा के मंत्री बन गये और बड़े सुन्दर व्याख्यान देने लगे। वे बूँदी और झालावाड़ में भी आर्यसमाज में भाषण देने जाने लगे। यह बात मुझसे बूँदी के प्रसिद्ध वैद्य पं. मुकुटबिहारी लाल जी ने कही। स्वयं उस समय बूँदी में नवीं कक्षा के विद्यार्थी थे। तभी से वे उनसे प्रभावित हो गये और अन्तिम समय तक उनके मित्र व प्रशंसक बने रहे। कैसी परिस्थिति में श्री काकाजी ने छोटे से परिवार का सम्मान के साथ पालन किया होगा और कैसे अध्ययन में रत रहकर स्कूल और समाज में अपना स्थान बनाया होगा। यह बात कभी कभी 'बा' के अवरुद्ध कंठ से सुनने को मिलती थी और हम सुनकर रोने लगते थे। 'बा' कहा करती थीं कि "पढ़ाई सार के चणे चबाना है" और ऐसी पढ़ाई मथुरालाल ने की है। चिमनी की रोशनी में रात-रात भर पढ़ाई करते और सुबह ट्यूशन पर जाते। इनके अध्यापक इन पर सर्वदा कृपालु रहे और इनकी प्रतिभा के प्रशंसक भी। वे इनकी आर्थिक सहायता के लिए प्रयत्न करते रहते थे।

मैट्रिक करने के बाद काकाजी को कोटा के मिडिल स्कूल में अध्यापक के स्थान पर बीस रु. मासिक पर नियुक्ति हो गई। काकाजी उस समय कोटा के प्रथम मैट्रिक थे। काकाजी जब मैट्रिक की परीक्षा देने कोटा से अजमेर गये और वहाँ आर्यसमाज में ही ठहरे। संयोग से दूसरे दिन वहाँ रविवार को हवन हुआ और तत्पश्चात्त् वक्ताओं के भाषण हुए। उन दिनों आर्यसमाज का बड़ा ज़ोर था और अजमेर का आर्यसमाज सब में प्रमुख माना जाता था। वहाँ भी काकाजी भाषण देने खड़े हुए और वहाँ के प्रसिद्ध आर्यसमाजियों को अपनी ज्ञानगरिमा एवं भाषण कला से चमत्कृत कर दिया और अजमेर आर्यसमाज के प्रधान पं. ईश्वरीप्रसादजी इनसे इतने प्रभावित हुए कि उनकी बड़ी लड़की कुमारी राधादेवी से विवाह का प्रस्ताव ही कर दिया। काकाजी ने साफ़-साफ़ अपनी परिस्थिति बता दी और पं. ईश्वरीप्रसादजी के कुछ मित्रों ने ऐसे अनजान व अति साधारण स्थिति के नवयुवक से सम्बन्ध करने से असहमति भी दिखाई लेकिन पंडितजी दृढ़ प्रतिज्ञ रहे। उन्होंने काकाजी के सुन्दर भविष्य की कल्पना करली थी। काकाजी ने कहा कि माँ से पूछकर उत्तर देंगे। बाद में उनकी पुष्टि कर दी गई। बारात अजमेर गई। उस समय मेरी उम्र छह वर्ष थी। बारात में मैं भी सम्मिलित हुआ। मुझे शादी की कुछ यादें हैं।

अच्छे ट्यूटर :

काकाजी स्कूल में अध्यापक थे, उस समय आपजी साहब औंकारसिंहजी जो कोटा स्टेट पलायथा के जागीरदार और राज्य के सर्वाधिक प्रभावशाली अधिकारी थे, को अपने कुँवर साहबान के लिए ट्यूटर की आवश्यकता हुई, उन्होंने डाइरेक्टर शिक्षा विभाग से एक अच्छे ट्यूटर के लिए कहा। डाइरेक्टर साहब काकाजी से बहुत प्रसन्न रहते थे, उन्होंने इनको भेज दिया। आपजी साहब को पहले तो इनकी आयु देखकर कुछ हैरत हुई लेकिन दो-तीन दिन इनका पढ़ाना देखकर वे आश्वस्त हो गये और महीने के अन्त में इनको 40 रुपये वेतन के दिये तो इन्होंने कहा कि उनको तो स्कूल में 20 रुपये मिलते थे। बात यों थी कि इनकी सहायता के आशय से शायद वेतन 40 रुपये बता दिया था। इससे आपजी साहब इनकी सच्चाई व स्पष्टवादिता से प्रभावित हुए और 40 रुपये मासिक ही दिया। पलायथा ठिकाने से काकाजी का प्राय: 20 वर्ष तक सम्बन्ध रहा। कुँवर साहबान प्रति वर्ष

पास होते रहे और जब वे काशी विश्वविद्यालय में पढ़ने गये तब आपजी साहब ने इन्हें उनका गार्जियन ट्यूटर बना कर साथ ही काशी भी भेजा। काकाजी ने कोटा में ही प्राइवेट तौर पर इंटरमीजिएट और बी. ए. कर लिया था, अतः बनारस विश्वविद्यालय में एम. ए. हिस्ट्री में प्रवेश ले लिया। उस समय आर्ट्स कॉलेज के प्रिंसिपल और इनके प्रोफ़ेसर भारत विख्यात विद्वान श्री ए. बी. ध्रुव थे। एम.ए. पास करने के बाद स्वयं श्री महामना मदनमोहनजी मालवीय महाराज ने काकाजी से कहा कि काशी विश्वविद्यालय से अब तक किसी ने किसी विषय में डी. लिट् नहीं किया है और इनको यूनिवर्सिटी का प्रथम डी. लिट् विद्यार्थी बनने को प्रोत्साहित किया। उनकी आज्ञा को शिरोधार्य कर आचार्य ध्रुव के मार्गदर्शन में आपने बड़े सम्मान से डी. लिट् की उपाधि प्राप्त की और काशी विश्वविद्यालय के और राजस्थान के प्रथम डी. लिट् हुए।

उधर पलायथा कुँवर साहबान की भी शिक्षा वहाँ समाप्त हो गई थी, अतः वापस कोटा आ गये। काकाजी को कोटा राज्य का इतिहास लिखाने के लिए स्टेट हिस्टोरियन एण्ड आरक्योलोजिस्ट के पद पर नियुक्त किया गया। आपने कोटा म्यूज़ियम का निर्माण किया और तीन वर्ष में पूर्ण अनुसंधान के बाद कोटा राज्य का इतिहास का लेखन सम्पूर्ण किया, जो एक ऑथिरिटी माना जाता है और सर जदुनाथ सरकार आदि प्रख्यात इतिहासकार ने जिसकी मुक्त कंठ से प्रशंसा की है।

काबा कहूँ कि किबला :

इसके पश्चात् काकाजी महकमा ख़ास कोटा के मुख्यसचिव हो गये जहाँ कोटा दरबार का बड़ा विश्वास अर्जित किया। उस समय की एक मार्मिक घटना मेरे हृदय पटल पर आज भी विद्यमान है। तब काशी विश्वविद्यालय पढ़ने जाने वाले सब विद्यार्थियों को सरकार से छात्रवृत्ति मिलती थी। इसकी सूची मुख्यसचिव को ही बनाकर दीवान आपजी साहब के सम्मुख पेश करनी थी। उसमें आपजी साहब के पुत्रों से प्रारम्भ होकर 20-25 नाम थे, पर मेरा नाम नहीं था। जो उस वर्ष बनारस विश्वविद्यालय में बी. ए. प्रथम वर्ष में पढ़ने जा रहा था। आपजी साहब ने सूची में मेरा नाम न देखकर कहा कि परमानंद का नाम भी लिखकर लाओ, जब दूसरे दिन भी सूची में मेरा नाम नहीं देखा तो नाराज़गी जाहिर की गई। काकाजी ने कहा कि परमानंद को तो मैं अपनी कमाई से ही पढाऊँगा, वरना यह क्या कहेगा कि काकाजी ने माँग-माँग कर पढ़ाया। उस समय काकाजी को 250 रुपये मासिक मिलते थे, जिसमें 50 रुपये मासिक मुझे भेजते थे और 200 रुपये में पाँच बाल-बच्चों के कुटुम्ब का पालन करते थे। बड़ी तंगी भुगतते थे. लेकिन कभी शिकन नहीं लाते थे। अब ऐसे काका को मैं क्या कहूँ, काबा कहूँ किबला कहूँ या खुदा कहूँ। ऐसी एक दो और भी घटनायें हैं जो और भी मार्मिक हैं। आठ वर्ष की अवस्था में मैंने संस्कृत अध्यापन कार्य शुरु कर दिया, दस वर्ष की अवस्था में बड़े उत्साह से मेरा यज्ञोपवीत व बाद में विवाह किया।

काकाजी उत्तरोत्तर प्रगति के सोपान चढ़ते रहे। वे कोटा कॉलेज के प्राचार्य बने, वहाँ से महाराजा कॉलेज, जयपुर के प्रिंसिपल बने, तब डाइरेक्टर शिक्षा विभाग, यूनिवर्सिटी में इतिहास के प्रोफ़ेसर बने। यह नई जगह इनके लिए ही सृजित की गई और राजस्थान विश्वविद्यालय के कुलपति के पद को भी सुशोभित किया।

विशुद्ध भाषा का ज्ञान :

काकाजी को अँग्रेजी, हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, फ़ारसी, मराठी, गुजराती, हाड़ौती राजस्थान में पूर्ण

गति थी। वे इन भाषाओं के अगाध विद्वान थे और सब में अबाध गति से व्याख्यान देते थे। वक्तृत्वकला का उन्होंने अध्ययन किया था और अभ्यास भी। भाषा का विशुद्ध ज्ञान था और भाषण-शक्ति अद्वितीय थी। उनके संस्कृत में दिये हुए भाषणों को जयपुर के पंडितगण आज भी याद करते हैं। महाराष्ट्र मण्डल में आधे घंटे तक मराठी में भाषण देकर सब को चकित कर दिया।

अद्भुत स्मृति :

उनकी स्मृति अद्भुत थी। उनको गीता, रामायण आदि ग्रन्थ कंठस्थ थे। उपनिषदों, वेदों का विशुद्ध ज्ञान था। प्रति रविवार को सी-स्कीम के वरिष्ठ नागरिक, उपनिषद् आदि शास्त्रों पर उनका प्रवचन सुनने आते थे।

हिस्टोरिकल रिसर्च इन्स्टीट्यूट :

विश्वविद्यालय से सेवा निवृत्ति के बाद उन्होंने राजस्थान हिस्टोरिकल इन्स्टीट्यूट की स्थापना की और करीब 20 वर्ष तक उसके निदेशक रहे। उन्होंने करीब 30 किताबें लिखीं व अनुवाद किये और करीब 40 विद्यार्थियों को इतिहास व अन्य विषयों में पी-एच.डी. दिलवाई। उनकी इतनी प्रतिष्ठा थी कि उनके निवास पर ही विद्यार्थियों को पी-एच.डी. की डिग्री दी जाती थी और उस मिनी कन्वेन्शन में गवर्नर महोदय आकर डिग्री प्रदान करते थे।

वे अधिकतर गम्भीर रहते थे। अन्त तक करीब बारह घन्टे अध्ययन, लेखन अध्यापन में व्यतीत होते थे। उनके पास विद्वद्जन आते ही रहते थे लेकिन सब बड़े सम्भ्रम में रहते थे और उनके साथ बराबरी का दावा तो कोई कर ही नहीं सकता था।

वे बड़े वाक विदग्ध थे, प्रत्युत्पन्न मति थे और बातों में या बहस में उनके सामने टिकना बड़ा कठिन काम था।

प्रखर उत्तर और स्पष्टवादिता के उनके संस्मरण लिखने लगें तो कई पृष्ठ भर जायेंगे और शायद इस सम्बन्ध में अन्य महानुभावों ने भी लिखा होगा।

राजस्थान गौरव :

हाड़ौती समाज ने काकाजी का सम्मान किया था उसमें मुख्य अतिथि पद से बोलते हुए तत्कालीन राजस्थान के राज्यपाल महामहिम श्री रघुकुल तिलक ने काकाजी की बहुमुखी प्रतिभा एवं विद्वता की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा था कि वास्तव में डॉ. मथुरालाल पर राजस्थान को गौरव है और ये राजस्थान की महान् विभूति हैं।

इसी प्रकार श्री काकाजी की दशम्-पुण्य तिथि पर न्यायमूर्ति, श्री विनोदशंकर दवे ने डॉ. शर्मा मेमोरियल लेक्चर दिया था। उस अवसर पर महामहिम देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय, राज्यपाल राजस्थान मुख्य अतिथि थे। राज्यपाल महोदय स्वयं उच्चकोटि के विद्वान् हैं। उन्होंने काकाजी लिखित हिस्ट्री ऑफ़ जयपुर पुस्तक का अवलोकन किया था जिससे वे बड़े प्रभावित हुए थे। काकाजी के सम्बन्ध में उनके उद्‌गार थे कि जैसे हिस्ट्री ऑफ़ जयपुर में वर्णित है कि सवाई जयसिंह पहले छोटे मनसबदार थे और उन्नति करते-करते दस हजारी मनसबदारी पर पहुँच गये, वैसे ही डॉ. मथुरालाल शर्मा मिडिल स्कूल के अध्यापक से उन्नति के सोपान चढ़ते हुए विश्वविद्यालय के कुलपति पद पर आसीन हुए। एक साधारण किसान परिवार के साधनहीन लड़के के लिए ऐसी उन्नति एक चमत्कारिक व अद्वितीय उपलब्धि है।

मुख्यमंत्री तक आदरणीय :

काकाजी स्पष्टवादी, आत्माभिमानी एवं निर्भीक थे। एक मुख्यमंत्री जी से किसी सिद्धान्त की बात

पर दो बार कहासुनी हो गई, उस समय वे सेवा निवृत्त हो गये थे। मुख्यमंत्री ने कहा कि मैं यह काम नहीं करूँगा तो आप क्या कर लेंगे? इस पर आपने जवाब दिया कि हम भी बोलना जानते हैं। शाम को ही माणक चौक पर भाषण दूँगा और सारी बात बताऊँगा। मुख्यमंत्री महोदय इनका आदर भी करते थे, अंत में बात मानली।

जब ये शिक्षा विभाग के निदेशक थे तो जनसंघ के तत्कालीन अध्यक्ष ने आपको नागपुर उनके वार्षिक उत्सव में अध्यक्षता के लिए बुलाया। ये उसमें भाग लेने गये। वापसी पर चीफ़ सेक्रेट्री, श्री राव, आई. सी. एस. ने आपसे जवाबतलब किया कि सरकारी अफ़सर होते हुए आप वहाँ क्यों गये तो आपने जवाब दिया कि मैं छुट्टी लेकर गया था और वह मेरा व्यक्तिगत मामला था, उस पर वह कुपित हो गये। उस समय इनकी सेवा निवृत्ति का समय आ गया था। राव ने मुख्यमंत्री, श्री जयनारायणजी व्यास से असहमति जताई जो इनका दो वर्ष से सेवाकाल बढ़ाना चाहते थे। राव साहब इनसे यों भी नाराज़ थे कि शिक्षा विभाग का मुख्यालय जयपुर से बीकानेर करने के आदेश को आपने केवल राजनीतिक निर्णय बताया और शिक्षा के लिए हानिकारक। इस पर बहस होती रही पर ये बीकानेर नहीं गये।

शिक्षामन्त्री के स्वागत में नहीं :

एक बार जब महाराजा कॉलेज के प्रिंसिपल थे तो शिक्षामंत्री बिना सूचना के कॉलेज आ गये और आधा घंटे तक कक्षाओं आदि को देखते रहे, पर ये उनके स्वागत में नहीं गये कि उन्हें मिनिस्टर के आने की कोई सूचना नहीं है। वे किसी प्राइवेट काम से आये होंगे।

एक बड़े प्रतापी वाइस चांसलर थे। उनके पास दो बड़े अलसेशियन कुत्ते थे, जो कोई जाता तो पहले ही वे रास्ता रोकते थे। वाइस चांसलर से इनकी कुछ पटती भी कम थी। उन्होंने एक दिन पूछ लिया- डॉ. शर्मा आप कभी मेरे यहाँ आये नहीं? तो आपने तत्काल उत्तर दिया: I don't want to be received by dogs.

सभापतित्व बाधक :

काकाजी जयपुर म्यूनिसिपल कॉउंसिल के चेयरमैन भी बने थे। जयपुर दरबार मानसिंहजी व महारानी गायत्री देवी इनकी विद्वता पर मुग्ध थे। उस बार गायत्री देवी, जिनकी कि स्वतंत्र पार्टी जीत गई थी, तब उनके और कोटा दरबार के कहने पर अनिच्छा से चेयरमैन होना स्वीकार कर लिया था, पर वे अपने को पार्टी का सदस्य नहीं मानते थे और उनके व महारावल डूँगरपुर के बुलाने पर भी नहीं जाते थे, कहते थे कि मैं तो आपके आग्रह से म्यूनिसिपैलिटी में गया हूँ, मेरे लिखने-पढ़ने में इससे ही बहुत बाधा होती है।

लेने देने के सख्त खिलाफ़ :

आप लंच के बाद म्यूनिसिपल ऑफ़िस जाते थे। उनको मालूम हो गया था कि कुछ म्यूनिसिपल सदस्य उनके पहले आसामियों से ले देकर मामले तय कर लेते थे। इनके आने के बाद जब सदस्य इनके कमरे में आते तो यह कह दिया करते थे कि आप अपना काम मेरे आने से पहले ही बना लिया करें और अब मुझे काम करने दें। सदस्यों ने महारानी जी से शिकायत की और महारानी ने कुछ नरमी से सदस्यों से पेश आने को कहा तो आपने जवाब दिया कि यह हाल रहा तो आपकी स्वंतत्र पार्टी, काँग्रेस से भी अधिक भ्रष्ट हो जायेगी।

विद्या का व्यसन तो अन्त तक रहा। जिस रात को बेहोश हुए उस दिन एक बजे तक दो दो पी-एच.डी. के विद्यार्थियों को पढ़ा रहे थे। जयपुर में

तो वे बहुत बड़े इतिहासज्ञ ही नहीं श्रेष्ठ संस्कृत विद्वान् भी माने जाते थे। एक बार उनके ड्राइंग रूम मे दो साहब हरिभाऊजी उपाध्याय, देवीशंकरजी तिवाड़ी व एक संस्कृत के प्रोफ़ेसर बैठे थे। शायद संस्कृत विषयक कोई वार्तालाप चल रहा था। मैं भी बैठा हुआ था। उस समय अनायास ही दा साहब ने कहा कि डॉ. साहब इस समय तो जयपुर में गिरधर शर्मा महोपाध्याय, मोतीलाल जी शास्त्री के बाद उस कोटि के आप ही विद्वान् हैं। सब ने मुक्त कंठ से स्वीकार किया इस पर कुछ मज़ाक भी चला। काकाजी ने कहा दा साहब आप क्यों मुझे शर्मिंदा करते हो। इस पर दा साहब ने तत्काल हँसकर कहा कि तो फिर आप ऐसे कर्म क्यों करते हो?

आपके ही प्रयत्नों से राजस्थान में पहली बार संस्कृत को शायद छठी कक्षा तक अनिवार्य विषय करवाया गया।

दर्शन से कृतकृत्य :

जैसे भक्त जब श्री गोविन्ददेवजी के मंदिर में आकर सब आकर्षक झाँकियों के दर्शन करते हैं और प्रत्येक झाँकी में दर्शन से कृतकृत्य होते हैं, वैसे ही मैं तो उनको 60 वर्ष तक हर रूप में देखता रहा और उनके चरणों में श्रद्धा बढ़ती ही रही।

वे एक युग पुरुष थे। हमारे परिवार में जन्म लेकर उन्होंने परिवार को गौरवान्वित किया और हाड़ौती में जन्म लेकर वे हाड़ौती ही के नहीं राजस्थान के गौरव हो गये।

एस 14, कृष्णा मार्ग
श्याम नगर, जयपुर 302019 ❑

हिन्दुओं का मेरुदण्ड

'आर्यसमाज के प्रचार से ईसाइयत और इस्लाम की बढ़ती हुई बाढ़ एक दम रुक गई। उसमें आर्यसमाज ने बड़े कष्ट उठाये परन्तु उत्तर भारत में इसने हिन्दुओं को जागृत और प्रगतिशील बना दिया। आर्यसमाज के जन्म के समय हिन्दू कोरा फुस्सफुसिया जीव था। उसके मेरुदण्ड की हड्डी थी ही नहीं। चाहे कोई उसे गाली दे, उसकी हँसी उड़ाये, उसके देवताओं की भर्त्सना करे या उस धर्म पर कीचड़ उछाले जिसे वह सदियों से मानता आ रहा है, फिर भी इन सारे अपमानों के सामने वह दांत निपोर कर रह जाता था। लोगों को यह उचित शंका हो सकती थी कि यह आदमी भी है या नहीं, इसे आवेश भी चढ़ता है या नहीं अथवा यह गुस्से में आकर प्रतिपक्षी की ओर घूर भी सकता है या नहीं। किन्तु आर्यसमाज के उदय के बाद अविचल उदासीनता की यह मनोवृत्ति विदा हो गई। हिन्दुओं का धर्म एक बार फिर जगमगा उठा है। आज का हिन्दू अपने धर्म की निन्दा सुनकर चुप नहीं रह सकता, जरूरत हुई तो धर्म रक्षार्थ वह अपने प्राण भी दे सकता है।'

डॉ. मथुरालाल शर्मा के आर्यसमाज कोटा में दिए भाषण से।

मानवता एवं महानता के प्रतीक

- डॉ. गङ्गाधर भट्ट

प्रातः स्मरणीय डॉ. मथुरालाल शर्मा जितने ही उत्कृष्ट विद्वान थे स्वभाव से उतने ही कोमल एवं मधुर भाषी थे। डॉ. शर्मा नाम मात्र से एक सौम्य व्यक्तित्व की आकृति प्रकट होती है जिसने मेरे जीवन को अत्यधिक प्रभावित किया। सन् 1948 की जुलाई में मैंने महाराजा कॉलेज, जयपुर में एम. ए. कक्षा में प्रवेश ग्रहण किया । उसी वर्ष डॉ. शर्मा का हर्बर्ट कॉलेज, कोटा से स्थानान्तरण महाराजा कॉलेज, जयपुर में हुआ था। उनका इस कॉलेज में नया-नया आगमन था। रहने की भी व्यवस्था अतिथि गृह में थी। अर्थात उनके निवास हेतु कोई राजकीय आवास की व्यवस्था नहीं हो पायी थी। बन्द गले का कोट, पेंन्ट और सिर पर टोपी यही सादा उनकी वेशभूषा थी। ऐसा लग रहा था कि एक टोपीवाला प्रिंसिपल इतने बड़े कॉलेज की व्यवस्था कैसे कर पायेगा? ऐसा श्रवण गोचर हुआ कि राज्य सरकार भी उनके अनुकूल नहीं थी। कोटा से जयपुर आकर कार्यभार सम्भालने के लिए बहुत कम समय दिया गया। इससे पूर्व प्रो. कन्हैयालाल वर्मा वर्षों से यहाँ प्राचार्य का भार सम्भाले हुए थे और पूर्णतः प्रतिष्ठित थे।

डॉ. शर्मा ने कॉलेज में प्राचार्य पद सम्भालने के कुछ ही दिन के पश्चात् कॉलेज के समस्त छात्रों को एकत्र कर एक भाषण देने का निर्देश दिया। कॉलेज भवन का ऊपर का हाल छात्रों से पूरी तरह भरा हुआ था। हम छात्रों को यह आशंका थी कि यह टोपी वाला प्राचार्य कैसा भाषण देगा एवं क्या प्रभावित करेगा। अभी तक देखे प्राचार्यों में ऐसा सरल व्यक्तित्व कभी नहीं देखा। अव्यवस्था की आशङ्का उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी। छात्र वर्ग में हल्का सा शोर भी हो रहा था।

निर्दिष्ट समय पर डॉ. शर्मा ने एसेम्बली हॉल में प्रवेश किया। जैसे ही अँग्रेज़ी में उन्होंने भाषण देना आरम्भ किया कि सभी छात्र स्तब्ध रह गये और मूकवत् विस्फारित नेत्रों से उनके मुख की ओर देखने लगे। वह पहला दिन था कि डॉ. शर्मा के प्रति समस्त छात्रों का आदर एवं सम्मान प्रतिष्ठित हो गया। कॉलेज में प्रत्येक छात्र की उन तक पहुँच थी। वे छात्रों की छोटी से छोटी समस्या को धैर्यपूर्वक सुनते और त्वरित उनका समाधान ढूँढ़ निकालते। अनुशासन में कोई कमी नहीं थी परन्तु व्यवहार में कठोरता में न्यूनता अवश्य दृष्टिगोचर होती थी, संस्कृत परिषद् के उपाध्यक्ष के रूप में अध्यक्ष तो विभागाध्यक्ष होते थे। मैंने उनके अनेक बार दर्शन किये तथा उन्होंने पूर्ण सहयोग प्रदान किया। वे परिषद् के आयोजनों में स्वयं उपस्थित होते और संस्कृत में ही भाषण करते। उनका संस्कृत के प्रति अनुराग अक्षुण्ण था। साथ ही उन्हें संस्कृत का उत्कृष्ट ज्ञान था। संस्कृत एवं संस्कृति के वे पोषक थे। सादा जीवन और उच्च विचार के आदर्श को वे सदैव स्वीकारते थे। छात्र उनके अति प्रिय थे। वे उन्मुक्त भाव से उनके उदय की कामना करते थे।

विकट परिस्थिति :

उनके अगाध पाण्डित्य के दर्शन पद-पद पर होते ही रहते थे पर एक घटना ने तो मुझे उनकी ज्ञान

गरिमा के समक्ष नतमस्तक ही कर दिया। वैसे वे इतिहास एवं राजनीति विज्ञान के प्राध्यापक थे परन्तु संस्कृत वाङ्मय में उनके गहन पाण्डित्य ने मुझे आश्चर्यचकित कर दिया। बात यूँ हुई–मैंने विश्वविद्यालय में प्रथम स्थान प्राप्त कर प्रथम श्रेणी में एम. ए. (संस्कृत) परीक्षा उत्तीर्ण की थी। राजस्थान में उस समय तक शोध के क्षेत्र में पर्याप्त विकास नहीं हुआ था। शोध निर्देशक स्वयं शोध कार्य में लगे हुए नहीं थे। मुझे विश्वविद्यालय में उस वर्ष उत्तीर्ण एम. ए. के छात्रों में सर्वाधिक अङ्क मिलने से मैं शोध वृत्ति का अधिकारी था। अतएव मैंने पी-एच.डी. हेतु प्रवेश लेने की कामना की। यत्किंचित् रूपरेखा बनायी गयी और उसे प्रस्तुत कर दिया गया। बाह्यपरीक्षक ने रूपरेखा को उचित नहीं माना, उन्होंने लिखा "The synopsis is too vague and needs improvement." मैं विकट स्थिति में पड़ गया। उस निर्देश के अनुसार रूपरेखा में परिवर्तन कैसे हो और इस कार्य में सहायता कौन करे? यदि रूपरेखा स्वीकृत न हो तो शोधवृत्ति नहीं मिल पायेगी। इस समस्या के समाधान की एक अस्पष्ट किरण मुझे डॉ. शर्मा में दृष्टिगोचर हुई। मैं उनके आवास पर जाकर उनसे मिला और अपनी पीड़ा को उनके सम्मुख रख दिया। उन्होंने कहा–कोटा कॉलेज के प्रोफ़ेसर डॉ. फतहसिंह यहाँ विद्यमान हैं। आप उनके निर्देशन में कार्य करो, मैं उनसे आपको मिला देता हूँ। पर मैंने कहा कि वे वेद विषय पर शोध कराते हैं, मैं साहित्य का विद्यार्थी हूँ। मेरी वेद में गति नहीं है। उन्होंने मेरे इस विचार की प्रशंसा की और कहा कि कल इस समय ठीक समय का निर्देश किया मेरे पास आओ बिना संकोच। मेरी रूपरेखा उन्होंने अपने पास रखली। मैं अगले दिन निर्धारित समय पर उनके आवास पर पहुँच गया। वे अपने अध्ययन कक्ष में बैठे हुए मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। कतिपय पुस्तकें उनके पास रखी हुई थीं। उन्होंने मुझे लिखाना प्रारम्भ कर दिया। साथ ही समझाते भी जा रहे थे। लगभग एक घण्टा बैठकर उन्होंने मेरे विषय की रूपरेखा लिखवादी। लिखवाने के पश्चात् उन्होंने उसे स्वयं भी देखा और उसे अन्तिम रूप प्रदान किया। मैंने उसे अपने निर्देशक के माध्यम से विश्वविद्यालय को प्रस्तुत कर दिया और मैं शोध हेतु पञ्जीकृत हो गया। उनसे मैंने समय का पालन करना सीखा साथ ही अपने शोध छात्रों के प्रति वही आदर्श अपनाया जिसकी मुझे ऐसे निर्निमित्त दयालु गुरु से शिक्षा प्राप्त हुई थी।

उनके वैदुष्य, व्यवहार एवं सदाचरण का ऐसा प्रभाव हुआ कि वे राजस्थान कॉलेज शिक्षा के निदेशक पद पर प्रतिष्ठित हुए। निदेशक के रूप में भी वे एक बार उस कॉलेज में निरीक्षण हेतु पहुँचे जहाँ मैं प्राध्यापक के पद पर कार्यरत था। उन्होंने मुझे देखते ही अपनत्व से ओतप्रोत आशीर्वचन कहे। उन्होंने वहाँ के प्राचार्य से कहा-इनका परिचय आप क्या करायेंगे, यह तो मेरे महाविद्यालय का अत्यन्त प्रबुद्ध विद्यार्थी रहा है और मेरे अत्यन्त निकट रहा है। उन्होंने मुझे छाती से लगा लिया और मेरी भूरि-भूरि प्रशंसा की। नियुक्ति के समय भी सत्र के मध्य में मेरी नियुक्ति होने से छात्रों के न होने पर मेरी रक्षा की।

निर्निमित्त बन्धु

डॉ. साहब से मेरा परिचय गाढ़े से गाढ़तर होता गया और निर्निमित्त बन्धु वे मेरी सहायता हेतु तत्पर रहे।

वयस् का अन्तराल, पद की गरिमा एवं बडप्पन के होते हुए भी डॉ. शर्मा के प्रथम सम्पर्क

ने ही इतनी आत्मीयता भर दी जैसे हमारा जन्मान्तर का गुरु-शिष्य का सम्बन्ध हो।

डॉ. शर्मा एक व्यक्ति ही नहीं थे, संस्था थे और ऐसी संस्था जिन्होंने अपना समग्र जीवन देश और राष्ट्र की सेवा में अर्पित कर दिया। आप के अपार आशीर्वाद के प्रसाद में मुझे साहित्य सेवा का बहुत बड़ा सम्बल प्राप्त हुआ। उनके चरणों में कोटि-कोटि नमन।

निदेशक
रायबहादुर चम्पालाल प्राच्यशोध संस्थान
डी-1, पं. देवीशङ्कर तिवारी मार्ग
तिलक नगर, जयपुर - 302004

❑

इतिहास के भीष्म पितामह

डॉ. मथुरालाल शर्मा मेरे पथ प्रदर्शक गुरु थे। मैं सन् 1952-53 में महाराजा स्कूल में अध्यापिका थी। उन्हीं दिनों मैंने डॉ. साहब के मार्गदर्शन में इतिहास विषय में पी-एच.डी. के लिये कार्य आरम्भ किया। शीर्षक था 'जयपुर राज्य और मराठाओं से सम्बन्ध' मेरा प्रथम प्रयास था, जब मैंने प्रथम अध्याय लिख कर डॉ. साहब को दिखाया तो उसे पढ़कर वे बहुत प्रसन्न हुए और बहुत प्रशंसा की, मुझे आगे बढ़ने की प्रेरणा दी।

किन्तु इसी बीच घटना चक्र बदला और जून 1954 में विधानसभा के उपचुनाव आ गये। मुझे विधायक बनने के लिये अध्यापन कार्य छोड़ना पड़ा। उसके बाद मैं जब कभी डॉ. साहब से मिलती तो वे यही कहते, थोड़ी बहुत मेहनत करके पी-एच.डी. पूरी कर लो। उनके प्रोत्साहन से कुछ कार्य पूरा करती फिर राजनीति में उलझ जाती। इस प्रकार पी-एच.डी. शोध कार्य पूरा नहीं कर पाई। डॉ. साहब की इच्छा पूरी नहीं कर पाने के लिये मुझे आज भी पछतावा होता है।

इतिहास जगत में उनका विशिष्ट स्थान था, पुराने अनुभवों की तो वे खान थे। 86 वर्ष की अवस्था में भी वे 'राजस्थान के स्वतंत्रता संग्राम' का इतिहास लिखने में जुटे थे, मुझसे कहते कि कुछ ऐसे लोगों से मिलवाओ, जो स्वयं स्वतंत्रता संग्राम से जुड़े रहे हों।

डॉ. साहब ने स्वास्थ्य की परवाह न करके भी 'राजस्थान के स्वतंत्रता संग्राम' पर अपनी पुस्तक लिखी।

- श्रीमती कमला
भू.पू. कृषिमंत्री, राजस्थान सरकार

त्रिकालदर्शी डॉ. मथुरालाल शर्मा

– गोपालनारायण बहुरा

जो क्षण बीत जाता है वह इतिहास बन जाता है। उसके बारे में कहा जाता है 'इति ह आस', वह ऐसा था। भारतीय वाङ्मय में इतिहास सर्वत्र संश्लिष्ट रूप में पाया जाता है। वेद में सैकड़ों ऐसे मन्त्र हैं जो इतिहास की भाषा में विज्ञान का प्रतिपादन करते हैं। सभी ब्राह्मण इतिहासपरक हैं। पुराणों में वेदों का उपबृंहण हुआ है तो इतिहास पुराणों की व्याख्या है। पुराणवेत्ता पण्डित होता है तो इतिहासज्ञ समीक्षक। पुराण-अध्येता इतिहासज्ञ पुरातन कथाओं के संदर्भ में वर्तमान का मूल्याङ्कन करता हैऔर अपने अनुभवजन्य ज्ञान के आलोक में भावी परिणामों की उद्घोषणा करता है। इस प्रकार यह त्रिकालदर्शी•होता है और इसी दर्शन के कारण ऋषि कहलाता है। ऋषिर्दर्शनात्।

कालचक्र से पिछले 150-200 वर्ष में हम अपने देश और विश्व के परिपूर्ण इतिहास-स्रोत पुराणों को भुला बैठे और विदेशियों के स्वर में स्वर मिला कर उनकी निरर्थकता का प्रलाप करने लगे। वास्तव में पाद्य से लेकर भविष्य और भविष्यों तक ये पुराण हमारे क्रमबद्ध घटना प्रधान इतिहास को ही नहीं, सम्पूर्ण सृष्टि के सर्ग, विकास और परिणाम में लय तक की वैज्ञानिक प्रक्रिया का विवेचन अपने में संजोये हुए हैं। आवश्यकता है इनके विधिवत् अध्ययन और व्याख्या की।

डॉ. मथुरालाल शर्मा वैदेशिक प्रणाली से इतिहास के अध्ययन और लेखन मात्र के समर्थक विद्वान् नहीं हैं। उन्हें स्वदेशीय एकाधिक भाषाओं और उनके साहित्य की पृष्ठभूमि का आधार भी प्राप्त है। उनके लेखन में जहाँ ऐतिहासिक घटनाओं का विवेचन विदेशी लेखकों की टक्कर में अपनी तथ्यपूर्णता के कारण खरा उतरता है वहीं उनकी संस्कृतज्ञता और संस्कृति-ज्ञान के कारण सार्वदेशिक ज्ञान की गरिमा भी विद्यमान रहती है। हिन्दी और संस्कृत में वे जिस अधिकार से लिखते रहे उसका प्रवाह और बल अँग्रेज़ी लिखने में किञ्चित भी कम नहीं होता। बात-चीत में उनकी चुनी हुई पाण्डित्यपूर्ण शब्दावली श्रोता के ज्ञानतन्तुओं को विद्युत-स्पर्श की तरह झनझना देती थी और उसके अज्ञानतिमिर को दूर करती हुई ग्राह्यतानुसार उसमें ज्ञानोद्दीपन करती रही।

राजस्थान राज्य बनने के बाद शर्माजी जयपुर में अनेक महत्वपूर्ण पदों पर आसीन रहे। उनकी योग्यता, कार्यदक्षता और व्यवहारकुशलता और सक्षमता ने उनके सम्पर्क में आने वाले प्राय: सभी अधिकारी, कर्मचारी और कार्यार्थी वर्ग को समान रूप से प्रभावित किया। मैंने उनको बड़े से बड़े अधिकार-सम्पन्न व्यक्ति के समक्ष निर्भीकता से अपना मत प्रस्तुत करते हुए देखा। उनके वाक्चातुर्य एवं प्रस्तुतिकरण को देखकर उनके विषय में महत्व और अपर पक्ष के लिए लघिमा धारणा बनती थी।

ऐतिहासिक केन्द्र स्थल

राजस्थान समूचे भारतवर्ष के ऐतिहासिक घटनाचक्रों का केन्द्रस्थल रहा है। शर्मा के निर्देशन में जिन शोध विद्वानों ने शोध कार्य किया उन्होंने अनेक नये-नये तथ्य सप्रमाण प्रस्तुत किए। राजस्थान इन्स्टीट्यूट ऑफ़ हिस्टोरिकल रिसर्च और उसके जनरल द्वारा जो सेवा की गयी वे

इतिहास के पुनर्निर्माण में बहुत सहायक सिद्ध रही हैं।

शर्मा साहब पर ग्रंथ का प्रणयन स्तुत्य कार्य है। विद्या के क्षेत्र में उनका स्थान बहुत ऊँचा रहा है। वास्तव में, मानव शरीर में जो प्राकृतिक तत्वों का अवतरण होता है उनका प्रकार इतिहासपरक है। संस्तवन द्वारा ऐसे प्राणों को पहचानने और पकड़ने का प्रकार अपनाया जाता है। प्रस्तार बिन्द्वात्मक प्राणों के प्रणतभाव का नाम ही स्तवन है, भले ही वह मरणोपरान्त ही हो। इसके द्वारा ही प्राकृतिक उत्कृष्ट प्राणों के निकट पहुँचा जा सकता है। संस्तुति श्रद्धा को स्थिर रखती है और श्रद्धा पूज्यभाव की जननी है। डॉ. शर्मा हमारे श्रद्धेय रहे हैं, अतः वे सदैव पूजनीय बने रहेंगे।

बहुराजी का बाग
टोंक फाटक, जयपुर ❑

महान् स्वतंत्रता सेनानी

डॉ. मथुरालाल शर्मा एक महान् स्वतंत्रता सेनानी थे। उन्होंने अपने परिवार में सभी के मन में स्वतंत्रता के लिये प्रेम का बीज बो दिया था। वह चिंनगारी जो इन्होंने पैदा की थी आगे जाकर ज्वाला बन गई। मुझे याद आते हैं वे दिन जब, कोटा का जनमानस जाग उठा था। आज़ादी के दीवानों ने जब शहर कोतवाली पर अपना अधिकार जमा लिया था और शहर की सारी व्यवस्था अपने हाथ में ले ली थी।

डिप्टी इन्सपेक्टर जनरल पुलिस सन्त सिंह तथा तत्कालीन दीवान गोसालिया ने बल प्रयोग द्वारा इस चेतना को कुचल डालने का प्रयास किया था। तब वकील बेनी माधव, उनकी पत्नी तथा अन्य सेनानियों के साथ डॉ. साहब की पुत्री कुमारी उमा भी थी, जिसने आगे बढ़कर सन्त सिंह के थप्पड़ मार दिया था एवं एक अन्य लड़की ने उनकी डाढ़ी खींच दी।

स्वतंत्रता के लिये अपने आपको समर्पित कर देने की दृढ़ इच्छा लिये, आज़ादी के दीवाने स्वतंत्रता सेनानियों के लिये अजमेर में डॉ. मथुरालालजी की ससुराल, शरण स्थली थी। विश्राम के लिये स्थान तथा आगे बढ़ने की प्रेरणा लेकर वे नवजवान आगे बढ़ जाते थे।

हमारे प्रेरणा स्रोत थे। डॉ. मथुरालाल शर्मा, जिन्होंने अपने ही ढंग से स्वतंत्रता की ज्योति को जलाये रखा तथा अपनी आँखों के सामने ही तिरंगे झंडे को दिल्ली के लाल किले पर लहराते देखा, राजस्थान के रजवाड़ों का एकीकरण होते हुए देखा और शिक्षा क्षेत्र में उसकी उन्नति के लिये अपना अविस्मरणीय योगदान दिया।

❑ **रमेशचन्द्र सक्सेना**
विधिवेत्ता, 2 डी, मालवीय मार्ग,
सी–स्कीम, जयपुर

स्वाभिमान के अप्रतिम पुंज

– डॉ. त्रिभुवननाथ चतुर्वेदी

अनुशंसाओं से आजीविका :

प्रतिभाशाली व्यक्ति सामान्यत: प्रखर और कभी–कभी मग़रूर तो देखे गये हैं, पर उनमें स्नेह और व्यवहारपटुता का अभाव ही देखा जाता है, पर डॉ. साहब प्रतिभाशाली होते हुए भी बहुत स्नेहिल थे जो उनके आश्रित होता, उस पर निर्भर होता, या उनके सम्मुख विनयावनत तभी होता, उस पर पूर्ण कृपादृष्टि करते थे उसके कार्य को सम्पादित करने के लिए नियमों तक की परवाह नहीं करते थे और निर्भय होकर उसकी सहायता करते थे। राजस्थान में ऐसे अनेक अधिकारी, अध्यापक, प्रोफ़ेसर, डॉक्टर व लिपिक आदि मिल जायेंगे जिनकी नौकरियाँ डॉ. साहब के निर्भीक निर्णयों या अनुशंसाओं के कारण लगीं। अनेक विद्वान् उनके कारण पी–एच.डी. की डिग्री पा सके, उनमें से कुछ औसत से कम प्रतिभाशाली थे। अनेक लोग राज्य सरकार में उच्च पदों को प्राप्त कर सके, जिनमें से कई भ्रष्टाचार के लिए कुख्यात हुए पर उनके स्नेह ने अपनों को अपने आगोश में ऐसा समेटा कि वे जीवन भर उससे आप्लावित होते रहे। कोटा रियासत में शासन सचिव रहते हुए, डॉ. साहब एक निष्पक्ष शासक के रूप में प्रसिद्ध हुए थे। यद्यपि कोटा के बाहर के निवासी कर्मचारियों के वे सिद्धान्तत: विरुद्ध थे, पर राजस्थान बनने पर मेवाड़ियों द्वारा खुला भाई–भतीजावाद व पक्षपात होते हुए देखकर उनके विचार की दिशा बदल गई और वे कोटा वालों को स्पष्ट तरजीह देने लगे। हुआ यह कि राजस्थान बनने पर उदयपुर स्थित सरकार ने ऐसी नीति बनाई कि कोटा के अधिकांश अधिकारी सेवानिवृत्त कर दिये। उच्च–अधिकारियों में डॉ. मथुरालालजी, विष्णुदत्तजी, भाई साहब परमानंदजी साहब कुछ अधिकारी ही बचे थे, स्वाभाविक था कि हाड़ौती के कर्मचारी व प्रत्याशी उनका आश्रय तकते थे और वे ऐसी सुदृढ़ चट्टान थे जो उनको अपनी छाया देती थी।

बहन रामप्यारी शास्त्री :

डॉ. साहब के दर्शन मैंने बाल्यकाल में ही कर लिये थे। हम लोग तब रामपुरा में चौक में रहते थे, और पिताजी के साथ रात को बाज़ार में गर्ल्स स्कूल के नीचे मुकादम साहब की दुकान पर बैठा करते थे, बहन रामप्यारी शास्त्री तब उस स्कूल की हैडमिस्ट्रेस थीं। डॉ. साहब के ताँगे में वे स्कूल आतीं। डॉ. साहब भी कभी–कभी ताँगे में बैठे दिख जाते थे। उन दिनों कोटा के कर्मचारी समुदाय में देशी–परदेशी का प्रश्न बड़ा गरम था। इस सदी के प्रारम्भ में अँग्रेज़ी जानने के कारण उत्तर प्रदेश व पंजाब आदि के अनेक व्यक्ति रियासत की नौकरियों में घुस आए थे। जब कोटा के युवक पढ़कर अँग्रेज़ी–दां हुए तो उनमें नौकरियों के लिए प्रतिस्पर्धा होना ज़रूरी था। ख़ासकर पीढ़ियों से नौकर पेशा जातियों, विशेषकर स्थानीय ब्राह्मणों व कायस्थों में यह भावना अति प्रबल थी। डॉ. साहब इस पक्ष के प्रमुख प्रवक्ता थे। वे राजनीतिक सचिव भी थे अत: विरोधी समूह में डॉ. साहब का जिक्र रोज़ ही होता था। पर वे ऐसे तेजस्वी थे कि कोई उनके सामने बोलने की हिम्मत नहीं कर सकता था।

भारत छोड़ो आन्दोलन में :

थोड़ा बड़ा हुआ तो उन्हें आर्यसमाज के

अधिवेशनों में धारा प्रवाह हिन्दी व संस्कृत बोलते देखा तो लगा कि विद्वान् ऐसे होते हैं। 1942 का वर्ष आया। देश में अँग्रेज़ों भारत छोड़ो, आन्दोलन छिड़ा हुआ था। कोटा में रोज़ प्रभात फेरियाँ निकलतीं व गौशाला में मीटिंग होती। सुधीन्द्र जी की कविताएँ होतीं। नाथूलालजी की तकरीरें व शंभूदयालजी सक्सेना के भाषण होते। सेठ मोतीलालजी, वकील बेनी माधवजी, ज़ोरावर सिंहजी, हीरालालजी, अभिन्नहरिजी आदि उस समय के नेता थे। सर हरिलाल गोसालिया दीवान थे व सरदार संतसिंह पुलिस के इंसपेक्टर जनरल थे। कुछ गिरफ़्तारियों के कारण सारे शहर में उन दिनों भारी सरगर्मी थी। एक शाम जुलूस ने कोतवाली में घुसने का प्रयत्न किया। भारी लाठीचार्ज हुआ। मैं अपने छोटे भाई प्रेमनाथ के साथ सामने स्कूल के बरामदे में खड़ा तमाशा देख रहा था। हम छोटे-छोटे बच्चे थे कि प्रेम के पुलिस वाले का लट्ठ पड़ा। उसका सिर फूट गया। इस लाठी चार्ज के परिणामस्वरूप जनता बिगड़ गई। कोतवाली पर जनता का कब्ज़ा हुआ। पुलिस भाग गई। शहर कपाट में दरवाजे बंद कर दिये गये थे। शहर में जनता का राज रहा। नेताओ ं की रिहाई की शर्त पर शहर के दरवाज़े खुले पर सर गोसालिया ने आपजी सा. पलायथा व डॉ. साहब के प्रति मन में गाँठ बाँध ली।

कठोर अनुशासनप्रिय :

1945 में हर्बर्ट कॉलेज, कोटा स्नातक स्तर का कॉलेज बना। तत्कालीन प्रिंसिपल बत्ता साहब का इसमें भारी योगदान था। पर शासन ने मौका पाकर डॉ. साहब को कॉलेज के प्रिंसिपल पद पर भेज दिया। बत्ता साहब कॉलेज की नौकरी छोड़कर चले गये। डॉ. साहब अनुशासनप्रिय, सख्त प्राचार्य थे। उनके विरोधियों को विद्यार्थियों को भड़काने का मौका मिला। कॉलेज में हड़ताल हुई वे उसे लड़वाना चाहते थे। वे ताँगे में लड़कों को भरकर कॉलेज पहुँचाते। ऐसे ही एक चक्कर में मैं पकड़ा गया। उन्होंने ताँगे में बैठा लिया। तब पहली बार मैं उनके सम्पर्क में आया। लगा, ऊपर से कठोर दिखने वाला व्यक्तित्व अन्दर से बहुत कोमल है।

नेताओं के आश्रयदाता :

मैं सन् 1947 में जयपुर बी. कॉम करने आया। आज़ादी के पूर्व शर्मा जी ने काँग्रेसी नेताओं की भारी सहायता की थी। मुझे मालूम है कि सन् 1942 के आंदोलन में जयनारायण व्यास जैसे अनेक नेता उनके प्रभाव के कारण कोटा में छिपे रह सके थे। अत: उन्हें आशा थी कि वे नेता उनकी सहायता करेंगे। पर आज़ादी के बाद स्वाभिमान के कारण उनसे शर्माजी की न पट सकी। उनकी प्रतिज्ञा ऐसे साधारण मौकापरस्तों की खुशामद न कर सकी। तत्कालीन शिक्षामंत्री प्रेमनारायण माथुर को भी अपनी काबलियत व प्रशासनिक क्षमता का अभिमान था। शर्मा जी से उनकी कतई न पट सकी। उनका तबादला जयपुर महाराजा कॉलेज में कर दिया गया। शर्मा जी उन दिनों जयपुर में अजमेरी गेट के बाहर की सरकारी होटल में जिसमें आजकल पुलिस का दफ़्तर है, दो कमरों में रहते थे। शाम को बुर्जी पर उनका दरबार लगता। मैं भी उसमें शामिल होता। उनका वैभव ऐसा था, कि जिसकी खिंचाई करते थे उधेड़ते ही चले जाते, पर उस खिंचाई को सुनने में भी आनंद आता था। हम हँसते रहते, पर गलती से यदि उनकी बात काट दी जाती तो डॉ. साहब की त्यौरियाँ चढ़ जातीं। उनसे जयपुर का स्टाफ़ पूर्व प्राचार्य वर्माजी से पुराने स्नेह के कारण सहयोग नहीं कर रहा था। कॉलेज की मैगज़ीन निकलनी थी। मुझे और सतीश पंडित को विद्यार्थी सम्पादक बनाया गया। उनका मुझ पर इतना विश्वास था कि जो भी मैंने कहा माना, बिना जाँच

किये प्रत्येक वाउचर पर हस्ताक्षर किये, जबकि मैं मात्र एम.ए. का विद्यार्थी था। पत्रिका निकली, उसमें सबसे ऊपर उनका चित्र छपा था। हमारे लोकप्रिय प्राचार्य डॉ. शर्मा (Our Popular Principal Dr. M.L. Sharma) यह देखकर वे अति प्रसन्न हुए।

उनका हृदय इतना वात्सल्यपूर्ण था कि हम लोग उनके पास बंगले पर चले जाते। खाते-पीते, हँसते-हँसाते। उनको फ़ोटो खिंचाने के लिए बहुत मनाया, नहीं माने तो जिद करके टाँक स्टूडियो ले जाकर फ़ोटो खिंचवाया। कॉलेज मैगज़ीन का वह फ़ोटो उनका एक श्रेष्ठ फ़ोटो है। उन दिनों की एक घटना से उनकी न केवल विद्वता बल्कि उनकी अदम्य निर्भीकता का भी पता चला। कॉलेज में एक विचारगोष्ठी थी। बाहर के विद्वान् आये थे। शिक्षामंत्री प्रेमनारायण जी अध्यक्ष थे। अध्यक्षीय भाषण के बाद उन्होंने मंत्री के भाषण की ऐसी धूल उड़ाई कि प्रेमनारायणजी तिलमिला गए। उनके मंत्री पद से हटने के बाद वे शिक्षा विभाग के निदेशक बना दिये गये। उन दिनों बड़े-बड़े निर्णय हुए। देश में त्रिभाषा फार्मूला लागू हुआ। उनका उन निर्णयों में बड़ा हाथ था। उन दिनों मेरा लेक्चरार के पद पर चुनाव हुआ। दफ़्तर ने मुझे डीडवाना नियुक्त किया। मैं बिजनौर से नौकरी छोड़कर जयपुर आया तो मैंने उन से निवेदन किया कि मुझे कोटा के पास रखा जाये और उन्होंने मुझे तत्काल दौसा नियुक्त किया। बाद में दूसरे व्यक्ति ने मथुरादासजी माथुर के जरिये बहुत कोशिश की कि मैं दौसा न जा सकूँ, पर वे टस से मस न हुए।

त्रिभाषा फॉर्मूला :

शिक्षा विभाग के निदेशक के पद से सेवानिवृत्त होने के पश्चात् वे कुछ दिन विश्वविद्यालय के वाईस चांसलर भी रहे। बाद में जब तक जीवित रहे, राजस्थान इन्स्टीट्यूट ऑफ़ हिस्टोरिकल रिसर्च का संचालन करते रहे।

गिने चुने विद्वानों में :

उन दिनों जयपुर में दो तीन विद्वानों की बड़ी चर्चा थी, डॉ. मथुरालालजी शर्मा, महामहोपाध्याय गिरधर शर्मा और डॉ. मथुरानाथजी व मोतीलाल शास्त्री पर उनकी प्रतिभा अप्रतिम थी। वे हिन्दी व अँग्रेज़ी में धाराप्रवाह भाषण देते ही थे। संस्कृत व फ़ारसी व अपभ्रंश के ज्ञाता थे। उनके पास बैठ कर लगता था जैसे किसी विद्यावारिधि के पास बैठे हों। उनका भाषण सुनते हुए जी नहीं भरता था। शब्दों व विचारों का प्रवाह बाँधे रखता था। बीच-बीच में चुटकियाँ व कटाक्ष करते रहते थे। अच्छा से अच्छा विद्वान् उनकी प्रतिभा का लोहा मान कर लौटता था। उनका हृदय इतना वात्सल्य पूर्ण था कि जो उनके हो जाते उनको वे जोखिम उठाकर भी संरक्षण देते थे। कोटा व हाड़ौती वालों के प्रति उनके मन में विशेष प्रेम था। ऐसे स्वाभिमानी थे कि जीवन भर किसी से न दबे। 'हरीचंद नकद दमाद अभिमानी' के वास्तव में वे अभिमानियों के नकद दामाद ही थे। जीवन भर गोसालिया, प्रेमनारायण माथुर या डॉ. मोहनसिंह मेहता जैसे व्यक्तित्वों से टकराते रहे। नतीजन भौतिक जीवन में वह पद न पा सके जिसकी काबिलियंत उनमें थी। राष्ट्रीय आंदोलन में उनका भारी योगदान था। और उनमें मुख्यमंत्री बनने की योग्यता थी। शिक्षामंत्री के लिए तो वे बहुत उपयुक्त थे, पर तत्कालीन राजनीति ने उन्हें कोटावादी कहकर उभरने नहीं दिया। उनकी प्रतिभा का एवं प्रशासनिक क्षमता का पर्याप्त उपयोग न हो सका। कोटा की पलायथे की धरती ने ऐसा लाल पैदा किया जो प्रतिभा, स्नेह व स्वाभिमान की मूर्ति था, ऐसे व्यक्तित्व को सहस्त्र नमन!

161, विद्युत नगर-बी, जयपुर

❑

इतिहास के पुरोधा महर्षि : डॉ. शर्मा

- डॉ. विश्वेश्वरस्वरूप भार्गव

महान् विभूति :

हाड़ौती अंचल की महान विभूति डॉ. मथुरालाल शर्मा राजस्थान के हेरोडोटस थे। उन्होंने कोटा एवं जयपुर में ही नहीं समूचे राजस्थान में इतिहास का अलख जगाया था। भूतपूर्व कोटा रियासत के हृदयस्थल तहसील बारां में जन्मे डॉ. साहब ने अपनी विलक्षण प्रतिभा के फलस्वरूप बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से 1937 में इतिहास में डी. लिट् की उपाधि प्राप्त कर लेने के पश्चात् 1939 में कोटा राज्य का इतिहास दो जिल्दों में लिखा। राजकीय महाविद्यालय, कोटा में इतिहास के प्राध्यापक के रूप में आपने 1947-48 में ही इतिहास विषय में स्नात्कोत्तर कक्षाएँ प्रारम्भ करवाईं, जो आपके कोटा से जयपुर स्थानान्तरण के पश्चात् 1952 में बंद हो गई थी। तदुपरान्त बीस वर्ष के अन्तराल के पश्चात् 1972 में इतिहास विषय में एम. ए. की कक्षाएँ पुनः प्रारम्भ हुईं। इतिहास के अध्ययन-अध्यापन की मशाल जलाए रखने के खातिर आपको तत्कालीन शिक्षाविदों के विरुद्ध निरन्तर संघर्ष करना पड़ा। राजस्थान के प्रथम शिक्षामंत्री, श्री प्रेमनारायण माथुर ने अपनी व्यक्तिगत अप्रसन्नता के कारण डॉ. साहब का स्थानान्तरण कोटा से जयपुर कर दिया था। राजस्थान विश्वविद्यालय में इतिहास विषय के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था आपके प्रयासों के फलस्वरूप ही प्रारम्भ हो सकी थी। इतिहास विभाग के प्रथम प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष के रूप में आपने राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर में शोध कार्य प्रारम्भ किया था। उस समय वृहद् राजस्थान का गठन हो चुका था तथा तत्कालीन उपकुलपति, डॉ. मोहनसिंह मेहता के कारण राजकीय सेवा से मुक्ति लेकर डॉ. साहब ने 'सी' स्कीम स्थित किराये के मकान 'रंग भवन' में रहते हुए सर्वप्रथम डॉ. सत्यप्रकाश श्रीवास्तव को पी-एच.डी. की उपाधि दिलाई। उनके शोध का विषय था "India under Guptas: A Study in Culture" गुप्तकालीन इतिहास पर इस मौलिक कार्य की प्रंशसा विद्वान्-सर्वश्री राधा कमल तथा राधाकुमुद मुखर्जी ने भी की थी। डॉ. आर. जी. मंडारकर एवं डॉ. नीलकण्ठ शास्त्री जैसे प्राचीन भारतीय इतिहास के अधिकृत विद्वानों का राजस्थान विश्वविद्यालय की ओर ध्यान आकृष्ट करने का कार्य डॉ. सत्यप्रकाश के शोध कार्य के परिणामस्वरूप ही हुआ।

राजस्थान के इतिहास पर शोध :

तदुपरान्त डॉ. साहब की मुँहबोली बहन रामप्यारी शर्मा ने आपके निर्देशन में ''जालिमसिंह झाला'' के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। कर्नल टॉड की भ्रान्तिमूलक पुस्तक तथा सूर्य्यमल्ल मिश्रण की समकालीन कृति वंशभास्कर के आधार पर जालिमसिंह झाला की कोटा राज्य के दीवान तथा झालावाड़ राज्य के संस्थापक के रूप में भूली-बिसरी भूमिका को उजागर करके डॉ. साहब ने इतिहास के जिज्ञासु विद्यार्थियों का ध्यान राजस्थान के इतिहास पर शोध करने की ओर आकृष्ट किया। इस शोध प्रबन्ध को

डॉ. साहिब ने ही सन् 1971 में प्रकाशित करवा कर ऐतिहासिक जानकारी उपलब्ध कराई थी जिसका लाभ कालान्तर में कोटा के इतिहास पर शोध करने वालों को मिला।

तत्पश्चात् इतिहास विषय में शोध कार्य को सुगम बनाने के उद्देश्य से डॉ. साहब के प्रस्ताव पर राजस्थान के तत्कालीन मुख्यमंत्री, श्री मोहनलाल सुखाड़िया ने पुरालेखा विभाग की स्थापना की जिसके प्रथम निदेशक आप ही थे। उस समय विभिन्न देशी राज्यों के मुआफिकखानों तथा पुस्तकालयों में तितर-बितर पड़ी हुई ऐतिहासिक सामग्री का सर्वेक्षण करने के लिए इस लेख के लेखक तथा उसके सहपाठी श्री बैकुण्ठनाथ चतुर्वेदी को क्रमशः उदयपुर एवं जोधपुर में सर्वेयर के पद पर नियुक्त किया गया। डॉ. कृष्णस्वरूप राजोरा को जयपुर के रिकार्ड का सर्वेक्षण करने का काम सौंपा गया था। इसी समय आबू पर्वत पर ब्रिटिश शासन के ए. जी. जी. के कार्यालय के रिकार्ड का राजस्थान विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में स्थानान्तरण किया गया। इस सुविधा का लाभ उठाकर डॉ. साहब ने स्वयं सर जदुनाथ सरकार द्वारा लिखित जयपुर रियासत के इतिहास की पांडुलिपि का पुनर्लेखन किया तथा उसे सन् 1969 में 'History of Jaipur State' के नाम से प्रकाशित किया।

व्यक्तिगत जानकारी :

डॉ. मथुरालालजी के निर्देशन में लगभग 40 छात्र-छात्राएँ राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर से इतिहास एवं राजनीतिशास्त्र विषयों में पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त कर चुके हैं, जिनकी विषय सूची उपादेय है। इन शोधार्थियों के शोध कार्य का विश्लेषण किया जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश शोध कार्य भूतपूर्व देशी रियासतों - जयपुर, उदयपुर एवं तत्कालीन राजपूताना की अन्य बड़ी रियासतों से सम्बद्ध विषयों पर तथा प्राचीन भारतीय इतिहास की ज्ञात समस्याओं एवं घटनाओं को लेकर करवाया गया था। यहाँ यह उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा कि शोध का विषय स्वयं डॉ. साहब सुझाते थे। विषय रूपरेखा भी स्वयं लिखवाते थे और कई शोधार्थियों को शोधप्रबन्ध तो उन्होंने स्वयं पूरा करवाया। मैंने स्वयं देखा है कि डॉ. साहब अपने तत्कालीन पी.ए. श्री मगनलाल वर्मा को दिन-रात काम पर लगाए रहते थे। यह अलग बात है कि उनके निर्देशन में डॉ. की उपाधि प्राप्त करने वाले विद्वान् उनके ऋण एवं असीम कृपा का गुणगान करें अथवा नहीं, लेकिन इस तथ्य को मैंने अपनी व्यक्तिगत जानकारी के आधार पर लिखा है। डॉ. ज्ञानप्रकाश पिलानिया सम्भवतः एक मात्र अपवाद हैं जिनके शोध प्रबन्ध को डॉ. साहब ने मेरे सक्रिय मार्गदर्शन में छोड़ा और उनकी मौखिक परीक्षा भी तत्कालीन उपकुलपति न्यायमूर्ति श्री वेदपाल त्यागी को विशेष अनुमति से उनके निवास स्थान पर ही हुई।

आदर्श पुरुष :

इतिहास के प्रकाण्ड विद्वान विशेष रूप से प्राचीन भारतीय इतिहास और राजस्थान के इतिहास के ज्ञाता होने के नाते डॉ. मथुरालालजी ने अपने जीवन में पुरातन भारतीय परम्परा को उतारा था। आपने अपनी माताजी की तन, मन, धन से सेवा करने के साथ कोटा राज्य के दीवान मेजर जनरल आप सर औंकारसिंह पलायथा तथा उनके परिवार की सेवा की, क्योंकि उनके जीवन को बनाने में आपजी साहब का सहयोग मिला था जिसे उन्होंने जीवनपर्यन्त याद रखा। उनके अध्ययन कक्ष में अन्त समय तक आपजी साहब का चित्र टँका रहा। सुश्री डॉ. रामप्यारी शास्त्री का उन्होंने अन्त समय

तक साथ दिया। मेरे स्वर्गवासी पिताजी को उन्होंने राजकीय हाई स्कूल कोटा में नवीं, दसवीं कक्षा में पढ़ाया था अतएव डॉ. साहब उन्हें भी अपने पुत्रों के समान ही विश्वासपात्र मानते थे। इस प्रकार वे पुरातन भारतीय परम्परा के महान् आदर्श पुरुष थे।

इतिहास लिखने के लिए विभिन्न भाषाओं का ज्ञान होना आवश्यक है जिसके अभाव में ठोस शोध कार्य नहीं हो सकता। इसलिए डॉ. साहब उनके निर्देशन में शोध करने वालों को प्राचीन भाषाओं के पठन-पाठन के लिए प्रेरित करते थे। मुझे स्वयं उन्होंने सन् 1955 में निर्देश दिया था कि कोटा में रहकर पंडित कृष्णगोपाल के सान्निध्य में हाड़ौती भाषा लिखना पढ़ना सीख लूँ। मेरे जीवन में उनका यह सुझाव इतना अधिक लाभप्रद सिद्ध हुआ कि मैं अनपे जीवन में मारवाड़ एवं ढूंढार के इतिहास पर शोध और पुनर्लेखन का कार्य सुगमतापूर्वक कर सकता। डॉ. साहब ने स्वयं बाबा की आत्मकथा 'तुजुक-ए-बाबरी' का फ़ारसी से हिन्दी में अनुवाद किया जो डॉ. अहतर अब्बास रिज़वी के द्वारा अनूदित मुग़लकालीन भारत (बाबा) से बहुत पहले प्रकाशित हो चुका था।

अन्त में यह निवेदन करना अतिश्योक्ति नहीं होगी कि डॉ. मथुरालालजी शर्मा वास्तव में राजस्थान इतिहास के पुरोधा महर्षि थे। एक शोधकर्त्ता एवं इतिहासकार के रूप में उनकी छवि को परवर्ती प्रोफ़ेसर ने धूमिल करने के भरसक प्रयत्न किए लेकिन वे उनकी तुलना में हमेशा लिलिपुटियन ही बने रहे। डॉ. साहब केवल एक लेखक ही नहीं थे वे ओजस्वी वक्ता भी थे। इसलिए उनके द्वारा दिए गए क्लास लेक्चर उनके छात्रों के लिए इतने अधिक रोचक, शिक्षाप्रद एवं हृदयग्राही होते थे कि आज भी उनके पुराने विद्यार्थी उसे भुला नहीं पाते। इतिहास के प्रति अपनी पीढ़ी के लोगों को आकर्षित करके कर्नल टॉड, ओझाजी, गहलोतजी तथा बहुत कुछ हद तक वीरविनोद के कक्षा प्रसंगों में शोध करके राजस्थान के इतिहास के पुनर्लेखन का श्रीगणेश किया जिसके प्रकाश में वर्तमान युग के शोधार्थी उनके अधूरे कार्य को पूरा करने में लगे हुए हैं।

❑

विरल विभूति

राजस्थान की जिन विभूतियों ने देश का नाम ऊँचा किया, उनमें डॉ. मथुरालालजी का नाम गर्व से लिया जाता है। उन्होंने कोटा तथा जयपुर का इतिहास लिखकर उन सत्य घटनाओं को उजागर किया जो अन्यथा विस्मृति के गर्भ में विलीन हो जातीं। मैंने उन्हें अपने विद्यार्थीकाल में उस समय देखा और मिलने का संयोग भी प्राप्त किया जब मैं हर्बर्ट कॉलेज कोटा में पढ़ता था। वे निर्धन विद्यार्थियों के लिये एक वरदान के समान प्रकट होते थे। मैं ऐसे कई विद्यार्थियों को जानता हूँ जो धनाभाव के कारण अपनी शिक्षा को आगे बढ़ाने में अपने आप को असमर्थ पाते थे। डॉ. साहब अपना वरदहस्त उनके सिर पर रख देते और उनकी सभी बाधाएँ दूर हो जाती थीं।

डॉ. साहब की याददाश्त गज़ब की थी, उन्हें रामचरितमानस तथा श्रीमद्भगवत् गीता कण्ठस्थ थी, मेरे मित्र श्री कृष्णस्वरूप राजौरा बताते हैं कि, डॉ. साहब ने कार से यात्रा में अलवर जाते समय गीता मेरे हाथ में दे दी और बिना एक श्लोक भी छोड़े पूरी गीता अपने मधुर स्वर में सुना दी।' आर्यसमाज में जब कभी उनका प्रवचन होता बहुसंख्य श्रोता उनके उद्गारों को दत्तचित्त होकर सुनते।

– सुरेन्द्रमोहन शर्मा

बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी– डॉ. शर्मा

– डॉ. ब्रह्मानन्द शर्मा

सम्भवत: सन् 1954 में जोधपुर में राजस्थान संस्कृत सम्मेलन की बात है। मैं इसमें भाग लेने हेतु अपने श्रद्धेय गुरु श्री विद्याधर शास्त्री के साथ बीकानेर से जोधपुर गया हुआ था। मैंने देखा कि एक विद्वान् अपनी असाधारण एवं ओजस्विनी वकृता द्वारा संस्कृतानुरागियों को नवीन शिक्षण पद्धति से संस्कृत भाषा का ज्ञान करा रहा है। पूछने पर ज्ञात हुआ कि ये ही राजस्थान के प्रसिद्ध इतिहासकार एवं भाषाविद् डॉ. मथुरालाल शर्मा हैं। संस्कृत वकृता में इनकी असाधारण गति और भाषा की प्रांजलता देखकर मैंने अनुमान लगाया कि ये मूलत: संस्कृत विषय के व्यक्ति होंगे, परन्तु जब मुझे ज्ञात हुआ कि ये मूलत: इतिहास के व्यक्ति हैं तो संस्कृत एवं संस्कृति के प्रति उनकी निष्ठा एवं समर्पण भावना को देखकर मुझे अपार हर्ष हुआ। आज सत्तर वर्ष की अवस्था में जब कभी 'अक्षरा' के संस्कृत कार्यक्रम हेतु मुझे दूरदर्शन पर जाना होता है तो सहज संस्कृत बोलने की सामर्थ्य वाले सहयोगियों की न्यूनता देखकर मुझे डॉ. मथुरालाल शर्मा का स्मरण हो आता है। डॉ. शर्मा राजस्थान के उन इने-गिने व्यक्तियों में हैं जिन्होंने संस्कृत विषय के व्यक्ति न होने पर भी संस्कृत एवं संस्कृति की महान् सेवा की। उन्हीं की श्रेणी में राजस्थान के एक और व्यक्ति आते हैं जो अभी जीवित हैं। वे हैं श्रद्धेय लक्ष्मीलाल जी जोशी।

डॉ. शर्मा की इस संस्कृत सेवापरायणता का रहस्य था सांस्कृतिक मूल्यों में विश्वास के साथ उनकी सत्यनिष्ठा और स्पष्टता। आज के इस प्रदर्शनबहुल और सांस्कृतिक मूल्यों के ह्रासोन्मुखी युग में सत्य और स्पष्टता का स्थान आवरण ने ले लिया है और ज्ञान के क्षेत्रों का तीव्रता से व्यापारीकरण हो रहा है। इसीलिए मुझे अपने एक लेख में लिखना पड़ा कि -

"सम्प्रति ज्ञानस्य प्रायेण-सर्वेषां क्षेत्राणां व्यापारीकम्णम। अत्रत्या जना आवृता: सुगुप्ताश्चेति धर्मशास्त्काञ्चुकधारिणामपि तेषामर्थरुढत्वाद् वणिग्वृत्तिता"।

-भारती पत्रिका जुलाई 1991 पृष्ठ - 340

आचार्य शंकर ने कहा था कि ब्रह्म सत्य है तथा यह संसार उस पर एक आवरण है परन्तु विधि की विडम्बना देखिए कि यह संसार बना हुआ है तथा उसने अपने पर एक आवरण और धारण कर रखा है।

ऐसे समय में डॉ. शर्मा का पारदर्शी और आडम्बरविहीन व्यक्तित्व हमारे पीड़ित मन के लिए सम्बल का कार्य करता है।

भारतीय संस्कृति के विषय में डॉ. शर्मा के विचार सुचिन्तित एवं स्पष्ट थे। वे निर्भीकता के साथ कहा करते थे कि यह संस्कृति सत्य एवं उदारता का पर्याय है। इस प्रसंग में एक सत्य बहुधा विप्रा वदन्ति इस प्रसिद्ध वेदमन्त्र को उद्धृत किया करते थे। अपने शिष्य प्रो. के एस. राजोरा के घर अजमेर में वे प्राय: आया करते थे। प्रो. राजोरा के साथ मेरे पारिवारिक सम्बन्ध थे अत: मैं उनके घर डॉ. शर्मा से प्राय: मिलने चला जाता था। चर्चा के प्रसंग में उपर्युक्त वेदमन्त्र के महत्त्व का विषय प्राय: आ जाता था। भारतीय सामाजिक व्यवस्था के सम्बन्ध में वे जन्म पर बल न देकर संस्कारों पर बल देते

थे तथा इनके फलस्वरूप ही मनुष्य का द्विजत्व और ब्राह्मणत्व में पर्यवसान मानते थे। उनके तथा श्रद्धेय गुरु श्री विद्याधरजी शास्त्री के इन उदार विचारों का मुझ पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। अतः सन् 1979 में स्वामी करपात्रीजी द्वारा रचित तथा श्री पट्टाभिरामजी द्वारा सम्पादित वेदार्थपारिजात शीर्षक ग्रन्थ में जब महर्षि दयानन्द प्रणीत ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका की वेदाश्रित मान्यताओं का अधिक्षेपपूर्ण भाषा में अक्षरशः निराकरण के साथ एक विवादप्रधान शैली का अवलम्बन किया गया तब मैंने इसके प्रत्युत्तर में एक समन्वयवादी दृष्टि तथा शिष्ट शैली अपनाई थी। सन् 1985 में पण्डितों के एक वर्ग ने यू. पी. सरकार द्वारा इसी विवादास्पद पुस्तक वेदार्थपारिजात पर एक लाख रुपये की राशि का सर्वोच्च पुरस्कार दिलाकर अपनी सफलता समझी थी। मैंने यू. पी. के राज्यपाल को सम्बोधित दिनांक 18-11-1989 के अपने पत्र में इस पुरस्कार का स्पष्ट विरोध करते हुए लिखा था कि संविधान विरोधी तथा समाज में साम्प्रदायिकता का प्रश्रय देने वाली ऐसी पुस्तक पर पुरस्कार देना उचित नहीं। यह एक विडम्बना ही है कि संकीर्ण विचारधारा वाली संविधान विरोधी पुस्तकों को पुरस्कार योग्य समझा जाए तथा 'वेदार्थ विमर्श' जैसी समन्वयवादी एवं संविधान सम्मत पुस्तकें उपेक्षित रहें। उस समय अपने इस कार्य में मैंने कतिपय संस्थाओं एवं सज्जनों से सहयोग भी चाहा था परन्तु केवल तीन सज्जनों ने सहायता का आश्वासन दिया संस्थाएँ प्रायः मौन रहीं। ये सज्जन थे डॉ. के. एस. राजोरा, कोटा, डॉ. भवानीलाल भारतीय, जोधपुर तथा प्रो. नेतराम शर्मा, जयपुर। डॉ. राजोरा डॉ. मथुरालालजी शर्मा के शिष्य थे अतः उनकी समाज सम्बन्धी उदार विचारधारा से प्रभावित थे। डॉ. भारतीय, स्वामी दयानन्द के सच्चे अनुयायी थे तथा मेरे शिष्य भी थे। प्रो. नेतराम शर्मा सच्चे और निर्भीक आर्यसमाजी थे। मात्र इन तीन व्यक्तियों का सहयोग ज्ञान क्षेत्र में आई हुई संकीर्णता को रोकने में समर्थ नहीं था। संस्कृत पण्डितों का अधिकांश वर्ग राजस्थान में तथा अन्यत्र येन केन प्रकारेण पुरस्कार प्राप्ति को ही अपने पाण्डित्य का निकष मान बैठा था। संस्कृत साहित्य क्षेत्र में समीक्षा के सैद्धान्तिक पक्ष तथा व्यावहारिक पक्ष का उत्तरोत्तर ह्रास हो रहा था। आचार्य शंकर द्वारा प्रवर्तित तत्त्वविवेचन प्रधान तार्किक शैली वेदार्थ पारिजात के घटाटोपमय आवर्त में फँसकर लक्ष्यविहीन हो गई थी। डॉ. मथुरालाल शर्मा के समान निर्भीक और समाज को स्पष्ट दिशानिर्देश करने में समर्थ व्यक्तित्व के नेतृत्व का राजस्थान के संस्कृत प्रधान ज्ञानक्षेत्र में प्रायः अभाव था। फलतः साहित्य निर्माण की यह अधोमुखी प्रवृत्ति सामाजिक वैमनस्य के झटकों के रूप में प्रकट हुई जिसका प्रभाव उत्तर प्रदेश तथा विशेषतः काशी की पवित्र नगरी के आस-पास परिलक्षित हुआ। मैंने पहले ही यह परिकल्पना कर ली थी कि इस तथाकथित साहित्यिक प्रगति का यही पर्यवसान होगा। इस परिकल्पना का आधार मुझे मिला था डॉ. मथुरालाजी शर्मा के उन सारपूर्ण विवेचनों में जो वे अजमेर में डॉ. राजोरा के यहाँ मेरे सम्मुख मान्यताओं से प्रेरणा लेकर ज्ञानक्षेत्र को सही दिशा प्रदान करें जिससे सौमनस्य पर आधारित एक स्वस्थ समाज का निर्माण हो सके।

---

1. ब्रह्म सत्यमिति प्रोक्तं लोक आवृतिरेख च.

   हेया या हि मता तत्र ह सैवावृता स्थिता ॥

   -तत्त्वशतक श्लोक 17

2. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यःस सुपर्णो गुरुत्मान्।

   एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

   - ऋग्वेद प्रथम मण्डल

3. Honourable Sir,

   I am enclosing herewith a photostat copy of

the resolution passed by Arya Samaj, Kishan-Pole Bazar, Jaipur and published in the paper Arya Martand of December 15, 1988 with the request to kindly look into the matter.

The resolution in short states that the conferring of an award of Rs. one lakh by the U.P. Government in the year 1985 on Shri Swami Karpatriji's book 'वेदार्थ परिजात' which besides contain unparliamentary and derogatory remarks against Maharishi Dayanand also contains matter against our constitution as well, is not based on principles of proper literary evaluation, (kindly see page 2 lines 1-5 and page-4 lines 16,17).

I May here add that I, too have written a book 'वेदार्थ विमर्श' in chaste and refined sanskrit quite keeping with the secular and democratic set up of our country. It has been cited as a model for the authors interested in writing on religion and philosophy. It is, indeed, unfortunate that instead of adopting an unbiased and conciliatory approach, the author of 'Vedartha Parijata' chose a dogmatic approach and did not hesitate to cast aspertions on the followers of a particular sect and the founder of that sect. It is, however, all the more unfortunate that instead of discouraging such writing the august committee entrusted with the task of awarding prizes thought it fit to confer an award on this book written in disregard of the democratic and secular spirit of our constitution.

Yours faithfully
Brahmanand Sharma
Retired Professor of Sanskrit
7-k-15 Jawaharnagar, Jaipur

भूतपूर्व निदेशक
राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान
7-क-15, जवाहर नगर, जयपुर

❑

कीर्ति पुरुष

डॉ. मथुरालाल शर्मा की अनुकम्पा से ही, उनके चरण कमलों में बैठकर मैंने 'सवाई जयसिंह की सांस्कृतिक विरासत' पी-एच.डी. का शोध प्रबन्ध लिखा था। उनका जयपुर राज्य के इतिहास का ज्ञान, अगाध एवं अनूठा था। वे भाषाविद् थे एवं उनकी भाषणकला श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध कर देती थी।

अखिल राजस्थान आर्यसमाज के अध्यक्ष के रूप में सामाजिक चेतना एवं सुधार के क्षेत्र में उनका योगदान चिरस्मरणीय है।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी, डॉ. शर्मा वास्तव में राजस्थान के कीर्ति पुरुष थे। ऐसे नरपुंगव ही, माँ की कोख को उज्वल करते हैं, कुल को पवित्र करते हैं एवं धरती के भूषण होते हैं।

- डॉ. ज्ञानप्रकाश पिलानियाँ
सेवानिवृत्त महानिदेशक (पुलिस)
राजस्थान

इतिहास पुरुष डॉ. मथुरालाल शर्मा

- डॉ. के. एस. राजोरा

डॉ. मथुरालाल शर्मा इतिहास जगत के देदीप्यमान सितारे थे। उन्होंने अपनी विद्वतापूर्ण लेखनी से राजस्थान को भारतीय इतिहास में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त कराने में महत्वपूर्ण योगदान दिया था। अपने अथक एवं अश्रान्त शोध प्रयासों द्वारा डॉ. शर्मा ने राजस्थान के अज्ञात तथा धूमिल ऐतिहासिक कोनों को आलोकित किया था।

इतिहास मन्दिर के कलश :

डॉ. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने तो उदयपुर, जोधपुर, बीकानेर, डूँगरपुर, बाँसवाड़ा, प्रतापगढ़ तथा सिरोही रियासतों के इतिहास लिखकर राजस्थान के राज्यों को इतिहास की कड़ी में पिरोकर न केवल राजाओं और महाराजाओं की कीर्ति को ही अमर किया है अपितु राजस्थान के जनमानस को वीरता व शौर्य की गाथाओं में उच्चतम शिखर पर पहुँचाकर थर्मोपोली की कहानियों को फीका कर दिया। परन्तु ओझा जी की लेखनी से हाड़ौती व ढूंढार (याने जयपुर) का क्षेत्र अछूता रह गया। इस कमी को डॉ. मथुरालाल शर्मा ने क्षेत्र की उच्च परम्पराओं के अनुरूप ही कोटा तथा जयपुर के इतिहास लिखकर राजस्थान के इतिहास की कमी को ही दूर नहीं किया अपितु गौरवमयी इतिहास मंदिर के कलश पर पताका फहरा दी। कर्नल टॉड ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ Annals and Antiquities of Rajasthan में अपनी चमत्कारी व अद्‌भुत लेखनी से राजस्थान के इतिहास को गौरवान्वित किया। डॉ. मथुरालाल शर्मा ने कोटा के इतिहास को दरबारी इतिहास से उठाकर अर्वाचीन ऐतिहासिक पद्धतियों का प्रयोग कर आधुनिक इतिहास की शैली व स्वरूप प्रदान किया, जो शोध प्रबन्धों की आधारशिला बन चुका है। जयपुर के इतिहास को तो उन्होंने राजनीतिक इतिहास का स्वरूप देकर शोध में नवीन युग का सृजन किया और मध्यकालीन राजपूती सामाजिक मान्यताओं को उत्पीड़न से ही नहीं बचाया अपितु आमेर के ऐतिहासिक शिखरों पर स्वर्ण कलश लगा दिये। उनके अनुसार जयपुर के राजघरानों ने बहुत सीमा तक भारतीय संस्कृति व साहित्य व विज्ञान की रक्षा में योगदान दिया है। जिसके लिए भारत की वर्तमान पीढ़ी कृतज्ञ है।

दुर्लभ सामग्री के प्रयोक्ता :

डॉ. शर्मा ने अपने ग्रन्थों को लिखने में राजस्थानी, हिन्दी, फ़ारसी, अँग्रेज़ी, उर्दू, मराठी स्रोतों के अतिरिक्त पुरालेखों, शिलालेखों, ताम्रपत्रों और अनेक अप्राप्य हस्तलिखित पांडुलिपियों का उपयोग किया, जो उन्हें कोटा व जयपुर के राजघरानों, आठों कोटरियात के जागीरदारों के सौजन्य से प्राप्त हुई थी अथवा उन्होंने स्वयं स्थान-स्थान पर जाकर दुर्गम रास्तों पर भ्रमण कर जुटाई थी। उनको अँग्रेज़ी, हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, फ़ारसी तथा मराठी भाषाओं का उत्कृष्ट ज्ञान था और वे इन भाषाओं में धाराप्रवाह भाषण दे सकते थे। जिन लोगों ने डॉ. शर्मा के भाषण सुने हैं, उनका कहना है कि उनके मुख से सरस्वती की अमृतधारा का प्रवाह होता था। वे माँ सरस्वती के अनन्य पुजारी एवं यशस्वी अराधक थे। उनको हज़ारों श्लोक कंठाग्र थे। गीता, श्रीरामचरितमानस का वे निरन्तर पाठ, अध्ययन व विवेचन करते थे। वे संत शिरोमणि, महाकवि तुलसी के मानसहंस थे। माँ

सरस्वती अपने सिद्ध गिरा पर आरूढ़ होकर उनके शरीर और आत्मा में विराजती थीं। सम्भवत: इसी कारण उनमें अगाध आत्मविश्वास था और अपने सरस्वती साधना और आत्मगौरव से आश्वस्त होकर ही वे बड़ी-बड़ी सभाओं में अपनी विद्वता की अमिट छाप छोड़ आते थे, चाहे वह अखिल भारतीय इतिहास काँग्रेस हो या संस्कृत विद्वानों का सम्मेलन।

21 वीं शताब्दी के उस पार :

डॉ. शर्मा अपने ओजस्वी भाषण का लाभ अन्य सामाजिक संगठनों, आर्यसमाज की सभाओं व सम्मेलनों में भी दिया करते थे। उनके श्रोता शीतलहर के बावजूद घण्टों उनके भाषण की प्रतीक्षा करते थे। युद्ध, अज्ञानता, ग़रीबी, रोग, भयग्रस्तता की इस मस्त धरती पर वे वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार के माध्यम से मानव जाति में आत्मविश्वास व आत्मगौरव को प्रतिष्ठित कर स्वराज्य व स्वाधीनता का सन्देश देते थे। उनका विश्वास "कृणवन्तौ विश्वं आर्य" में था और इसी के माध्यम से वे विश्व शान्ति के पक्षधर थे। वे अपनी दिव्यदृष्टि से श्रोताओं को 21 वीं शताब्दी के क्षितिज के उस पार के दर्शन करा दिया करते थे। उनका जीव और जगत का सम्बन्ध विश्लेषण विज्ञान और शास्त्रों के वाचाल वातावरणों में यावज्जीवन में धर्म-धारण, भरण-पोषण के लिए चेतना का संचार करता था। इसीलिए वर्षों तक उन्होंने आर्यसमाज के सर्वोच्च संगठन आर्य प्रतिनिधि सभा का नेतृत्व वर्षों अपने सशक्त कंधों पर रखा। उन्होंने अपनी अपूर्व विद्वता, वाग्मिता तथा कुशल नेतृत्व से आर्यसमाज के सन्देश को सार्वदेशिक स्तर पर पहुँचाया। शिक्षा निदेशक के रूप में उन्होंने आर्यसमाज में दिये वचन को संस्कृत शिक्षा को आठवीं कक्षा तक अनिवार्य कराकर देववाणी संस्कृत की अभूतपूर्व सेवा की है।

पलायथा राजकुमारों के गुरु :

डॉ. शर्मा का यद्यपि दृष्टिकोण राष्ट्रीय एवं अन्तराष्ट्रीय रहता था, फिर भी उनको अपनी जन्मभूमि व प्रदेश हाड़ौती से अविरल लगाव था। राजस्थान के वीरों की गाथा का उच्चारण वे डिंगल भाषा में भाटों की भाँति करते थे। जब वे युद्ध कवित्त बोलते थे तो सिंहासन हिल उठते थे, तोपों की ध्वनि कानों को सुनाई देती थी, श्रोता के रोम-रोम में वीरत्व का प्रादुर्भाव हो जाता था। मानों वह भी खड़ग लेकर दुश्मनों के सिरों का संहार कर रहा है। वे पलायथा के राजकुमारों के गुरु थे और जयपुर के महाराज मानसिंह व राजस्थान के राजघराने उनको गुरु का सम्मान "मास्टर साहब" कहकर करते थे। वे हाड़ौती की कला व साहित्य के मर्मज्ञ उपासक थे।

राष्ट्रीय आन्दोलन में अग्रणी :

डॉ. शर्मा राजघरानों से सम्बद्ध होते हुए तथा सरकारी नौकरी करने पर भी राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्य धारा से जुड़े हुए थे। उनके कोटा निवास तथा अजमेर में ससुराल में अनेक आन्दोलनकारी प्रश्रय पाते थे। उनके इस सम्बन्ध के कारण ही कोटा के प्रधानमंत्री सर हरिलाल गोसालिया ने 1941 में उन्हें महकमा खास के सैक्रेट्री के पद से हटा दिया और हर्बर्ट कॉलेज में उपाचार्य बना दिया। परन्तु प्रतिभा कभी छिपी नहीं रहती। वे शीघ्र ही आचार्य बन गये और बाद में उनका स्थानान्तरण आचार्य महाराजा कॉलेज के पद पर हो गया। सन् 1951 में उनको शिक्षा निदेशक बनाया गया और कुछ समय बाद, कुछ समय के लिए राजस्थान विश्वविद्यालय के वाइस चान्सलर के पद को उन्होंने सुशोभित किया। सेवानिवृत्ति के उपरान्त राजस्थान विश्वविद्यालय में

उन्हें प्रोफ़ेसर के पद पर नियुक्त किया गया। इस काल में और सेवोपरान्त भारत की संस्कृति का विकास, प्राचीन भारत का इतिहास, दिल्ली सल्तनत, तुजुक-ए-बाबरी का अनुवाद, सरकार कृत Fall of the Mughal Empire का अनुवाद, मुग़लों का उदय और वैभव, सर देसाई कृत History of Marathas का अनुवाद, वर्तमान भारत का इतिहास, Science of Divinity Culture and Civilization of India, यूरोप का इतिहास, अंतरराष्ट्रीय सम्बन्ध Lipsar की History of Europe का अनुवाद इत्यादि अनेक ग्रन्थों की रचना की।

माँ सरस्वती का आशीर्वाद प्राप्त :

उनके शोध निरीक्षण में अनेक शोध छात्रों ने पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। वे शोध ग्रन्थ न केवल इतिहास के ही थे, अपितु विधि, राजनीतिक शास्त्र, अर्थशास्त्र, संस्कृत शास्त्र से सम्बन्धित थे। उनके अनेक विषयों के गहन ज्ञान को देखकर शोध छात्र स्तब्ध रह जाते थे। उनके चरणों में बैठकर जिन्होंने शिक्षा ग्रहण की, वे अपने को धन्य मानते थे। कैसे प्रकाण्ड विद्वान के नीर-क्षीर का पान करने का अवसर मिला और कैसे प्रचण्ड विद्यावारिधि में स्नान किया, जिसकी स्मृति मात्र से ही माँ सरस्वती का आशीर्वाद प्राप्त हो जाता है। उनके शिष्य अनेक बड़े पदों पर जैसे लेफ़्टीनेन्ट गवर्नर, भारतीय प्रशासनिक अथवा पुलिस सेवा अधिकारी, प्रोफ़ेसर, राजनेता, लोकसेवा आयोग के सदस्य इत्यादि हैं।

मूर्धन्य विद्वानों द्वारा प्रख्यापित :

डॉ. शर्मा का अनेक विद्वानों से सम्पर्क था, जैसे डॉ. राधाकृष्णन्, डॉ. ए.एस. आल्टेकर, डॉ. यदुनाथ सरकार, डॉ. के.आर. कानूनगो, डॉ. बनारसी प्रसाद, डॉ. विश्वेश्वर प्रसाद, डॉ. एच.एन. सिन्हा, डॉ. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, डॉ. बुद्धदेव विद्यालंकार इत्यादि। डॉ. शर्मा को ये बड़ी आदर की दृष्टि से देखते थे। डॉ. शर्मा ने अपने जीवन को शोध कार्यों के निमित्त कर दिया। उनका जीवन सचमुच विद्या के लिए त्यागमयी परम्पराओं और रीति-रिवाजों का मूर्तिमान प्रतीक था। वे दरिद्रनारायण से सदैव जुड़े रहते थे। उन्होंने अविश्रान्त अध्यवसाय, अद्भुत प्रतिभा, उच्चकोटि का विद्यानुराग एवं अन्वेषक प्रवृत्ति, निस्पृह आत्मोसर्ग के साथ-साथ विमुग्धकारी विनम्रता, सच्ची साधुता, सात्विक सरलता से गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त किया। वे उन कतिपय इतिहासकारों और विद्वानों में से थे, जिन्होंने इतिहास शोध को नई ऊँचाइयों पर पहुँचाया। उन्होने डाइरेक्टर ऑफ़ आरकाइव्ज़ की हैसियत से शोधपत्र व ग्रन्थ भण्डार इतिहासकारों के लिए खोल दिये।

डॉ. शर्मा के अंतिम वर्षों में उनकी नेत्रज्योति कम हो गई थी और हाथ भी काँपने लगे थे, अतः उनके अनेक ग्रन्थ अधूरे रह गये और प्रकाशित नहीं हो सके परन्तु उनका विद्यानुराग अनेक व्याधियों के उपरान्त भी यथावत् बना रहा। विद्वान, पुरातत्वेत्ता एवं इतिहासकार के रूप में डॉ. शर्मा का नाम राजस्थान में ही नहीं अपितु समूचे भारत में अमर रहेगा।

वास्तव में वे हाड़ौती के लाल और समूचे राजस्थान व भारत के विद्याज्योति स्तम्भ थे। उनकी विद्याज्योति सदैव शोधकर्ताओं और इतिहास अनुरागियों का मार्ग प्रशस्त करती रहेगी। ❑

विद्वता के शिखर पुरुष : डॉ. मथुरालाल शर्मा

– डॉ. दयाकृष्ण विजयवर्गीय 'विजय'

डॉ. मथुरालाल शर्मा एक ऐसा नाम है जिसके नामोल्लेख भर से हाड़ौती का वक्षस्थल गौरव से फूल जाता है। डॉ. साहब 'गुदड़ी के लाल' थे। वे धरती के यथार्थ को गगन के औदात्य से मिलाने वाले पुनीत सेतु थे। वे मिट्टी से कुन्दन बने थे। कैसा भी नास्तिक हो, उनके जीवन को पढ़कर भाग्यवादी हुए बिना नहीं रह सकता। हथेली की रेखाओं का विश्वासी हुए बिना वह नहीं रह सकता। परिस्थितियाँ मनुष्य को अवश्य ऊँचा उठाती हैं। उसे जो बनाना होता है वह बनाती हैं परन्तु मनुष्य का परिस्थितियों के साथ संयोग अदृष्य नियति का खेल ही दृष्टिगत होता है। किसी अज्ञात सूत्रधार पृष्ठभूमि होना मन में हठीभूत हो उठाता है।

पलायथा राजकुमारों के अभिभावक :

डॉ. मथुरालाल शर्मा पलायथा आपजी के सहयोग से तत्कालीन कोटा राजकुमार के अभिभावक बन काशी गये थे। जीवन में जो शिक्षा अधूरी रही थी, उसकी पूर्णता का अनायास अवसर मिल गया। डॉ. साहब उससे पूर्व आपजी के अवतंसों के शिक्षक भर थे, परन्तु आपजी के सान्निध्य ने उन्हें राजसत्ता से जोड़ दिया। डॉ. साहब कोटा राज्य का इतिहास लिखकर इतिहासज्ञ हो गये, कॉलेज के प्रिंसिपल हो गये, फिर आगे बढ़ते ही गये, बढ़ते ही गये।

मेरा परिचय उनसे तभी हुआ, जब वे हर्बर्ट कॉलेज, कोटा के प्रिंसिपल थे। मैं इतिहास का विद्यार्थी नहीं था, इसलिए उनका शिष्य नहीं रहा। जब वे कॉलेज के किसी समारोह में बोलते थे तब उनकी वक्तृता सुनकर अचम्भित रह जाता था। क्या विदेशी भाषा अँग्रेज़ी, क्या विदेशी मुगलों के जमाने में जन्मी उर्दू, क्या राष्ट्रीय आन्दोलनों के दिनों में विकसित हिंदी और क्या माँ के दूध के साथ मिली हाड़ौती चारों ही भाषाओं पर उनका बेजोड़ अधिकार था। अधरों से शब्द नहीं, फूल झड़ते थे। वे परिहास करने में निपुण तथा व्यंग्य की भाषा बोलने में चतुर थे। हर विषय पर तो उनका अधिकार ही था। वे विचारों से कट्टर आर्यसमाजी थे। हिन्दी के उन्नायक थे। हिन्दी के लिए समर्पित साहित्यिक संस्था श्री भारतेन्दु समिति के वे अध्यक्ष रहे। मैं श्री भारतेन्दु समिति से जुड़ा तब उसके तत्कालीन कर्त्ताधर्त्ता डॉ. शर्मा के व्यक्तित्व से आक्रान्त तो थे किन्तु प्रशंसात्मक चर्चा करते नहीं अघाते थे। डॉ. साहब के समय में ही हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सन् 1950 का अन्तिम अधिवेशन राजकीय महाविद्यालय के प्रांगण में सम्पन्न हुआ था। इस अधिवेशन में मैंने भी सक्रिय भाग लिया था। एक स्वयंसेवक के नाते डॉ. साहब से मेरा तब विशेष घनिष्ठ परिचय नहीं हुआ था। मैं स्वभावत: ही अधिकारियों से जाकर मिलने से कृतज्ञ रहा हूँ। श्री हनुमानप्रसादजी सक्सेना ने ही मुझे विशारद व साहित्यरत्न करने के लिए प्रेरित किया। 'भारतेन्दु' पत्रिका में उन्होंने ही मुझे पहली बार छापा। समिति से उन्होंने ही मुझे जोड़ा।

सम्मान श्रद्धा में रूपान्तरित :

डॉ. साहब से मेरा परिचय तब विशेष हुआ, जब राजस्थान साहित्य अकादमी का एक उपनिषद् कोटा में आयोजित हुआ। मैं उसका संयोजक था। डॉ. साहब की अनुमति से कोटा कॉलेज हॉल में

उसका आयोजन किया गया तथा हॉस्टल में अतिथियों को रखा गया था। उद्घाटन समारोह की डॉ. साहब ने ही अध्यक्षता की। उद्घाटन करने डॉ. शिवमंगल सिंह सुमन आये थे। इस समारोह की एक घटना ने डॉ. साहब के प्रति मेरे सम्मान को श्रद्धा में बदल दिया। कॉलेज पोर्च में जैसे ही डॉ. सुमन की गाड़ी ठहरी, डॉ. साहब पोर्च में उनके स्वागत के लिए खड़े थे। डॉ. सुमन ने उतरते ही डॉ. साहब के चरण स्पर्श किये। डॉ. साहब भी इस प्रणिपात से चकित थे, तब डॉ. सुमन ने कहा मैं डॉ. साहब का शिष्य रहा हूँ। ये मेरे गुरु हैं। मुझे तब डॉ. साहब के व्यक्तित्व का विराट प्रत्यक्ष देखने को मिला।

डॉ. साहब से उसके बाद निकटता बढ़ती गई। एक और प्रकरण स्मरण आ रहा है। मैं राजस्थान प्रदेश का छत्रपति शिवाजी राज्यारोहण की शताब्दी समारोह का मनोनीत संयोजक था। डॉ. साहब उसके सम्बन्ध में वार्तालाप करने जयपुर उनके आवास पर गया। डॉ. साहब ने मुझे उस समय जो सम्मान दिया, उसे मैं उनकी उदारता ही कहूँगा। डॉ. साहब अलवर के कार्यक्रम में श्री बलवीरसिंह 'तरुण' ने आमंत्रित किए। अलवर का कार्यक्रम बड़ा भव्य हुआ। डॉ. साहब ने अपने मध्यकालीन भारतीय इतिहास के अछूते पृष्ठों को तब उद्घाटित किया था तथा शिवाजी महाराज को आगरे की जेल में मुक्त करवाने में जयपुर रामसिंह के योग का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया था। शिवाजी के व्यक्तित्व पर उनका भाषण तो अप्रतिम ही था। ऐसा वहां के आयोजकों ने मुझे बताया।

हाड़ौती पुत्र 'जननि' का मेयर :

अधिकांश समय कोटा में बीता, परन्तु अपने अल्पकालीन जयपुर प्रवास में वे जयपुर नगर निगम के मेयर हो गये। जयपुर राज परिवार के भी वे घनिष्ठ हो गये। स्वतंत्र पार्टी से जुड़ गये। लेकिन सच में वे राजनीति के खिलाड़ी नहीं थे, समाजसेवी थे। इसलिए प्रकट था कि वे अधिक काल तक किसी राजनीतिक पार्टी से जुड़ कर चल नहीं सकतें। वे स्वभाव से स्वाभिमानी थे। किसी के अधीन चल भी नहीं सकते थे।

नारंगी रस प्रिय :

डॉ. साहब के ही प्रसंग से बहन डॉ. रामप्यारी जी शास्त्री से भी परिचय हुआ था। एक प्रसंग डॉ. साहब से मिलने का फिर स्मरण हो आया। मैं डॉ. शास्त्री के यहाँ उनके पास किसी काम से गया था। बहन जी ने बताया डॉ. साहब अभी मेल से आ रहे हैं। वहाँ चलना है। बहन जी नारंगी का रस तैयार करवा रही थीं। मैंने पूछा, आज यह कहाँ की तैयारी हो रही है, तब उन्होंने कहा डॉ. साहब आ रहे हैं। उन्हें नारंगी का रस बहुत प्रिय है। मैं भी बहनजी के साथ जंक्शन पहुँचा था और डॉ. साहब के दर्शन किए थे। डॉ. साहब मिलकर बहुत प्रसन्न थे।

इतिहास पीठ के अधिवक्ता :

अंतिम दिनों में उनका स्वास्थ्य बहुत गिर गया था। उनकी रुग्णावस्था का समाचार सुन मैं जयपुर उनसे मिलने उनके आवास पर गया था। मेरा नाम सुनकर डॉ. साहब भीतर से उठकर आये। मैं देख रहा था, उनका स्वास्थ्य बहुत गिर गया है। शरीर का तेज लुप्त हो गया है, पाँव डगमगाने लगे हैं तो भी मेरे प्रति उन्होंने जो सम्मान प्रदर्शित किया, उनका बड़प्पन तथा उनके हृदय की विशालता ही कहूंगा। उस अवस्था में भी वे इतिहासपीठ के अधिवक्ता थे। एक विद्यार्थी पी-एच.डी. का उनसे चर्चा करने आया हुआ था। अंतिम समय तक वे इतिहास से जुड़े रहकर स्वयं इतिहास पुरुष बन गये।

ऐतिहासिक तथ्यपूर्ण भाषण :

डॉ. साहब विद्वता के शिखर पुरुष थे एक बार की घटना कोटा कॉलेज के जब वे प्रिंसिपल थे तब की और स्मरण आ रही है। मैं कह नहीं सकता बाहर से कौन विद्वान् आया था। इतिहास और संस्कृति से जुड़ा ही कोई व्यक्ति था। डॉ. साहब का प्रारम्भिक भाषण हुआ। भाषण इतना प्रभावशाली तथा इतिहास के तथ्यों को इतनी गहराई से छूता हुआ था कि आगन्तुक विद्वान् उनके आगे नतमस्तक हो उनके नाम की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगा।

हाड़ौती को देन :

'कोटा राज्य का इतिहास' हाड़ौती को उनकी ऐसी देन है कि आज तक उससे अतिरिक्त जाकर कोई और कुछ अधिक कहने का साहस नहीं जुटा पाया है। डॉ. साहब ने कोटा राज्य का इतिहास लिखकर सच में इस अंचल के साथ एक बड़ा उपकार किया है। जिन तथ्यों को लिखकर आज कुछ लोग इतिहासज्ञ बनने का ढोंग कर रहे हैं, उन्हें डॉ. साहब पूर्व में ही विस्तार के साथ लिख चुके हैं। उनकी शिष्य परम्परा राजस्थान में बहुत बड़ी और बहुत लम्बी है। भारतीय इतिहास के मध्यकाल के वे निष्णात विद्वान् थे।

कोटा के कण कण में स्मृतियाँ :

जब तक कोटा में आर्यसमाज है, श्री भारतेन्दु समिति है तथा राजकीय महाविद्यालय है तब तक डॉ. साहब अमर हैं। उनका नाम इन संस्थाओं के साथ गौरव व गर्व से जुड़ा हुआ है। कोटा की इस भूमि के कण-कण में उनकी स्मृतियाँ समाई हुई हैं। जिधर भी कुरेदो उधर डॉ. साहब का व्यक्तित्व उभरा मिलेगा।

विद्वता के ऐसे शिखर पुरुष डॉ. शर्मा को मेरी विनम्र श्रद्धांजलि समर्पित हैं।

सिविल लाइन्स, कोटा - 324001

❑

उत्कर्ष का सम्पूर्ण श्रेय

आदरणीय डॉ. मथुरालाल शर्मा मेरे पूजनीय गुरु थे। उनके चरणों में बैठकर मैंने बहुत कुछ सीखा। अपने विद्यार्थीकाल में उनकी ही प्रेरणा से मेरे मन में स्वतंत्रता के प्रति प्रेम प्रस्फुटित हुआ। मेरे जीवन में उत्कर्ष का सम्पूर्ण श्रेय श्रद्धेय डॉ. शर्मा को ही जाता है।

वे एक प्रबुद्ध वक्ता थे। विभिन्न भाषाओं पर उनका समान अधिकार था। महामना मदनमोहन मालवीय, आचार्य नरेन्द्र देव, माखनलाल चतुर्वेदी के साथ ही मैं, अपने गुरु मथुरालाल जी को महान वक्ता मानता हूँ। वे हिन्दी में ही नहीं, अपितु अँग्रेजी, संस्कृत, उर्दू, फ़ारसी भाषाओं में भी धाराप्रवाह भाषण दे सकते थे।

❑ नाथूलाल जैन

ऋषिकल्प विद्वान् डॉ. शर्मा

- कलानाथ शास्त्री

इस राज्य के मूर्धन्य मनीषी, अग्रणी इतिहासकार, जाने माने शिक्षाविद् और अप्रतिम वक्ता डॉ. मथुरालाल शर्मा आज नहीं हैं। राजस्थान के गिने-चुने मूर्धन्य विद्वानों में जिन्होंने इस राज्य का नाम न केवल अखिल भारतीय स्तर पर बल्कि अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर भी उज्वल किया, डॉ. साहब प्रमुख थे। जाने-माने इतिहासवेत्ता, संस्कृत के विद्वान्, उत्कृष्ट वक्ता, निर्भीक और स्पष्ट मत रखने वाले नेता, श्रद्धालु आर्यसमाजी, आदरणीय शिक्षक, उत्कृष्ट शोध दिग्दर्शक, विपुल ग्रंथों के सर्जक, लेखक और निर्मल चरित्र वाले नागरिक- ये सब डॉ. साहब के व्यक्तित्व के ऐसे पहलू थे जिनमें से कोई एक भी यदि किसी में हो तो वह देश में उल्लेखनीय हो जाता है। ये सब गुण जिसमें हों उसका तो कहना ही क्या?

डॉ. साहब के शिष्य राजस्थान में ही नहीं देश-विदेश में फैले हुए हैं। उनमें से कुछ प्रोफ़ेसर हैं, कुछ प्रिंसिपल, कुछ प्रशासक, कुछ गवर्नर तक हैं। सब उनके प्रति श्रद्धावनत् हैं।

डॉ.साहब से मेरा परिचय तब से था जब मैं किशोरावस्था में संस्कृत का विद्यार्थी था। मेरे पिता श्री मथुरानाथ शास्त्री जो संस्कृत और हिन्दी के क्षेत्र में ही जीवन समर्पित करने वाले विद्वानों में से होने के कारण डॉ. साहब के मित्र थे। हमेशा डॉ. साहब को इतने स्नेह से स्मरण करते थे कि उनके दर्शन की लालसा मुझमें बनी रहती थी। तब डॉ. साहब कोटा के हर्बर्ट कॉलेज के (अब राजकीय महाविद्यालय) प्रिसिंपल थे। उनके दर्शन मैंने तब किये जब वे जयपुर के महाराजा कॉलेज के प्रिंसिपल होकर आये। उस समय मैं भी यहाँ का विद्यार्थी था। इनके धाराप्रवाह अँग्रेज़ी में भाषण सुने तो लगा कि अँग्रेज़ी के अच्छा वक्ता हैं। एक दिन उसी प्रवाह से हिन्दी में भी भाषण सुना। वह उससे भी अधिक प्रभावोत्पादक था। बहुत आश्चर्य हुआ कि दोनों भाषाओं में कितना मंत्रमुग्धकारी भाषण ये देते हैं। किन्तु उससे भी अधिक आश्चर्य तब हुआ जब कोटा में राजस्थान संस्कृत साहित्य सम्मेलन के एक अधिवेशन में इन्हें संस्कृत में भाषण देते हुए सुना। यही नहीं, वहाँ इन्होंने दावा किया कि वे किसी को भी छः माह में बोलने लायक संस्कृत सिखा सकते हैं। इस दावे की सच्चाई भी उन्होंने एक प्रयोग द्वारा संकेतित कर दी। वहीं सरल तरीके से सर्वनाम, क्रिया आदि सिखाकर वाक्य बनाना उन्होंने आधे घण्टे में सिखा दिया।

इन सब अद्‌भुत गुणों के धनी व्यक्ति से प्रभावित होना स्वाभाविक था। मैं प्रभावित भी रहा, आतंकित भी। गत बीस वर्षों से इतिहास शोध संस्थान के संचालक के रूप में इनके व्यक्तित्व और कृतित्व का मैं बहुत सूक्ष्म अध्येता रहा हूँ। आर्य समाज के सिद्धान्तों पर व्यापक विश्वसनीय दृष्टिकोण से भाषण देने वाले ऋषि के रूप में भी इन्हें देखा पर इनके हृदय में स्नेह का सागर बहता है। इसका नमूना तब मिला जब मेरे पिताजी के निधन का समाचार सुनते ही ये घर आये। उस समय ये जयपुर नगरपालिका के अध्यक्ष थे। यह राजनीति क्षेत्र भी इनके व्यक्तित्व का एक अन्यतम पहलू है। अश्रुपूरित नेत्रों से उन्होंने मेरे सिर पर हाथ फेरा। मैं अल्पायु ही था। तब उन्होंने कहा 'तुम्हें मालूम

है तुम्हारे पिताजी के और मेरे क्या सम्बन्ध थे? इस जटिल संसार के किसी संकट में फँस जावो और मैं कुछ कर सकता होऊँ तो बतलाने में और मुझ तक आने में संकोच या कोताही मत करना।'

डॉ. साहब का मकान हमारे पड़ोस में ही है। मेरे पिताजी का और इनका नाम समान सा होने के कारण ऐसा बहुधा होता था कि उनकी चिट्ठी हमारे यहाँ आ जातीं और हमारी चिट्ठी उनके यहाँ चली जातीं। कभी-कभी ऐसा भी होता कि वे हमारा जल्दी में पत्र खोल लेते। पर तब एक लाइन पढ़ते ही मालूम पड़ जाता कि किसका पत्र है। तब यह होता कि उस पत्र के साथ एक छोटी चिट डॉ. साहब संस्कृत में लिखकर रख देते जिसका आशय यह होता ग़लती से इस पत्र को खोल लिया। आपका निकला यह एक पंक्ति पढ़ने पर ही विदित हो गया। पूरा नहीं पढ़ा है- यह विश्वास दिलाता हूँ। ' यह बात सच तो होती ही थी पर 'पूरा नहीं पढ़ा है' यह लिखकर वे मित्र के साथ चुटकी लेना भी नहीं भूलते।

इतने बड़े ज्ञानवारिधि की थाह कौन पा सकता है। जब भी मैं उनके लिखे इतिहास ग्रंथ और लेख पढ़ता सदा यह कामना करता था कि वयोवृद्ध और महर्षिकल्प विद्वान् का सान्निध्य हम लोगों को और इस राज्य को आने वाले बीसियों वर्षों तक मिलता रहें। किन्तु सभी कामनाएँ पूरी तो नहीं होती। डॉ. साहब एक अप्रैल को हम सब को छोड़कर चले ही गये। इस नि:संग बेलाग और स्पष्टवक्ता मनीषी ने इतिहास संस्कृति और राजस्थान को जो देन दी हैं, 1982 में वह अमर रहेगी किन्तु यह समाज न तो उनका वह सम्मान कर सका जो उन्हें देना हमारा कर्त्तव्य था और न उनके खरे और सिद्धांत पर अडिग व्यक्तित्व से वह आदर्श अपना सका जो उनके जीवन में प्रतिफलित हुए। उन्हें बड़े पैमाने पर एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने की योजना बनी थी पर वह भी उनके जीवनकाल में क्रियान्वित नहीं हो सकी। इस मनीषी ने एक सफल जीवन जीकर समाज के सम्मुख जो उदाहरण प्रस्तुत किया उसको हम सब नमन करते हैं।

अध्यक्ष, राजस्थान संस्कृत अकादमी
सी-8, पृथ्वीराज मार्ग, जयपुर

❑

क़ुरान

अजमेर में मुस्लिम समुदाय की एक सभा थी, जिसकी अध्यक्षता तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री बरकतुल्ला खाँ कर रहे थे एवं डॉ. मथुरालाल शर्मा मुख्यवक्ता थे। डॉ. साहब ने क़रीब एक घण्टे के भाषण में क़ुरान की आयतों में से कुछ ऐसे तथ्य बताये कि सभा स्तब्ध रह गई।

इसके बाद अध्यक्षीय भाषण होना था, लेकिन श्री बरकतुल्ला खाँ ने बहुत इसरार करने पर भी भाषण नहीं दिया, केवल यह कह कर बैठ गये कि डॉ. साहब के गम्भीर भाषण के बाद वे कुछ भी कहना आवश्यक नहीं समझते।

महाप्राण डॉ. मथुरालाल शर्मा

– प्रो. भवानीलाल भारतीय

इतिहास के प्रकाण्ड विद्वान्, भारतीय मनीषा के प्रोज्ज्वल प्रतीक तथा ऋषि दयानन्द की आर्ष विचारधारा के सर्वश्रेष्ठ प्रवक्ता डॉ. मथुरालाल शर्मा का जन्म कोटा राज्य के अन्तर्गत बारां कस्बे में आषाढ़ कृष्णा 3 सं. 1952 वि. (1896 ई.) को एक ब्राह्मण परिवार में हुआ। उनकी उच्च शिक्षा हिन्दू विश्वविद्यालय काशी में हुई जहाँ से आपने इतिहास में एम. ए. तथा डी. लिट् की उपाधियाँ ग्रहण की। इतिहास में डी. लिट् की सर्वोच्च शोध उपाधि ग्रहण करने वाले वे राजस्थान के पहले व्यक्ति थे। कोटा राज्य के उच्च शिक्षित युवक होने के कारण आपको इस नगर के हर्बर्ट कॉलेज के प्राचार्य पद पर नियुक्त किया गया। वे राज्य के मुख्य सचिव भी रहे। जब राजस्थान की रियासतों का एकीकरण हुआ तो डॉ. शर्मा को महाराजा कॉलेज, जयपुर का प्राचार्य बनाया गया। वे राजस्थान के शिक्षा विभाग के निदेशक, राजस्थान विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग के अध्यक्ष तथा अल्पकाल के लिये कुलपति भी रहे। सरकारी सेवा से अवकाश लेने के पश्चात् डॉ. साहब ने जयपुर में राजस्थान इन्स्टीट्यूट ऑफ़ हिस्टोरिकल रिसर्च की स्थापना की और लगभग बीस वर्ष तक उसके निदेशक रहे। उनके मार्गदर्शन में अनेक शोधार्थियों ने इतिहास विषयक शोध कार्य किया। उनकी इतिहास विषयक प्रसिद्ध कृतियाँ निम्न हैं–कोटा राज्य का इतिहास, जयपुर राज्य का इतिहास, राजस्थान में स्वतंत्रता संग्राम का इतिहास। आपके समस्त ग्रन्थों की संख्या लगभग 30 है। वे राजस्थान के इतिहास के अधिकृत व्याख्याता थे।

आर्यसमाज के प्रधान :

डॉ. शर्मा आरम्भ से ही आर्यसमाज के प्रवर्त्तक ऋषि दयानन्द की विचारधारा से प्रभावित रहे। आपका आर्य कुमार सभा कोटा में प्रवेश 1912 में मात्र सोलह वर्ष की आयु में हुआ और वे इसके मंत्री भी रहे। तत्पश्चात् वे आर्यसमाज कोटा के सदस्य बने और वर्षों तक उसके प्रधान रहे। जब डॉ. शर्मा काशी विश्वविद्यालय में अध्ययनरत थे, उन दिनों डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल तथा कतिपय अन्य छात्रों ने विश्वविद्यालय परिसर में आर्यसमाज की स्थापना की। इस समाज के मंत्री पद पर कार्य करने का अवसर भी आपको मिला। सेवा से अवकाश लेने के पश्चात् तो डॉ. शर्मा पूर्णतया आर्यसमाज के कार्य के लिये समर्पित हो गये। उन्हें 1953 में आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान का सर्वसम्मति से प्रधान चुना गया। इस पद पर वे कई वर्षों तक रहे। सभा के प्रधान होने के नाते आप राज्य के प्रमुख नगरों में आयोजित आर्यसमाजों के कार्यक्रमों में निरन्तर जाते रहे तथा अपने प्रेरणाप्रद व्याख्यानों से श्रोताओं की आर्य धर्म के प्रति निष्ठा को बढ़ाया।

परोपकारिणी सभा में दो दशक :

ऋषि दयानन्द की उत्तराधिकारिणी सभा परोपकारिणी सभा ने 3 अप्रैल, 1955 को उन्हें सदस्य मनोनीत किया। वे वर्ष 1955, 1964, 1967, 1970 तथा 1973 में सभा की कार्यकारिणी के सभासद निर्वाचित हुए तथा समय-समय पर अपने सत्परामर्श से सभा के कार्यों को प्रगति देते

रहे। उन्हें सभा की विद्वत समिति का सभासद भी चुना गया था। 1 अप्रैल, 1982 को इस महान विद्वान् का निधन हुआ। उनके निधन के साथ ही विद्वता, पाण्डित्य, शोध तथा अनुसंधान के एक महत्त्वपूर्ण युग का अन्त हो गया।

आकर्षक वेशभूषा :

डॉ. शर्मा विषयक मेरे संस्मरण अपने व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक हुए हैं, अत: इनका उल्लेख करना आवश्यक है। यह घटना लगभग इकतालीस वर्ष पुरानी है। उन दिनों मैं सर प्रताप हाई स्कूल, जोधपुर में अध्यापक था और शिक्षा विभाग के निदेशक होने के नाते डॉ. साहब हमारे विद्यालय में निरीक्षण हेतु पधारे थे। मैं इस विद्यालय के दलपत मेमोरियल ब्लॉक में शायद वैकल्पिक हिन्दी विषय की कोई छोटी क्लास को पढ़ा रहा था। हमारे मुख्याध्यापक के साथ वे उस कक्ष में आये। मैं तो उनकी वेशभूषा और प्रभावशाली व्यक्तित्व से अत्यन्त प्रभावित हुआ। वे बंद कॉलर का कोट व पेन्ट तथा सिर पर किश्तीनुमा टोपी धारण किये थे। इस सादी पोशाक में उनका व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली तथा भव्य प्रतीत हो रहा था। कालान्तर में राज्य सेवा से अवकाश लेने के पश्चात् वे कोट के नीचे धोती ही पहनते थे। ऊँची कद काठी का शरीर तथा ओजस्वी ललाट उनके व्यक्तित्व को प्रभावी बना देता था। उनकी वाणी सशक्त, प्रवाहमयी, प्रांजल तथा साहित्यिक होती थी।

घन्टों धाराप्रवाह संस्कृत :

उसी वर्ष राजस्थान संस्कृत सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन जोधपुर में सम्पन्न हुआ। डॉ. शर्मा इसके अध्यक्ष निर्वाचित हुए और राजस्थान विश्वविद्यालय के तत्कालीन उपकुलपति, प्रो. गणेशसखाराम महाजनि ने सम्मेलन का उद्घाटन किया। यह समारोह तत्कालीन महाराज कुमार कॉलेज के परिसर में सम्पन्न हुआ था। संस्कृत में अभिरुचि होने के कारण मेरा इस सम्मेलन में जाना स्वाभाविक ही था। उधर नगर के सभी शिक्षकों को भी समारोह में उपस्थित होने के लिए कहा गया था। आख़िर इसकी अध्यक्षता तो विभाग के निदेशक को ही करनी थी। डॉ. महाजनि ने उद्घाटन भाषण अँग्रेजी में दिया किन्तु डॉ. शर्मा ने अपना अध्यक्षीय अभिभाषण संस्कृत में प्रस्तुत किया। किसी व्यक्ति को धाराप्रवाह संस्कृत में प्रभावशाली ढंग से बोलते हुए सुनने का मेरा तो पहला ही अवसर था। अपने इस निदेशक काल में डॉ. साहब ने कक्षा छह से कक्षा आठ तक संस्कृत को अनिवार्य विषय बना दिया। यद्यपि सांस्कृतिक जगत में इस निर्णय का स्वागत ही हुआ किन्तु कुछ संकीर्ण मनोवृत्ति वाले लोगों ने तत्कालीन केन्द्रीय शिक्षामंत्री मौलाना अबुल कलाम आज़ाद से इसकी शिकायत की। सम्भवत: राजस्थान के शिक्षामंत्री मथुरादास माथुर भी शर्माजी के इस निर्णय से प्रसन्न नहीं थे, किन्तु स्वविभागीय नीति निर्माण में किसी का अनुचित हस्तक्षेप सहन करना डॉ. मथुरालालजी के निर्भीक दुर्धर्ष तथा अदम्य व्यक्तित्व के प्रतिकूल था। अत: वे अपनी संस्कृत शिक्षा की नीति पर डटे रहे। कालान्तर में तो इस विषय को नवीं तथा दसवीं में भी अनिवार्य कर दिया गया। राजस्थान की शिक्षा नीति में संस्कृत को महत्वपूर्ण स्थान दिलाने का श्रेय डॉ. शर्मा को ही है।

मेरा आर्यसमाज से सम्बन्ध आधी सदी पुराना है। मैं आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान के साथ भी गत 44 वर्षों से निरन्तर जुड़ा रहा हूँ अत: प्राय: सभा के उस काल के अधिवेशनों में डॉ. साहब के दर्शन हो जाते थे। सन् 1956 में मेरी प्रथम शोधपूर्ण पुस्तक 'महर्षि दयानन्द और राजा राममोहन राय'

प्रकाशित हुई और मैंने इसकी एक प्रति डॉ. साहब की सेवा में प्रस्तुत की। इस पुस्तक की विषय सामग्री, विवेचनाशैली तथा इसमें अपनाई गई शोध प्रक्रिया को देख कर वे अत्यन्त प्रसन्न हुए और मुझे कहा कि मैं उनके निर्देशन में अनुसंधान करूँ। यदि मैं ऐसा कर पाता तो मेरा वह सौभाग्य होता, किन्तु कतिपय तकनीकी कठिनाइयाँ आड़े आ रही थी। डॉ. साहब इतिहास विषय पर ही निर्देशन करा सकते थे और मैं साहित्य (हिन्दी) में एम. ए. होने के कारण साहित्य से भिन्न विषय नहीं ले सकता था। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि कोई शोधार्थी आर्यसमाज की भारतीय स्वतंत्रता संग्राम को देन विषय लेकर उनके मार्गदर्शन में पी. एच. डी. का कार्य करें। डॉ. राधेश्याम पारीक ने कालान्तर में आधुनिक भारत के निर्माण में आर्यसमाज का योगदान विषय लेकर शोध कार्य किया था, किन्तु उनके निर्देशक डॉ. शान्तिप्रसाद वर्मा थे।

संस्कृति के अपूर्व ज्ञाता :

डॉ. शर्मा जहाँ इतिहास के प्रकाण्ड विद्वान थे, वहाँ वे प्राचीन भारतीय धर्म, संस्कृति तथा दर्शन के भी अपूर्व ज्ञाता थे। हिन्दी, अँग्रेज़ी तथा संस्कृत इन तीन भाषाओं पर उनका असाधारण अधिकार था और वे इन तीनों भाषाओं में अत्यन्त प्रगल्भतापूर्वक अस्खलित वाणी में प्रभावशाली वक्तृत्व प्रस्तुत करते थे। उनके उच्चारण सौष्ठव, भाषा के शुद्ध प्रयोग तथा विषय निरूपण की अद्‌भुत क्षमता को देखकर श्रोतृसमाज पर जादू का सा असर होता था। वे अपनी युक्तियों तथा प्रमाणों के प्रवाह में जनसमूह को बहाकर ले जाते। किसी कार्यवश मेरा जयपुर जाना होता तो मैं सी-स्कीम के कृष्णा मार्ग स्थित उनके भवन में उनसे अवश्य भेंट करता अपने निजी मकान में आने के पहले वे इसी आवासन कॉलोनी के एक किराये के मकान में रहे थे जिसका नाम यदि में भूलता नहीं हूँ तो श्रीरंग भवन था।

सन् 1957 में मैं, राजस्थान लोक सेवा आयोग के समक्ष साक्षात्कार के लिये जयपुर गया और आर्यसमाज कृष्णपोल बाज़ार में ठहरा। डॉ. साहब इस समाज के प्रधान थे। उन्होंने समाज के सेवकों आदेश दे रखा था कि यदि कोई अतिथि समाज मंदिर में आकर ठहरे तो उसे भोजन के लिये उनके निवास पर ले जाया जाये। फलत: मैं भी सायंकालीन भोजन के लिये डॉ. साहब के निवास स्थान पर गया। भोजन के समय डॉ. साहब ने आर्यसमाज के पुराने विद्वानों, व्याख्यानदाताओं तथा उपदेशकों के अनेक रोचक संस्मरण मुझे सुनाये। इनमें पं. तुलसीराम स्वामी विषयक संस्मरण अत्यन्त रोचक थे।

सन् 1958 में मेरी एक अन्य पुस्तक श्रीकृष्णचरित महाभारत पर आधारित प्रकाशित हुई। जब मैंने इसे डॉ. साहब को भेंट किया और इसके विवेचनीय विषयों की चर्चा की तो उन्होंने योगेश्वर कृष्ण के अमल धवल चरित्र को दूषित करने के पौराणिक प्रयासों की चर्चा करते हुए एक श्लोक सुनाया "वने वसन्तं नवनीतचौरं गोपांगनानां च दुकूल चौरम्। श्रीराधिकाया: हृदयस्य चौरं चौराग्रगण्यं पुरुषं नमामि।" लगभग यही बात गोपाल सहस्रनाम में कृष्ण को चौरजारशिखामणि कह कर कही गई है। सन् 1968 में मैंने आर्य समाज की संस्कृत भाषा और साहित्य को देन विषय लेकर पी- एच. डी. की उपाधि प्राप्त की। जब मैं दीक्षान्त समारोह में भाग लेने जयपुर गया तो डॉ. साहब से समारोह में ही भेंट हो गई। उन्होंने मुझे बधाई दी तथा अपने निवास पर चाय के लिये आमंत्रित किया। इस अवसर पर उन्होंने मेरे शोध विषय पर विस्तार से चर्चा की। मेरा शोध विषय आर्यसमाज के संस्कृत साहित्य पक्ष का विवेचन करने के कारण

पर्याप्त महत्व का समझा गया था इस कारण आर्यसमाज सरदारपुरा, जोधपुर ने मेरा सार्वजनिक अभिनन्दन करने का निश्चय किया। इस समारोह की अध्यक्षता डॉ. शर्मा ने की और उन्होंने मेरे शोध को सराहा। इस अवसर पर उन्होंने अपने भाषण में आर्यसमाज के विद्वानों द्वारा रचित संस्कृत साहित्य के कुछ अनछुए पहलुओं पर प्रकाश डाला।

वर्ष 1960 में जब आर्य प्रतिनिधि सभा, राजस्थान ने प्रान्त के वयोवृद्ध आर्य नेता पं. भगवानस्वरूप जी न्याय भूषण तथा समर्पित उपदेशक स्वामी ओमभक्तजी के अभिनन्दन का कार्यक्रम बनाया गया तो सभा मंत्री के रूप में मैंने डॉ. शर्मा को इस समारोह की अध्यक्षता के लिये आमंत्रित किया। मेरी प्रार्थना स्वीकार कर वे अजमेर आये तथा दोनों अभिनन्दनीय महापुरुषों के प्रति अपने श्रद्धाभाव व्यक्त किये। अब डॉ. साहब पर्याप्त वृद्ध हो गये थे। उनकी शारीरिक शक्ति क्षीण हो रही थी। वे सभा सम्मेलनों में कम जाते थे। सन् 1972 में जब अलवर में आर्य सम्मेलन हुआ तो उसके अन्तर्गत सम्पन्न हुए वेद सम्मेलन की उन्होंने अध्यक्षता की। सन् 1976 में जब मैं अन्तिम बार उनसे जयपुर में मिला तब वे पर्याप्त दुर्बल तथा कृशकाय हो गये थे तथापि उनके व्यक्तित्व की गरिमा यथावत् थी। अपने वार्धक्य और शारीरिक दुर्बलता को लक्षित कर वे अचानक कह उठे – 'I will die in this decade.' मैं उनके इस कथन को सुन कर हतप्रभ हो गया और बोला–परमात्मा आपको दीर्घायु करे। आप नई पीढ़ी का सतत् मार्गदर्शन करें।

अपने लेखन तथा अन्य सार्वजनिक कार्यों में व्यस्त रहने पर भी डॉ. साहब पत्रों का उत्तर देने में कभी विलम्ब नहीं करते। ग्यारह फरवरी, 1982 को जब मेरे पुत्र विनय तथा पुत्री का विवाह सम्पन्न हुआ तो मेरे निमंत्रण पत्र का उत्तर देते हुए डॉ. साहब ने नवदम्पतियों को आशीर्वाद दिया। टंकित पत्र के साथ स्वहस्त से यह भी लिख दिया कि वे पक्षाघात से पीड़ित होने के कारण शय्याशायी हैं और दो मास पश्चात् ही यह दिव्य पुरुष दिव्यलोक का वासी हो गया। निगूढ़ अध्ययन, व्यापक ज्ञान, विदग्धतापूर्ण वार्तालाप तथा डॉ. सेमुअल जॉनसन की ही भाँति अपने कथन वैचित्र्य तथा उक्ति सौन्दर्य के कारण श्रोतृसमुदाय को चमत्कृत कर देने वाला व्यक्तित्व का साकार रूप थे डॉ. मथुरालाल शर्मा।

– 8/423 नन्दनवन,
जोधपुर

❑

कर्म

एक दिन पं. देवीशंकरजी तिवारी और 'दा साहब' श्री हरिभाऊ उपाध्याय, डॉ. मथुरालाल शर्मा के यहाँ बैठे थे और संस्कृत वाङमय पर चर्चा चल रही थी। दा साहब ने अचानक कहा, डॉ. साहब अब तो महामहोपाध्याय श्री गिरधर चतुर्वेदी के बाद आप ही उस श्रेणी के विद्वान् जयपुर में रहे हैं। इस पर डॉ. साहब ने कहा कि आप मुझे क्यों लज्जित करते हैं, तो तपाक से दा साहब ने उत्तर दिया कि तो आप ऐसे कर्म क्यों करते हैं? इस पर जोर से ठहाका लगा।

उल्लेखनीय है कि डॉ. साहब का स्नातक कक्षा में संस्कृत एक विषय था, लेकिन संस्कृत के वे माने हुए विद्वान् थे। राजस्थान और बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय की पी-एच. डी. के शोध ग्रन्थ मूल्यांकन के लिए उनके पास आते थे।

प्रेरणा और प्रोत्साहन के अजस्त्र स्त्रोत : डॉ. मथुरालाल शर्मा

– प्रो. हरिश्चन्द्र भारतीय

समृद्ध भाषा के धनी :

कोटा रियासत में चौथे दशक के उत्तरार्द्ध से सामाजिक, शैक्षिक एवं राजनीतिक चेतना का अच्छा दौर आरम्भ हो गया था। वहां के छात्रों का मेरिट में अच्छा स्थान होता था, स्थान-स्थान पर गाँधीजी द्वारा इंगित किये गये अनेक प्रकार के रचनात्मक कार्यक्रम चलाये जा रहे थे तथा राज्य प्रजामण्डल की गतिविधियों में राजनीतिक चेतना का भी अच्छा स्तर परिलक्षित हो रहा था। उसकी अभिव्यक्ति सन् 1942 में "भारत छोड़ो" आन्दोलन के समय हुई। देशी रियासतों में संभवत: कोटा ही एक मात्र ऐसा स्थान था, जहां करीब तीन दिन तक शहर में तिरंगा झंडा उड़ता रहा और आज़ाद कोटा में जनता ने सारी व्यवस्था का अद्‌भुत संचालन किया। उस समय कोटा में जनचेतना का जो दौर चल रहा था, उसमें आर्यसमाज की अहम् भूमिका थी। कोटा आर्यसमाज की विविध गतिविधियों का विशेष केन्द्र था। मैं सन् 1937-38 के आसपास उसके आयोजनों और समारोहों में शामिल होने लगा गया था। मुझे सर्वप्रथम वहीं पर डॉ. मथुरालालजी के दर्शन हुए। मैं उनके भाषणों से बड़ा प्रभावित हुआ। बहुत कम अवस्था (11-12 वर्ष की) होने के कारण मैं उनकी गूढ़ता को तो नहीं समझ पाता था, किन्तु उनकी भाषा की समृद्धता, अविकल अभिव्यक्ति, ओजस्वी वाणी एवं एक-एक शब्द के पीछे झलकते विश्वास से चमत्कृत हो जाता था। मन में यही भाव जागृत होता था-काश, मैं भी कुशल वक्ता बन सकूं। उस समय मेरे जैसे पचासों बालकों को अच्छा विद्वान्, अच्छा वक्ता और अच्छा इन्सान बनने की प्रेरणा डॉ. साहब से मिली होगी। इसी तरह डॉ. साहब के अनन्य साथी श्री विष्णुदत्तजी शर्मा का भी कोटा के नागरिकों पर बड़ा प्रभाव था। सरकारी मुलाज़िम होते हुए भी ये दोनों विशिष्ट व्यक्ति आर्यसमाज एवं साहित्यिक गतिविधियों के मंचों से कोटा में समाज सुधार एवं शैक्षणिक प्रगति की मुहिम को आगे बढ़ाने में अग्रणी भूमिका निभा रहे थे। उस समय कोटा राज्य में प्राइमरी से लेकर इंटरमीजिएट तक अध्ययन-अध्यापन का स्तर बहुत अच्छा था। एक सामन्ती रियासत में यह सब कैसे चल रहा था? सच तो यह है कि तत्कालीन महाराव उम्मेदसिंहजी बड़ी उदार एवं प्रगतिशील प्रवृत्ति के शासक थे। इसीए वे न केवल विद्वानों व विकासोन्मुख व्यक्तियों का आदर करते थे, वरन् उन्हें समाज को आगे ले जाने वाली गतिविधियों के लिये पूरा प्रोत्साहन भी प्रदान करते थे। उस अनुकूल माहोल में डॉक्टर साहब ने अपनी अभूतपूर्व आभा से सक्षमता के साथ कोटा के समाज को आलोकित किया।

नयी पीढ़ी के लाभार्थ :

उस समय कोटा में डी. लिट् जैसी सर्वोच्च शैक्षणिक डिग्री प्राप्त एक मात्र व्यक्ति डॉ. साहब ही थे। यह भी एक विचित्र संयोग की बात थी कि शैक्षिक दृष्टि से सर्वोत्तम व्यक्ति कॉलेज में प्रोफ़ेसर

या प्रिन्सिपल न होकर महकमा ख़ास में मुलाज़िम था। आगे चल कर एक घटना घटित हुई और डॉ. साहब वहाँ पहुँच गये, जहां उन्हें होना चाहिए था। जब हर्बर्ट कॉलेज (अब राजकीय महाविद्यालय) को डिग्री कॉलेज बनाने की चर्चा चली तब डॉ. मथुरालालजी की वाइस प्रिंसिपल के रूप में नियुक्ति हो गई। सन् 1945 में हर्बर्ट कॉलेज डिग्री कॉलेज बना और आवश्यक शैक्षणिक योग्यता की श्रेष्ठता के आधार पर डॉ. साहब को प्रिंसिपल बनाया गया। तब नई पीढ़ी को आपकी महान, विद्वता, प्रतिभा एवं प्रखरता का सीधा लाभ मिलने लगा। यह हम सबके लिये गर्व की बात थी कि स्नातक स्तर पर आरम्भ से ही कोटा कॉलेज को ऐसा सुयोग्य प्रिंसिपल मिला, जो राजस्थान के किसी भी बड़े से बड़े कॉलेज प्रिंसिपल के समक्ष शैक्षणिक कद की श्रेष्ठता के साथ खड़ा हो सकता था।

हर्षित शिक्षाजगत :

फिर घटनाचक्र बदलता गया। सन् 1947 में देश आज़ाद हुआ। देशी राज्यों का भारतीय संघ में विलय हुआ और आज के एकीकृत भारत की तस्वीर उभरी। कोटा से डॉ. साहब का स्थानान्तरण महाराजा कॉलेज, जयपुर के प्राचार्य पद पर हुआ। कोटा से बाहर राज-सेवा हेतु जाने का यह पहला अवसर था। यह सिलसिला ऐसा चला कि अन्ततः डॉ. साहब स्थायी रूप से जयपुर में बस गये। आप कुछ समय के लिये राजस्थान शिक्षा विभाग के निदेशक बने और बाद में राजस्थान विश्वविद्यालय के निदेशक बने और बाद में राजस्थान विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग के प्रोफ़ेसर एवं विभागाध्यक्ष बने। सन् 1954 में आपने राजस्थान विश्वविद्यालय के स्थानापन्न वाइस चांसलर (कुलपति) का कार्यभार सम्भाला। उस समय मैं इन्दौर के गुजराती समाज कॉलेज में जीवशास्त्र विभाग का अध्यक्ष था व प्राणीशास्त्र पढ़ाता था। समाचार पत्रों में प्रकाशित डॉ. साहब के कुलपति बनने की खबर सभी हाड़ौती निवासियों के लिये और विशेषकर शिक्षाजगत से जुड़े लोगों के लिये विशेष हर्ष और गर्व की बात थी। मैंने इन्दौर से डॉ. साहब को हार्दिक अभिनंदन का पत्र लिखा और उन्होंने बड़े ही स्नेह से उसका प्रत्युत्तर दिया।

समझौता विहीन :

आरम्भ से ही अन्याय का प्रतिकार करने की प्रवृत्ति ने मुझे कई बार संकट में डाला। इन्दौर में भी कुछ ऐसा ही घटित हुआ। कुछ मामलों को लेकर कॉलेज की प्रबन्ध समिति से मेरा टकराव हुआ और 'हर प्रकार से प्रशंसित होने के बावजूद मई, 1956 में मेरी सेवायें एकाएक समाप्त कर दी गईं। मैं सड़क पर आ खड़ा हुआ। शीघ्र ही मेरा राजस्थान में राजकीय महाविद्यालयों में सामान्य विज्ञान के व्याख्याता पद पर चयन हो गया। इस बात का उल्लेख मैंने इसलिए किया कि शैक्षणिक योग्यता व पात्रता होते हुए भी बिना डॉ. साहब के वरद्हस्त के मेरा लोक सेवा आयोग द्वारा चयन होना लगभग असम्भव था। इस सन्दर्भ में मैं एक और बात का उल्लेख करना चाहूँगा। हमारे उद्घोषित मूल्य और सिद्धान्त कितने ही उच्चकोटि के हों, व्यावहारिकता के धरातल पर उनका स्वरूप बहुत बदल जाता है। तात्कालिक उपयोगिता अथवा आवश्यकता के नाम पर हमें महान् सिद्धान्तों को ताक में रख देना पड़ता है। ऐसा करने के औचित्य अनौचित्य पर सदा बहस चलती रहती है। जब राजस्थान का एकीकरण होकर एक बड़े राज्य की स्थापना हुई तब एक सहज संकीर्ण भावना बहुत बड़े पैमाने पर काम कर रही थी। उस समय राज्य के बड़े-बड़े पदों पर जयपुर, जोधपुर और मेवाड़ के लोग आसीन हो गये थे। उन्होंने अपने-अपने क्षेत्र के लोगों को अच्छे पदों पर लाने तथा नौकरियाँ दिलाने

में बड़ी मदद की। इस दृष्टि से हाड़ौती प्रदेश बहुत पीछे था। इससे डॉक्टर साहब को बड़ी पीड़ा हुई। जब वे शिक्षा निदेशक बने तब उन्होंने भी हाड़ौती अंचल के लोगों को उनकी योग्यतानुसार उपयुक्त पदों पर नियुक्त करने-कराने में निर्भीकता से काम किया। राष्ट्र और राज्य के व्यापक सन्दर्भ में ऐसी कार्यवाहियों पर निश्चित ही प्रश्नचिन्ह लगाया जा सकता है, किन्तु ऐसी बातों के लिये मूल रूप से वे लोग जिम्मेवार होते हैं जो प्रतिक्रियात्मक परिस्थितियों के जनक होते हैं। बहरहाल, कर्मक्षेत्र कोई भी रहा हो-शिक्षा और शोध में मार्गदर्शन का, प्रशासन और समाज सुधार में भागीदारी का, लोगों को नौकरियाँ दिलाने या जीवनयापन की राह पर लगाने का अथवा ज्ञानोपार्जन या ज्ञान-दान का, डॉक्टर साहब ने मुक्त मन से लगन के साथ अपने दायित्व को निभाया और हज़ारों-हज़ारों लोगों को लाभान्वित किया।

ओजस्वी स्वर :

अन्त में एक ऐसे अविस्मरणीय प्रेरणास्पद प्रसंग का उल्लेख करना चाहूँगा जो हर शिक्षक के लिये सदैव एक प्रकाश-स्तम्भ का कार्य करता रहेगा। दिसम्बर सन् 1956 में जयपुर के महाराजा कॉलेज के परिसर में राजस्थान विश्वविद्यालय एवं कॉलेज टीचर्स एसोसिएशन (रुक्टा) का प्रथम अधिवेशन हुआ। उसका उद्घाटन डॉ. साहब ने किया। आपका उद्घाटन भाषण सारगर्भित बातों से ओत-प्रोत था। आपने वे सब महत्वपूर्ण बातें कहीं जो उन जैसे प्रकाण्ड विद्वान एवं शोधकर्ता, प्रख्यात इतिहासवेत्ता एवं महान् शिक्षक तथा जुझारू समाजसेवी से अपेक्षित थीं, किन्तु आपकी जिस बात ने हम सबको सर्वाधिक प्रेरित एवं प्रभावित किया वह उन्होंने शिक्षकों का आह्वान करते हुए कही थी-अपने चिरपरिचित ओजस्वी स्वर में आपने कहा था, ''प्रत्येक शिक्षक ज्ञान के प्रकाश का ऐसा पुंज बने जिसकी तेजस्वी किरणों से उसके आसपास का वातावरण आलोकित हो उठे और लोग स्वत: ही उसके समक्ष नतमस्तक हो जायें।''

ऐसे महान व्यक्तित्व को जिसने सदैव सबको अनुप्राणित प्रेरित एवं प्रोत्साहित किया, हमारा शत्-शत् नमन। ❑

ज्योति स्तम्भ

डॉ. मथुरालाल शर्मा उस पीढ़ी के थे जिस पीढ़ी के लोग बहुश्रुत होने के साथ ही बहुत अच्छे वक्ता भी होते थे, उन्होंने चिन्तन के साथ ही कर्मशीलता में विश्वास करते हुए एक ऐसी चिन्तनशील पीढ़ी का निर्माण किया जो उनके काम को निरन्तर आगे बढ़ाएगी।

❑ डॉ. बद्रीप्रसाद पंचोली

गुदड़ी के लाल डॉ. मथुरालाल शर्मा

– लीलाधर चतुर्वेदी

श्रद्धेय डॉ. मथुरालाल शर्मा की जीवनी एवं संघर्ष एक दूसरे के पर्यायवाची शब्द बन गये हैं। उन्हें बचपन में विद्या अध्ययन हेतु आठ वर्ष की आयु में प्रतिदिन आठ मील पैदल चलकर बारां आना पड़ता था। उनके प्रधानाचार्य ने उनकी कुशाग्रबुद्धि, विलक्षण प्रतिभा से प्रभावित होकर बारां के बजाय कोटा जाकर अध्ययन करने की सलाह दी। बारां के तहसीलदार ने भी ऐसा करने की प्रेरणा प्रोत्साहन के आधार पर उनके पिताश्री ने आर्थिक संकट होते हुए भी उन्होंने कोटा अध्ययन के लिये भेज दिया। इसका परिणाम अवश्य ही उत्तम रहा। पढ़ाई ठीक ढंग से प्रारम्भ हो गयी। इसी बीच में उनके पिताश्री का स्वर्गवास हो गया और आपके अध्ययन में एक व्यवधान उत्पन्न हो गया। डॉ. साहब ने मुझे बताया था कि इसके बाद वे दीवान बहादुर सर रघुनाथदास दीवान कोटा से मिलने गये उनके निवास स्थान पर। दीवान साहब से मिलने के लिये कोई पूर्व में प्रयास नहीं करना पड़ा था केवल मात्र उनके निवास पर मिलने वालों के कमरे में नियमबद्ध कुर्सियों पर बैठना था। उसी के अनुसार मुलाकात की प्रक्रिया शुरू हो जाती थी। दीवान साहब उनकी योग्यता तथा आर्थिक संकट दोनों को अच्छी तरह से भाँप गये एवं फलस्वरूप शर्माजी को अच्छी छात्रवृत्ति स्वीकृत कर दी। यह उनके संघर्ष का श्रीगणेश था।

कोटा का प्रामाणिक इतिहास :

उपरोक्त संदर्भ में कोटा राज्य के प्रशासन के विषय में अवगत करवाना आवश्यक समझता हूँ कि कोटा के स्वर्गवासी द्वितीय महाराव उम्मेदसिंह जी, 6 दिसम्बर, 1896 को राज्य करने के अधिकार तत्कालीन दिल्ली की सरकार द्वारा दिये गये। आपने मंत्रिमंडल की जगह केवलमात्र रघुनाथदास जी को दीवान नियुक्त किया। इस विषय में महाराव साहब ने यह घोषणा की थी कि कोटा का प्रशासन एक न्यास को है जिसको चलाने के लिए विश्वासपात्र दीवान रघुनाथदासजी को भार सौंपा गया। उन्होंने यह भी कहा कि उनका शासन का मूल्यांकन उनकी जनता के द्वारा किया जावेगा। यही आधार उनके प्रशासन का आधारभूत सामाजिक न्याय था। राज्य में अज्ञानता, गरीबी, भुखमरी आदि को समूल नष्ट करने का बीड़ा उठाया गया था। राज्य की 19 इकाइयों में शिक्षा व स्वास्थ्य चिकित्सा के कार्यक्रम का श्रीगणेश किया गया। नि:शुल्क शिक्षा होने के कारण राज्य से बाहर के लोग भी यहाँ पर शिक्षा ग्रहण करने के लिए आने लगे थे। इसी निर्धारित नीति के अनुसरण में ही डॉ. साहब को अपनी प्रतिभा को विकसित करने का अवसर मिला। वे एम. ए. एवं डी. लिट् की डिग्रियाँ प्राप्त करने वाले प्रथम नागरिक थे। बेगार प्रथा का नामोनिशान नहीं था, जबकि यह रोग अन्य रजवाड़ों में पूर्णरूप से विकसित था। हिन्दी को राज्य की भाषा सरकार ने घोषित कर दी। इसमें पूर्ण रूप में काम होता था। आर्थिक उन्नति हेतु सहकार आन्दोलन को बढ़ावा देने वाला प्रथम राज्य था। यही कारण है कि आज भी उस क्षेत्र में 77 प्रतिशत साक्षरता है। अन्य स्थानों पर इससे कम है। इन तथ्यों से यह प्रमाणित होता है कि उनका प्रशासन विकासोन्मुख था। सर्वप्रथम दस वर्ष की उम्र से मैंने डॉ. साहब को सन् 1933–34 के मध्य मेरे पिता

ब्रह्मलीन पं. हरनाथजी चतुर्वेदी, डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट के पास प्रात: कई दिनों तक आते देखा था और उनसे कुछ प्रश्न किया करते थे। उस समय मेरी समझ में कुछ नहीं आया। लेकिन बाद में मालूम हुआ कि डॉक्टर साहब कोटा राज्य का इतिहास लिख रहे थे। उसी संदर्भ में पिताजी से दीवान श्री रघुनाथदासजी के गुणों के बाबत जानकारी एकत्रित कर रहे थे।

अवरोधों की परवाह नहीं :

दस वर्ष के अन्तराल बाद सन् 1942-43 में डॉ. साहब का शिष्य बन गया था। वे नागरिक शास्त्र पढ़ाया करते थे। उस विषय पर आपकी पकड़ अच्छी थी। उन्हें पुस्तकों के ज्ञान के अलावा निजी अनुभव भी था, जिससे उनके व्याख्यान काफ़ी रोचक हो जाया करते थे। जिन परिस्थितियों में उन्हें वाइस प्रिन्सिपल नियुक्त किया गया था। वह एक विडम्बना थी, वे प्रिन्सिपल से अधिक योग्यता-अनुभव रखते थे, लेकिन तत्कालीन दीवान साहब को डॉ. साहब से वैमनस्य था, यह हालत बहुत दिनों तक न रह सकी। कॉलेज को डिग्री कॉलेज में उन्नत कर दिया गया और डॉ. साहब उसके प्रथम प्रिन्सिपल नियुक्त किये गये। इस सम्बन्ध में भी काफ़ी रोड़े अटकाये गये थे। लेकिन महाराव साहब ने उन सबको ओवर रूल कर दिया।

मेरी पढ़ाई भी समाप्त हो गई, नौकरी प्रारम्भ हो गई, लेकिन बीच में एक व्यवधान उत्पन्न हो गया। मैं काफ़ी परेशान था। मैं जोधपुर में सेवारत था। संयोगवश डॉ. साहब का वहाँ शिक्षा निदेशक के रूप में आना हुआ। सभा के वे अध्यक्ष थे, मैं भी उस भीड़ में कोने में अपनी साइकिल लिये उन्हें सुन रहा था। सभा समाप्त हो गई और भीड़ छंट गई। मैं भी चलने की तैयारी में ही था कि अचानक एक हाथ मेरी पीठ पर आया। मुड़कर देखा तो डॉ. साहब मेरे सामने खड़े हुए थे। मैंने फ़ौरन उनके चरण-स्पर्श किये। हालचाल पूछने लगे तो मैंने उन्हें अपनी समस्या से अवगत करवाया। पहले तो वे कुछ नाराज हुए बाद में कहा कि इस सम्बन्ध में समय आने पर उन्हें उनसे सम्पर्क किया जावे। व्यक्तिगत नहीं केवल मात्र पत्र द्वारा जो 15 दिन पूर्व लिखने के लिए कहा, उनकी आज्ञा का यथावत पालना किया गया और मेरी समस्या का निराकरण इसी बीच में डॉ. साहब से अन्य लोगों ने भी सहायता चाही तो उन्होंने साफ़ कह दिया कि वे किसी के लिये पूर्व में कह चुके हैं अब अन्य के लिये कहना उपयुक्त नहीं होगा।

दीवान साहब की महती कृपा :

संसार में मनुष्यों के जीवन में सदा बादल स्वच्छ नहीं रहते हैं कभी-कभी काली घटाओं से आच्छादित हो जाते हैं। वैसे ही जीवन में भी काले बादल पूर्णरूप से छा गये, डॉ. साहब को जब यह मालूम हुआ तो उन्हें बहुत दु:ख हुआ और मुझे सांत्वना प्रदान की ही नहीं बल्कि आशीर्वाद भी दिया कि ये बादल जल्दी से जल्दी छंट जायेंगे। इसी बीच में उनकी मुलाकात उन सज्जन से हो गई जो इस काले बादल के मुख्य सूत्रधार थे। डॉ. साहब ने उनसे कहा कि क्या आपको लीलाधर ही शिकार बनाने को मिले थे, तो उन्होंने उत्तर दिया कि कभी-कभी कठोर फैसले करने पड़ते हैं। डॉ. साहब बात से उत्तेजित हो गये और उनसे कहा कि उसके बाबा कोटा राज्य के लोकप्रिय विख्यात दीवान थे। आपके घरवालों का तो अता-पता भी नहीं होगा। अत: मैं डॉ. साहब से बहुधा उनके निवास पर मिलने जाता रहता था। वे बड़े प्रेम से मिलते थे, यदि कार्यरत होते तो काम में विश्राम कर देते थे, अक्सर मेरे पितामह के सम्बन्ध में बात-चीत होती थी। मुझसे वे कहते थे कि लोग अपने पिता बाबत ज्यादा

कहना पसन्द करते हैं, लेकिन मैं अपने बाबा के विषय में कहता रहता था। उनका कथन था कि दीवान साहब मेरी उस समय सहायता नहीं करते तो मेरा वर्तमान स्वरूप बन नहीं सकता था। यह सब कुछ उन्हीं का कृपा का फल है।

मन्त्रीजी की शिक्षण संस्था का निरीक्षण :

डॉ. साहब का कोटा से जयपुर स्थानान्तरण भी एक अजीबो गरीब कहानी है। वे बीमार थे। वे यात्रा करने में असमर्थ थे, फिर भी तत्कालीन शिक्षामंत्री ने इस तथ्य को नकारते हुए जयपुर से सरकारी कार मय लवाजमा के कोटा से जयपुर उन्हें जाने के लिए भिजवायी, जिस भी हालत में हों। स्थानान्तरण नौकरी में एक साधारण प्रक्रिया होती है लेकिन ऐसी तुग़लकशाही और नादिरशाही फ़रमान केवल डॉ. साहब के जीवन में ही लागू होते हैं। कुछ अन्तराल के बाद डॉ. साहब उन मंत्री महोदय की संस्था का निरीक्षण करने, शिक्षा निदेशक के रूप में गए तो वे महाशय सिट्टी-पिट्टी भूल गये। डॉ. साहब के सामने आँखे नीची किये बैठे रहे और आँखों से आँखें नहीं मिला सके। डॉ. साहब ने फिर भी उनके संग सज्जनता का व्यवहार किया। उपरोक्त व्यवहार को नजर अन्दाज़ करते हुए। डॉ. शर्मा ने अपने जीवनकाल में बचपन से ही मृत्यु तक संघर्ष जारी रखा। नियोजन काल समाप्त हो गया तो बीमारियों से बराबर संघर्ष करते रहे, लेकिन हिम्मत नहीं हारी, कठिनाइयों से मुकाबला करना उनका स्वभाव बन गया था। मनोबल सदैव अच्छा रखते थे। शंकित किसी के प्रति नहीं होते थे। आत्मसम्मान कूट-कूट कर भरा हुआ था। हिन्दु होने का उन्हें गर्व था और कट्टर आर्यसमाजी भी थे। बड़ों को आदर व बराबर वालों से सज्जनता का व्यवहार तथा छोटों से स्नेह करते थे और सेवाभावी बहुत थे। इन्हीं गुणों के कारण डॉ साहब का जीवन अनुकरणीय है। हम उनके बताये हुए मार्ग पर चलकर सच्ची श्रद्धांजलि अर्पित कर सकते हैं। सम्पूर्ण जीवन चुनौती पूर्ण रहा। कठोर परिश्रम, अध्ययन, लग्न, निष्ठा के आधार पर जीवन को ढाला था। परिणामस्वरूप वे पुरुष से महापुरुष हो गये। उनका जीवनकाल इतना विस्तृत है कि उस पर कई ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं, मैंने तो केवल मात्र गुरु और शिष्य के सम्बन्ध के कारण कुछ संस्मरण लिखने का प्रयास किया है और उनका उल्लेख करके मैं उनको नमन करता हूँ

5, द्वारकापुरी
जमनालाल बजाज, सी-स्कीम, जयपुर

❑

विलक्षण मेधा के धनी

डॉ. मथुरालाल शर्मा उच्च मेधा सम्पन्न तथा विश्वसनीय स्मृति के धनी थे। प्राथमिक विद्यालय के शिक्षक के रूप में जीवन प्रारम्भ कर आप कुलपति के उच्च पद पर पहुँचे। श्रेष्ठ की प्राप्ति ही आपका जीवन लक्ष्य था। ज्ञान का प्रकाश फैलाने के लिए शिष्यों का एक बड़ा परिवार छोड़ गए।

- जस्टिस बी. पी. बेरी

यादें जो शेष रह गईं

– डॉ. जे. के. ओझा

हम नाग पालते हैं :

सन् 1969 ई. में भीलवाड़ा कॉलेज से बी. ए. किया उस समय तक डॉ. मथुरालाल शर्मा का नाम एक सुप्रसिद्ध इतिहासकार एवं राजनीतिशास्त्र के मूर्धन्य विद्वान् के रूप में पढ़ा और सुना था। उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर से 1971 ई. में एम. ए. इतिहास में किया तब तक तो आपके विद्वान् लेखक के रूप में तथा जरनल ऑफ़ दी राजस्थान इन्स्टीट्यूट ऑफ़ हिस्टोरिकल रिसर्च के सम्पादक के रूप में आपके नाम से करीबी से परिचित हुआ तथा जब तक भी आवश्यकतानुसार संदर्भों एवं कोटेशन्स के रूप में आपके नाम का उपयोग एक इतिहासकार के रूप में करता रहा। तब कौन जानता था कि यही व्यक्तित्व शोध–कार्य की श्रृंखला में मेरा 'दादा गुरु' होगा। सन् 1971 ई. में एम. ए करने के तुरन्त बाद डॉ. कृष्णस्वरूप गुप्त के निर्देशन में शोध–कार्य करना प्रारम्भ किया तब ज्ञात हुआ कि डॉ. एम. एल. शर्मा से मेरा काफ़ी नजदीकी रिश्ता 'दादा गुरु' का जुड़ गया है। इससे मेरी उनके प्रति अगाध श्रद्धा में अपनत्व के भाव जुड़े वहीं उनके दर्शनों की ललक भी बढ़ी। राजस्थान हिस्ट्री काँग्रेस के अजमेर सत्र में भाग लेने गया। तब राजकीय महाविद्यालय में प्रो. सतीश चन्द्रा के अध्यक्षीय भाषण के बाद लॉन पर चाय हो रही थी तब डॉ. शर्मा के पास मैं भी खड़ा हो गया। वे अपनी हम उम्र के विद्वानों एवं अन्य रिसर्च स्कॉलरों से बातचीत कर रहे थे। नाटे कद के गौर वर्ण के क्रीम कलर का बंद कंठी का जोधपुरी कोट–पेन्ट पहिने, बेंत हाथ में लिये, काली टोपी लगाये, सहज एवं सरल भाव से बातें कर रहे थे। तब एक शख्स ने पूछा डॉ. साहब आप कहाँ ठहरे हैं? तब डॉ. शर्मा साहब ने हाथ का इशारा करते हुए नाग का फन बताया और कहा हम नाग पालते हैं इसलिए नागपाल होटल में ठहरा हुआ हूँ। यों वे बड़े स्पष्टवादी सहज एवं सरल प्रकृति के थे किन्तु मैं अपनी बाईस वर्षीय उम्र के कारण संकोचवश तब केवल प्रणाम करके रह गया।

हस्ताक्षर सीधे, सरल :

उदयपुर में सम्भवतः अगले ही वर्ष श्री शिवचरणलाल मेनारिया की पी–एच.डी. का वायवा लेने डॉ. शर्मा ही आये। एम. बी. कॉलेज के इतिहास में ही कोई छुट्टी का दिन था उस दिन वायवा हुआ। डॉ. के. एस. गुप्ता ने मुझे पूर्व से ही कह दिया था कि डॉ. शर्मा पधारेंगे तुम डिपार्टमेन्ट पहुँच जाना। मैं इतिहास विभाग में पहुँचा तब डॉ. गुप्ता, डॉ. शर्मा एवं श्री मेनारिया बैठे थे। अजमेर मेरा पहले से ही देखा हुआ था। अतः डॉ. को 'प्रणाम अर्ज़' करके पास की कुर्सी पर बैठ गया। 'वायवा' की औपचारिकता के बाद गुप्ता ने मेरा डॉ. साहब से परिचय कराते हुए, 'यह जमनेश ओझा है मेनारिया से आगे वाले पीरीयड़ पर शोध कार्य प्रारंभ किया है। डॉ. मथुरालाल जी ने कहा अब तो बीकानेर में आर्का. का बड़ा आराम हो गया है। जब तुमने पी–एच.डी. की थी तब जयपुर में रिकार्ड उपलब्ध था। मैं बैठा रहता था और ये लोग रिकार्ड उठा–उठा कर लाते और छाँटते थे। तब मैं भी द्वंद्व में था, अतः मैंने डॉ. साहब से पूछा कि शोध–प्रबंध हिन्दी में लिखा जाय या अँग्रेज़ी भाषा में तो आपने कहा कि भाषा कोई भी हो उसमें पूर्ण पांडित्य

प्रदर्शित किया जाय तो दुनिया की किसी भी भाषा में अनुवाद होते देर नहीं लगेगी। इस बीच बिल आदि पर हस्ताक्षर कराने बाबू आ गया तो आपने हस्ताक्षर करते हुए कहा कि हिन्दी मे और अँग्रेजी दोनों में मेरे हस्ताक्षर बड़े सीधे हैं। कोटा राज्य का प्रधानमंत्री रहा तो भी और वाइस चांसलर रहा तो भी मेरे सिगनेचर ऐसे ही थे। आज तक तो मेरे साथ किसी ने धोखा किया नहीं है। मैंने निवेदन किया हस्ताक्षरों से व्यक्ति के व्यक्तित्व का पता लगता है। बोले ठीक कह रहे हो, जितना सीधा हूँ सिगनेचर भी उतने ही सीधे हैं। के. एस. जब तुम पी-एच.डी. कर रहे थे तब उस बैच में अधिकांशत: के. एस. नाम के केन्डीडेट्स ही काम कर रहे थे। मैंने यह देखा कि उन्हें अपने विद्यार्थियों से कितना प्रेम था, किस सहज स्नेह से यदाकदा ऐसे सुवसरों पर उन्हें याद किया करते थे। जब एम. बी. कॉलेज से हम एक दूसरे से विदा होने लगे तो डॉ. शर्मा ने फर्माया जमनेश मैं अपने लड़के प्रोफ़ेसर एम. एम. शर्मा के यहाँ ठहरा हुआ हूँ। कल शाम तक जयपुर निकल जाऊंगा। तुम आ सको तो आना, बातचीत करेंगे। मैंने इसे अपना सौभाग्य स्वीकारते हुए डॉ. के. एस. गुप्ता से प्रो. एम. एम. शर्मा के घर का पता लेकर दूसरे दिन प्रात: कोई 6.30 बजे पहुँचा। बाहर से फाटक नोक की, कारण कि उनके यहाँ एक बड़ा सा विदेशी नस्ल का कुत्ता जो पाला हुआ था जिसके बारे में फाटक पर ही सावधान रहने को लिखा हुआ था। इस बीच उनका नौकर आया, साथ में विशालकाय वह कुत्ता भौंक रहा था। मैं भयभीत था और कहा डॉ. एम. एल शर्मा से मिलना है। तब तक डॉ. साहब स्वयं बाहर आ गये। भय के कारण मैं उनसे से प्रणाम भी नहीं कर सका और मेरा सारा ध्यान उस कुत्ते की ओर था। नौकर ने उसे पकड़ लिया फिर भी सहमे सहमे मैं अंदर गया थोड़ी देर बाद संयत होकर डॉ. साहब से बातचीत कर सका। कई तरह के प्रश्न आपने किये तब कहा, ''जमनेश तुम आर. ए. एस. आदि कम्पीटीटिव एक्ज़ामिनेशन क्यों नहीं देते?'' मैंने कहा, ''मैं एम. ए. कर रहा था तभी से एक इच्छा थी शोध कार्य करूँ और कॉलेज में लेक्चरर बनूँ।'' तब आपने कहा कि, ''तुम्हारी इतनी ही रुचि है तो शोधकार्य दिल से तय करो। मैंने अपने जीवन के प्रथम पचास वर्ष तो केवल अध्ययन किया और उसके बाद लिखना प्रारम्भ किया। तुम जितना पढ़ोगे तुम्हारी लेखनी में उतनी ही परिपक्वता आयेगी।'' फिर उन्होंने किसी व्यक्ति के बारे में पूछा तो मैंने कहा कि मेरा उनसे निकट का सम्पर्क नहीं है। तब आपने बताया कि वे मेरे पास पी-एच. डी. का रजिस्ट्रेशन कराने आये तो 'आई डिनायड हिम' सूटेड-बूटेड का क्या काम है? हिस्ट्री की रिसर्च में तो जी जान से लगना पड़ता है। फिर वो अन्य के पास गये।'' बातों ही बातों में डॉ. शर्मा ने बताया कि उन्होंने जीवन में अपने शरीर पर कभी साबुन नहीं लगाया। यही कारण है कि मैं आज भी उन्हें याद करते हुए कहा करता हूँ कि अपनी जीभ और डॉ. साहब की 'पगथली' (पैर का तलुआ) बराबर नरम थी। मुझे भली भाँति स्मरण है नाश्ता-चाय भी डॉ. साहब के साथ लिया और कोई तीन घंटे से भी अधिक समय उनके साथ अनौपचारिक बातें कीं। ऐसे विद्वान् की सन्निकटता से मैं अपने आपको धन्य एवं गौरवान्वित मान रहा था। दूसरे-तीसरे दिन डॉ. गुप्ता से मिलना हुआ तो कहने लगे, ''मथुरालालजी तेरी बड़ी तारीफ़ कर रहे थे। वे तुझ से बड़े प्रभावित हुए। मैंने कहा कि आप गुरु हैं और वे आपके गुरु हैं, मूल से ब्याज प्यारा होता है, मैं उनका पोता शिष्य हूँ इसलिए कृपा की होगी।'' वे हँसने लगे और बोले मथुरालालजी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे स्पष्टवादी हैं। उन्हें किसी से कोई सरोकार नहीं और सबसे बड़ी बात यह है जमनेश कि वे अपने स्टूडेन्ट्स की पूरी मदद करते थे और कभी मुँह पर नहीं लाते कि तुम्हारी मदद की। अहसान

जतलाने की आदत नहीं थी। ऐसा व्यक्तित्व का धनी तो मैंने भी अपने जीवन में नहीं देखा। शर्मा साहब की तो बात ही और है।'' मैं चूँकि गुरु मार्गी हूँ। अत: के. एस. गुप्ता से मैं यदा-कदा डॉ. मथुरालाल के संदर्भ छेड़ कर अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त करने का प्रयास करता था। वे भी सदैव निश्छल भाव से उनकी बड़ी तारीफ करते थे। गुप्ता सा. ने बताया कि, ''जमनेश मुझे डॉ. शर्मा में कोई कमी नजर ही नहीं आती। उनसे तो जितना सीखो कम है।'' एक दिन उनका जयपुर से पत्र आया कि उन्हें 'शकुन समसार' हस्तलिखित ग्रन्थ जो प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, उदयपुर में संग्रहीत है की प्रतिलिपि की आवश्यकता है। डॉ. गुप्ता ने यह कार्य मुझे सौंपा। पन्द्रह दिन में नकल कर के उन्हें दे दी जिसे उन्होंने जयपुर डॉ. शर्मा को भेज दिया। उन दिनों जेरोक्स आदि की सुविधा नहीं थी।

एक दिन तुम भी :

दिसम्बर 21 से 23, 1976 ई. को उदयपुर में राजस्थान हिस्ट्री काँग्रेस का दसवाँ सत्र था जिसमें डॉ. शर्मा भी पधारे थे। प्रथम दिन सायं के कोई 4.30 बजे होंगे, उन्हें जब पता लगा कि डॉ. गोपीनाथ शर्मा आये हुए हैं किन्तु बुखार के कारण गेस्ट हाउस में ही ठहरे हुए हैं। अत: वे उनकी कुशल पूछने उनके सुपुत्र प्रो. एम. एम. शर्मा की कार से जा रहे थे, तब एम. एम. शर्मा ने मुझे इशारे से बुलाते हुए डॉ मथुरालालजी से कहा, ''ही इज़ युअर ग्रान्डसन'' तब उन्होंने ने कहा, ''यस आई नो हिम।'' डॉ. बेनी गुप्ता ने पूछा, ''कैसे?'' उन्होंने कहा ''ही इज़ द रिसर्च स्टूडेन्ट ऑफ़ के. एस. गुप्ता।'' डॉ. बेनी गुप्ता ने प्रसन्नता जाहिर की। डॉ. साहब ने मुझे भी अपने साथ लिया और हम गेस्ट हाउस गये। डॉ. जी. एन. शर्मा की कुशल पूछने के बाद जब डॉ. एम. एल. शर्मा एक-एक पैर रखते हुए सीढ़ियाँ उतर रहे थे तब एकाएक रुके और बोले ''जमनेश! मुझे इस समय सर जदुनाथ सरकार की याद आ रही है। जब वे इस प्रकार से उतर रहे थे तो मैंने उनसे पूछा तब वे बोले यह उम्र का तकाज़ा है। एक दिन तुम भी इसी प्रकार उतरोगे।'' ''जी हाँ'' मैंने कहा। आज मैं जब कभी सीढ़ियों से इस तरह से उतरता हूँ तो मुझे अनायास उनकी यह बात याद आ जाती है और जब-तब भी कोई साथ होता है तो उनकी कही बात सुनाता हूँ। तभी रास्ते में कार में ही बताया कि ''लोगों ने इतिहास शब्द को इतना समझाने का प्रयास किया कि समझना तो दूर यह और उलझ गया। अरे भाई एति + हास = ऐसा हुआ वह इतिहास है।''

सारस्वत परिवार :

मैं उन्हें पत्र लिखता, वे उनका उत्तर अधिकांशत: अपने स्टेनो से टाइप कराके और कभी-कभी स्वयं हाथ से लिख भेजते थे। उनके सभी पत्र एक साथ संग्रहीत कर 'श्रीमती मांग बाई ओझा स्मृति ग्रन्थागार' मांडल में सुरक्षित रखे हैं। उनके यहाँ से प्रकाशित होने वाले रिसर्च जरनल में मेरे आर्टिकल्स प्रकाशित करते हुए मुझे उन्होंने सदैव प्रोत्साहित किया। मेरी पी-एच. डी. की पुस्तक 'मेवाड़ का इतिहास 1734 ई. से 1778 ई.' एस. चाँद एण्ड कं., नई दिल्ली से 1980 ई. में प्रकाशित हुई। तब उन्होंने मुझे जयपुर से लिखा मैं इस पुस्तक पर टिप्पणी करके अपने रिसर्च जरनल में प्रकाशित कराऊँगा। एस. चाँद एण्ड कं., ने उन्हें यह पुस्तक भेजी थी जिसकी प्राप्ति की सूचना डॉ. साहब ने मुझे पत्र द्वारा दी, किन्तु इसे मेरा दुर्भाग्य समझो कि ऐसे महान विद्वान् के हाथों सम्मति लिखी तो गई किन्तु प्रकाशित न हो सकी और काल के कठोर हाथों ने ऐसे इतिहास व राजनीतिशास्त्र के सरल, सीधे, सच्चे महान विद्वान् को हमारे बीच से उठा लिया।

तब शोकाकुल परिवार को संवेदना पत्र भेजने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं था। श्री एम. एम. शर्मा का पत्र भी आया। यों रक्त सम्बन्ध से तो शोकाकुल परिवार उनका अपना था जिसे पत्र लिखने की औपचारिकता भी कर दी किन्तु इतिहास एवं राजनीतिशास्त्र से जुड़े सभी विद्वजन डॉ. मथुरालालजी से एक परिवार के जन के रूप में जुड़े रहे हैं उन्हें सांत्वना कैसे दी जाय? यह रिक्तता तो भरी नहीं जा सकती। परन्तु यह एक सुयोग ही था कि 6-7 मार्च, 1995 ई. को कोटा खुला वि.वि. कोटा के इतिहास विभाग द्वारा आयोजित सेमिनार के समय डॉ. बेनी गुप्ता के दर्शन हुए और सारी यादें एक रील की भाँति मानस में घूम गईं। उनसे बातचीत हुई तो डॉ. बैनी गुप्ता ने बताया कि उनका स्मृति ग्रन्थ शीघ्र ही प्रकाशित होने जा रहा है। वास्तव में हम उनकी पावन स्मृति को स्मरण कर इस स्मृतिग्रन्थ के माध्यम से डॉ. मथुरालालजी शर्मा के सारस्वत (अकादमिक) परिवार के जनों को कुछ तोष दे पायेंगे और आने वाली पीढ़ी सुज्ञात विद्वान् के रूप में तो उन्हें जानेगी ही किन्तु इस ग्रन्थ से हम उनके व्यक्तित्व के कुछ अंश बता पायेंगे कि ऐसे थे डॉ. साहब जिनसे प्रेरणा लेकर हमें भी काफ़ी सीखना है, यही संतोष होगा।

पोस्ट ऑफ़िस के पास
पो. कानोड़ा 313604
ज़िला उदयपुर

❑

विशाल स्मृति

राजस्थान के पूर्व राज्यपाल महामहिम रघुकुल तिलक की प्रेरणा से राजस्थान सरकार ने डॉ. मथुरालाल शर्मा से **राजस्थान का स्वतन्त्रता आन्दोलन** विषयक पुस्तक के प्रणयन का अनुरोध किया और इसके लिए बजट तथा प्रत्येक सम्भाग से सामग्री संकलन के लिए एक-एक अधिकारी नियोजित करने का प्रावधान था। डॉ. साहब ने इसको अनावश्यक समझा और कहा कि राजस्थान में स्वतन्त्रता आन्दोलन की सब घटनाएँ उनके जीवन काल में हुई हैं, जो उनकी स्मृति में हैं। उनको इस विशेष व्यवस्था की आवश्यकता नहीं है और डॉ. साहब ने अपनी स्मृति के आधार पर ही उस ग्रंथ की रचना की। ऐसी विशाल थी उनकी स्मृति और उनका वैदुष्य। डॉ. साहब को गीता, उपनिषद, रामायण आदि कंठस्थ थे।

प्रज्ञा पुरुष डॉ. मथुरालाल शर्मा

- डॉ. प्रेमचंद विजयवर्गीय

डॉ. मथुरालाल शर्मा एक ऐसा प्रभावशाली व्यक्तित्व थे जिनके पास व्यवहार की कमनीय स्नेहिलता, वाणी की मधुर मृदुलता, ओठों पर तैरती मुस्कान की तरलता, नयनों से झाँकती पारदर्शिता के साथ मेधा की प्रखरता, चिन्तन की गहनता, अन्वेषक की सूक्ष्मता और विचारणा की मौलिकता– सब कुछ एक साथ थी, और जिनमें कुशल शिक्षक, शिक्षाविद् और प्रशासक की समन्वित संगति थी। आज से 51 वर्ष पूर्व जब मैं हर्बर्ट कॉलेज में उनका विद्यार्थी था मैंने उनको नोट्स से डिक्टेशन देना तो दूर, नोट्स अपने साथ लाते तक नहीं देखा। विषय का ज्ञान उनके मुख से स्वत: उद्गीरित होता था। अन्तसन्दर्भों और उदाहरणों से वे अपने विषय को रोचक बनाते चलते थे। वे एक कुशल और प्रभावकारी वक्ता थे, हाँ यदा-कदा मधुर व्यंग्य का पुट भी अपनी वक्तृता में कर जाते थे। उनके जीवन सागर मे ज्वार भाटे भी आये पर विपरीत परिस्थितियों में भी, नियति के महामत्स्य ने, मनु के सदृश, उनकी नौका को हिमगिरि के उत्तंग शिखर पर पहुँचा दिया। अभिशाप भी उनके लिये वरदान बन गया। उनका विद्यार्थी आंदोलन के कारण हर्बर्ट कॉलेज के प्रिंसिपल पद से महाराजा कॉलेज, जयपुर के प्रिंसिपल के रूप में स्थानान्तरण कर दिया गया, पर यही स्थानान्तरण उनके लिए उन्नति का सोपान बन गया। वे कुछ समय पश्चात् महाविद्यालयी शिक्षा के निदेशक और तत्पश्चत् राजस्थान विश्वविद्यालय के उपकुलपति (वर्तमान संज्ञा में कुलपति) हो गये। इस प्रकार अपनी विद्वत्ता शिक्षाविद्ता, प्रशासकीय क्षमता के कारण वे शिक्षा के उच्चतम शिखर तक पहुँचे।

मूलत: अन्वेषक :

डॉ. मथुरालाल जी मूलत: और प्रधानत: एक विद्वान्, अन्वेषक और लेखक थे। अपनी अन्वेषण क्षमता के कारण उन्होंने न केवल बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से इतिहास विषय में डी. लिट् की उपाधि प्राप्त की वरन् अपनी इस अन्वेषण क्षमता और लेखन प्रतिभा का परिचय अपने उत्तर जीवनकाल में भी दिया। कहना न होगा, उनके द्वारा लिखा हुआ कोटा राज्य का इतिहास कोटा राज्य का प्रथम, मौलिक, अन्वेषणपूर्ण, वृहदाकार, इतिहास है। यह ग्रन्थ इतिहास लेखन के क्षेत्र में एक ऐसा अवदान और उपलब्धि है जिसने उन्हें इतिहास-शिक्षक से भी ऊपर एक कुशल इतिहासकार के रूप में प्रतिष्ठित किया। पर उनके अन्वेषण, विचार और अभिमत की मौलिकता कोटा के इतिहास तक सीमित न रहकर राजस्थान के इतिहास के सम्बन्ध में भी थी, यही कारण है कि उन्होंने कर्नल टॉड द्वारा लिखित 'एनल्स एंड एंटिक्विटीज़ ऑफ़ राजस्थान' में तथ्यों की त्रुटियों की ओर निर्देश किया था टॉड के उक्त ग्रन्थ को डॉ. रघुवीर सिंह द्वारा किये गये हिन्दी अनुवाद में लिखी गयी अपनी भूमिका में। वस्तुत: डॉ. मथुरालाल जी एक ऐसे अन्वेषक थे जिनकी दृष्टि तथ्यान्वेषी, तलस्पर्शी, तात्विक और वैज्ञानिक थी। अनुसंधान की उनकी इस रुचि और दृष्टि के कारण ही उन्होंने जयपुर में अपने निर्देशन में एक अनुसंधान केन्द्र की स्थापना की जिसमें वे जीवन के अंतिम समय तक इतिहास में शोधकार्य कराते रहे, जिसका पृथक् से ऐतिहासिक

महत्व है।

राजनीतिशास्त्र में भी रुचि :

डॉ. साहब की रुचि इतिहास के अतिरिक्त राजनीतिशास्त्र में भी थी। उन्होंने अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों पर भी ग्रन्थ रचना की जिसमें केवल तथ्यों का संकलन ही नहीं आकलन भी है। इस तथ्य संकलन में जहाँ उनके अध्ययन, अन्वेषण और विश्लेषण-चातुर्य का परिचय मिलता है वहीं उनके मौलिक चिंतन एवं विवेचन की क्षमता का भी। यहाँ स्थानाभाव से उनके द्वारा नवस्वतंत्र भारत की विदेश नीति के विश्लेषण विवेचन का ही उदाहरण देना पर्याप्त होगा। उन्होंने लिखा कि किसी देश की विदेश नीति जिन अनेक आधारभूत तत्त्वों पर विकसित होती है वे प्रधानतः भौगोलिक, ऐतिहासिक और आर्थिक होते हैं, भारत भी इस सिद्धान्त का अपवाद नहीं है। उनके विचार से भारत की तत्कालीन विदेश नीति के निर्धारण में जिन ऐतिहासिक परम्पराओं का महत्वपूर्ण स्थान रहा वे थीं- भारत का इंग्लेंड से सम्बन्ध, सामान्य संसदीय प्रणाली, अँग्रेज़ी भाषा का उपयोग आदि। राष्ट्रमंडल के द्वारा ये सम्बन्ध और भी गहरे हुए। इसी प्रकार विदेश नीति के निर्धारण में भारत और चीन के ऐतिहासिक सम्बन्ध भी एक आधार बने। इसी प्रकार लंका, हिन्देशिया, नेपाल और अफ़गानिस्तान के साथ परम्परागत सम्बन्ध भी आधार बने। इसके अतिरिक्त भारत वर्ष प्राचीन समय से ही शांतिप्रिय देश रहा है, साथ ही वह उपनिवेशवाद विरोधी नीति भी आरम्भ से अपनाता रहा है। इस कारण ये सभी तत्व भारत की विदेश नीति का सुदृढ़ आधार बने।

विदेशनीति में बौद्ध धर्म :

दार्शनिक आधार की दृष्टि से महात्मा गाँधी के सत्य और अहिंसा के सिद्धान्त को तो वे मानते हैं, परन्तु वे मानते हैं कि विदेशनीति में बौद्ध धर्म के सिद्धान्त को नहीं अपनाया जा सकता। अहिंसा का सिद्धान्त अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में पूर्णतः क्रियान्वित नहीं किया जा सकता। कश्मीर आदि की समस्याओं को हल करने के लिए भारत ने अहिंसा को नहीं अपनाया। उनके विचार से भारत की विदेशनीति में जिन सिद्धान्तों को आधारभूत माना गया वे थे- साम्राज्यवाद का विरोध, विदेशी गठबन्धन से दूर रहना तथा शान्ति का समर्थन करना। इस प्रकार आन्तरिक और बाह्य दोनों क्षेत्रों में भारत ने अपनी स्वतन्त्र नीति का अनुसरण किया, और अन्तरराष्ट्रीय संघर्षों में तटस्थ नीति को अपनाया।

आर्थिक क्षेत्र में कृषि और उद्योगों के विकास तथा पंचवर्षीय योजनाओं के क्रियान्वयन के लिए भारत ने तटस्थता, मित्रता और शान्ति के आधार पर ऐसी विदेश नीति अपनायी जिससे इंग्लैण्ड, अमेरिका, रूस, जर्मनी, जापान आदि सब देशों से आर्थिक सहायता मिल सके।

सन्तुलित विदेशनीति :

डॉ. मथुरालाल शर्मा ने भारत की विदेश नीति के निर्माण में, महात्मा गाँधी और पं. जवाहरलाल नेहरू के व्यक्तित्व की छाप के कारण व्यक्तित्व को भी प्रधान माना है। पं. नेहरू का व्यक्तित्व तो बहुत असाधारण, अत्यन्त उत्कृष्ट, तथा भारत के हित और विश्वकल्याण के लिए परम महत्वपूर्ण रहा है, इस कारण उनका प्रभाव तो विदेशनीति पर रहना बहुत स्वाभाविक था, पर उनके अतिरिक्त कृष्ण मेनन, देसाई आदि का भी प्रभाव रहा, यों मंत्रीगण, संसद, कूटनीतिक वर्ग, प्रेस आदि का भी यत्किंचित प्रभाव पड़ा। शिक्षण संस्थाओं, धर्म आदि का प्रभाव उस पर नहीं पड़ा।

विदेशनीति के इस आधारभूत तत्वों के विश्लेषण के आधार पर डॉ. साहब की यह मान्यता रही कि भारत की विदेशनीति बहुत सुदृढ़ आधार और

आदर्श पृष्ठभूमि पर स्थित है और वह सन्तुलित है। उसको केवल 'नेहरू नीति' कहना अनुचित है। वस्तुत: राष्ट्रीय हित ही उसका मूल आधार है, और संसार के सभी राष्ट्रों से मैत्री पूर्ण सम्बन्ध रखना उसका प्रधान उद्देश्य है।

किसी भी देश की विदेशनीति के सम्बन्ध में डॉ. साहब की यह मान्यता थी कि वह स्थाई नहीं रह सकती क्योंकि परिस्थिति और समय के अनुसार उसका संशोधित होना अनिवार्य होता है। स्वतंत्र होने के पश्चात् भारत की विदेशनीति के विकास का विश्लेषण करने पर उन्हें उसमें दो मुख्य तत्व दिखाई पड़े जो निम्न हैं:-

1. किसी राष्ट्र की गुटबंदी में सम्मिलित नहीं होना,

2. पंचशील का सिद्धान्त।

इन दोनों की व्याख्या करने के पश्चात् डॉक्टर साहब ने भारत की विदेशनीति के निम्न लिखित 14 उद्देश्य निरूपित किये :-

1. भारत की समृद्धि को बढ़ाना
2. भारत को प्रभावशाली निष्पक्ष शक्ति के रूप में स्थापित करना।
3. अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के समस्त मार्ग खुले रखना।
4. नेपाल के विदेशी सम्बन्धों पर नियंत्रण बनाये रखना।
5. समस्त एशिया की शक्ति एवं संगठन को दृढ़ बनाना।
6. उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद तथा प्रजातीय भेद की नीति का विरोध करना।
7. किसी भी गुटबन्दी में सम्मिलित न होते हुए विदेशी सम्बन्धों के क्षेत्र में भारत की स्वतंत्रता सुरक्षित रखना।
8. भारत के उन भागों को जो फ्रांस और पुर्तगाल के अधीन हैं, भारत में सम्मिलित करना।
9. दक्षिण-पूर्वी एशिया में स्वतंत्र राष्ट्रीय सरकारों की स्थापना में सहायता करना।
10. विश्व के समस्त सम्भव देशों से सहायता प्राप्त करना।
11. कश्मीर समस्या तथा भारत-पाक विवादों में अंतरराष्ट्रीय समर्थन प्राप्त करना।
12. विदेशों में रहने वाले भारतीयों की रक्षा करना।
13. समय तथा सुयोग के अनुसार विश्व की शांति व रक्षा के लिए यथासाध्य चेष्टा करना।
14. संयुक्त राष्ट्र संघ के सिद्धान्त में विश्वास रखना और उसे कार्यान्वित करने के लिए प्रयत्न करना।

शान्ति का सहारा :

डॉ. साहब यह मानते थे कि भारत की प्रतिष्ठा और गौरव उसकी इस विदेशनीति के कारण ही है। पर साथ ही वे कुछ मामलों में भारत की विदेश नीति की असफलता को भी रेखांकित किया। उदाहरणार्थ काश्मीर समस्या, भारत-चीन सीमा विवाद, ये तो उन हितों की बात है जो प्रत्येक दृष्टि से हमारे दावे को सिद्ध करते हैं और उन दावों को वैधानिक मान्यता भी प्राप्त है, फिर भी डॉ. साहब के मतानुसार, ''हम अपनी कमज़ोरी को छिपाने के लिए शांति का सहारा लेकर चुपचाप बैठते हैं। इसी प्रकार उन्होंने आलोचना की कि भारत लंका, नेपाल तथा दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के हितों की रक्षा करने और उनकी कठिनाइयाँ दूर करने में असफल रहा। इसे उन्होंने भारत की विदेशनीति की असफलता बताया। डॉ. साहब ने भारत की विदेश नीति की एक और कमज़ोरी बतायी और वह यह कि भारत दूसरे देशों में घटित होने वाली घटनाओं

के सम्बन्ध में तत्काल ही अपनी राय देने से नहीं चूकता।

इतिहास लिखते-लिखते :

उपर्युक्त आलेखन से यह सिद्ध होता है कि डॉ. मथुरालाल शर्मा राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में भी अपनी विद्वता की दख़ल रखते थे और वे सामान्यत: अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों, और प्रस्तुत संदर्भ में भारत की तत्कालीन विदेश नीति के ज्ञाता होने के साथ विश्लेषणक, विवेचक एवं समीक्षक भी थे। इतिहास के अन्वेषक होने के अतिरिक्त यह उनकी विद्वता का दूसरा प्रमाण है। निस्संदेह वे एक प्रज्ञा पुरुष थे, जो इतिहास लिखते-लिखते स्वयं एक इतिहास बन गये।

- पूर्व प्रोफ़ेसर, अध्यक्ष एवं डीन
105, अग्रसेन बाज़ार
कोटा- 6

ग़रीबों के रहनुमा

डॉ. मथुरालाल शर्मा ग़रीबों के रहनुमा थे। पिता के देहावसान के बाद जीवन के प्रारम्भिक काल में कठिनाइयों का सामना करने से उन्हें पता था कि ग़रीबी क्या होती है, अभाव का क्या अर्थ है? और ग़रीब छात्रों को किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। डॉ. साहब के प्राचार्य पद पर आसीन होते ही उन्होंने ग़रीब छात्रों को छात्रवृत्तियाँ दीं। जिन विद्यार्थियों को परिवार का पालन भी करना पड़ता था उन्हें वे कॉलेज लायब्रेरी में अथवा अन्य प्रकार से रोज़गार भी उपलब्ध करवा देते थे। ऐसे छात्र अपने गुरु की कृपा से कैसे उऋण हो सकते हैं। जीवन के हर मोड़ पर उनका वरदहस्त दिखाई देता है। वे तो सचमुच दरिद्रनारायण थे।

- नेमीचन्द जैन

हाड़ौती के वरद पुत्र

– रूपचन्द गुप्त

खद्दर की धोती, लम्बा कोट व काली टोपी में बँधा डॉ. शर्मा का व्यक्तित्व अथक परिश्रम, सरस्वती की आराधना, इतिहासकार की लग्न और उत्साह तथा विद्वता का प्रतीक है। कौन जानता था कि बारां ज़िले के छोटे से ग्राम समसपुर में जन्मा ब्राह्मण का बालक एक दिन भारत के महान् इतिहासकारों में गिना जाएगा।

सादा जीवन उच्च विचार :

डॉ. शर्मा ने सिद्ध कर दिया कि प्रतिभा, विघ्न व बाधाओं के घेरे में बँध कर नहीं रहती। वह मुसीबतों की चट्टानों को तोड़ती हुई वेगवती नदी की भाँति मानव कल्याण के लिए फूट पड़ती है। इस महान् विद्वान् का गहन अध्ययन सादा जीवन व उच्चविचार छात्रों, अध्यापकों और सम्पूर्ण समाज के लिए सदा समर्पित रहे।

आपके पिता पंडित कन्हैयालाल शर्मा अपनी विद्वता व स्नेहपूर्ण व्यवहार के कारण ग्रामवासियों में अत्यन्त लोकप्रिय रहे। आपके पिता संस्कृत भाषा के अच्छे ज्ञाता थे। भागवत् व पुराणों में उनकी रुचि थी। वे इन धार्मिक ग्रंथों के आधार पर अपने धार्मिक प्रवचन दिया करते थे। वे ज्योतिष के भी ज्ञाता थे।

अपनी सुवास से राष्ट्र सुवासित :

सन् 1896 में आषाढ़ कृष्णा 3, सम्वत् 1952 को पंडित कन्हैयालाल शर्मा के परिवार रूपी उपवन में एक ऐसा सुमन प्रस्फुटित हुआ जिसने अपनी सुवास से परिवार, समाज व राष्ट्र को सुवासित किया। डॉ. शर्मा की माता श्रीमती जानकी बाई बड़ी विदुषी व उदार विचारों की महिला थीं। उनके उदार एवं धार्मिक विचारों का डॉ. साहब के जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा जिससे उनका जीवन मानवीय गुणों का पुंज बन गया।

पलायथा आपजी का योगदान :

शिक्षा प्रकाश का वह स्रोत है जो जीवन के हर क्षेत्र में हमारा पथ प्रदर्शन करती है। शिक्षा ज्ञान का ज्योति पुंज होता है, वह पुंज जिसकी प्रकाश रश्मियाँ मानव हृदय के कोने-कोने को जगमगाती हैं। दूधियाँ चाँदनी से नहलाती हैं तथा अज्ञान की कालिमा का निवारण करती हैं। शिक्षा कल्पलता के समान हमारे समस्त मनोरथों को सिद्ध करती हैं। शिक्षा के इस महत्त्व को डॉ. शर्मा ने अच्छी तरह समझा। बचपन से ही उनकी शिक्षा प्राप्त करने में विशेष रुचि रही।

"Coming events cast their shadows before". होनहार बिरवान के होत चीकने पात। यह उक्ति डॉ. शर्मा के जीवन में प्रारम्भ से ही चरितार्थ होने लगी थी। एक विद्वान् ने कहा है- "A man schooled in adversity and in unfavourable circumstances develops many qualities." इस उक्ति के परिप्रेक्ष्य में विषम एवं गरीबी की परिस्थितियों के कारण डॉ. शर्मा के जीवन में अनेक गुणों का प्रादुर्भाव हो गया था। उन्होंने अपने विद्यार्थीकाल में सभी परीक्षाओं में सर्वोच्च अंक प्राप्त किए थे। उन्होंने हाई स्कूल 1914 में, इन्टर 1916 में, बी. ए. 1919 में प्रयाग विश्वविद्यालय से उत्तीर्ण की। इतिहास व संस्कृत में एम. ए. करने के बाद वर्ष 1931 में उन्होंने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय

से डि. लिट्. की उपाधि प्राप्त की। उनके निर्माण में पलायथा आपजी साहब का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा।

महापुरुषों के जीवन चरित्र उनको सदैव प्रेरणा देते रहे।

"Lives of great men all remind us, we can make our lives sublime and departing leave behind us footprints on the sands of time."

शिक्षक के खोये सम्मान की वापसी :

उक्त परिप्रेक्ष्य में डॉ. शर्मा ने शिक्षक की प्रतिष्ठा को समाज में प्रतिष्ठापित करने का सदैव प्रयास किया। वे सदैव शिक्षक के खोये हुए सम्मान व गौरव को पुनर्जीवित करने हेतु प्रयत्नशील रहे। उन्होंने हृदय की पवित्रता, चरित्र का निर्माण, व्यक्तित्व का विकास, देश प्रेम व संस्कृति की रक्षा करने की प्रेरणा अपने विद्यार्थियों को दी। उनके विचारों से क्या कुटीर क्या प्रासाद सभी ओतप्रोत रहे।

शिक्षा विभाग के निदेशक :

डा. शर्मा ने इतिहास के व्याख्याता के रूप में कार्य करना प्रारम्भ किया। वे अपने सेवाकाल में हर्बर्ट कॉलेज, कोटा के प्राचार्य, महाराजा कॉलेज, जयपुर के प्राचार्य रहे। वे अपनी योग्यता से विकास के लौह कपाट खोलते हुए शिक्षा विभाग के निदेशक पद पर पहुँचे। वे राजस्थान विश्वविद्यालय में इतिहास के प्रोफ़ेसर व कार्यवाहक वाइस चांसलर रहे। उन्होंने आर्काइव्ज़ विभाग के निदेशक पद को भी सुशोभित किया। आपकी योग्यता को देखते हुए आपको सिनेट, सिन्डीकेट और एकेडेमिक कॉउन्सिल का मेम्बर नियुक्त किया गया। आप राजस्थान इंस्टीटयूट आप हिस्टोरिकल रिसर्च के अवैतनिक निदेशक रहे।

डॉ. साहब ने श्रम को ही ईश्वर की आराधना माना। आकाश में उड़ते हुए वायुयान, समुद्र पर तैरते हुए जलपोत, धरती पर तीव्र गति से दौड़ती हुई रेल गाड़ियाँ सभी श्रम की गाथा गा रहे हैं। वास्तव में मानव का अस्तित्व ही श्रम पर आधारित है। श्रम बिना जीवन में प्रगति सम्भव नहीं। श्रम जीवन है, आलस्य मृत्यु। श्रम राष्ट्र का पौष्टिक रसायन है अत: डॉ. साहब ने श्रम को सबसे बड़ा देवता माना और श्रम के द्वारा ज्ञान मुकुट को धारण किया। ज्ञान मुकुट स्वर्ण मुकुट से अच्छा होता है। स्वर्ण मुकुट सदैव ही त्याग, तपस्या व ज्ञान मुकुट का चरण चुम्बन करते हैं। इस मुकुट को धारण करने के कारण व महान् शिक्षक होने के कारण डॉ. साहब की कीर्तिपताका गगनस्पर्शी है।

डॉ. शर्मा अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे। अँग्रेज़ी, हिन्दी, अरबी, फ़ारसी, संस्कृत, उर्दू के अतिरिक्त वे अनेक प्रादेशिक भाषाओं में पाली, मराठी, गुजराती, गुरुमुखी, डिंगल, बंगला, ब्रज, अवधि, मागधी, ढूंढारी, हाड़ौती, मेवाड़ी, मारवाड़ी आदि भाषाओं पर अपना अधिकार रखते थे।

आर्यसमाज का नेतृत्व :

सामाजिक व धार्मिक क्षेत्र में वे सुधारवादी विचारधारा के समर्थक थे। समाज में व्याप्त कर्मकाण्ड, छूआछूत, रूढ़ियों, अंधविश्वास व आडम्बरों के प्रबल विरोधी थे। वे आर्यसमाज के समर्थक थे। स्वामी दयानन्द के विचारों से पूर्ण रूपेण प्रभावित थे। डॉ. शर्मा ने राजस्थान प्रान्तीय आर्य सभा के अध्यक्ष के गरिमामय पद को भी सुशोभित किया था।

डॉ. शर्मा भारतीय संस्कृति के उपासक थे। वे सदा भारतीय वेश में रहते थे। जिससे उनका संस्कृति प्रेम परिलक्षित होता है।

मानवीय गुणों से ओतप्रोत :

वे महा मानवतावादी थे। वे निर्धनों, अपाहिजों की सेवा करने के लिए सदैव तत्पर रहते थे। गरीब् छात्रों की वे हर प्रकार से सहायता करते थे। शिक्षा विभाग के निदेशक पद पर रहते हुए आपने अनगिनत लोगों को सरकारी नौकरियाँ प्रदान कर उच्चकोटि के मानवीय गुणों को प्रदर्शित किया था।

डॉ. शर्मा का व्यक्तित्व अत्यन्त आकर्षक था। वे ओजस्वी एवं कुशल वक्ता थे। उनकी ओजमय वाणी से सभाओं में श्रोतागण इतने प्रभावित होते थे कि प्रत्येक वाक्य के अंत में करतल ध्वनि से उनका अभिनन्दन करते थे।

इतिहास गगनमंडल के वे जाज्वल्यमान् नक्षत्र थे। उनके ज्ञानालोक की आभा से न केवल राजस्थान बल्कि सम्पूर्ण भारत आलोकित हो रहा है। डॉ. शर्मा ने अपने जीवनकाल में इतिहास की जो सेवा की है वह अविस्मरणीय है। डॉ. शर्मा ने इतिहास के अनेक ग्रंथों की रचना की, जिनमें यूरोप का इतिहास कोटा, राज्य का इतिहास, प्राचीन भारत का इतिहास, हिस्ट्री ऑफ़ दि जयपुर स्टेट, मराठों का इतिहास आदि प्रमुख हैं। उन्होंने इतिहास के अनेक ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद कर राष्ट्रभाषा हिन्दी की अपूर्व सेवा की जो इतिहास के विद्यार्थियों के लिए वरदान साबित हुई।

डॉ. शर्मा ने अपने जीवनकाल में अनेक शोधार्थियों का मार्गदर्शन कर उन्हें पी-एच. डी. एवं डी. लिट् की उपाधियों से अलंकृत करवाया। परिवार, समाज, राष्ट्र व इतिहास की सेवा करते हुए इस महान शिक्षक ने 1 अप्रैल, 1982 को अपना पार्थिव शरीर त्याग दिया और स्वर्गलोग को चले गये।

उदारचेता पारस के स्पर्श से डॉ. साहब ने अपने हृदय को कुन्दन-सा बनाया । इस अमृतमय कल्पवृक्ष के नीचे बैठ कर भी उन्होंने आजीवन सबके कल्याण की कामना की।

उनके ज्ञान की आभा से हाड़ौती, राजस्थान व भारत आलोकित है। उनकी ज्ञानज्योति नवयुवकों को निरन्तर सत्पथ का अवलोकन कराये ताकि देश के नवयुक देश को महान् बनाने में अपना योग दान दे सकें।

- निदेशक
तिलक बाल मन्दिर,
बारां ❑

अन्तिम कृति

डॉ. साहब की अन्तिम कृति अँग्रेज़ी में लिखा हुआ एक वृहदाकार ग्रन्थ है। जिसका नाम है The World Between the Two World war यह कृति लगभग आठ सौ पृष्ठों की है।

डॉ. मथुरालाल शर्मा की भाषणकला

-डॉ. रामचरण महेन्द्र

"देखिए, महेन्द्रजी, आप बीस वर्ष की छोटी-सी अवस्था में हर्बर्ट कॉलेज में अध्यापक नियुक्त हो रहे हैं, पर इस पेशे में सफल होने के लिए आपको भाषण-देने की कला सीखनी होगी। अभी आप मात्र पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं, किन्तु अपने संचित ज्ञान और अनुभवों की अल्प विकसित विद्यार्थियों तक पहुँचाने के लिए आप सही तरीके से भाषण देना सीखिये!" डॉ. मथुरालाल शर्मा जो उस समय प्रिंसिपल थे, के ये शब्द आज भी मुझे स्मरण हैं।

मेज़ का सहारा :

उन दिनों की बात है जब सन् 1940 में मैं अँग्रेजी विभाग में नियुक्त हुआ था। चुनाव भी उन्होंने किया था। वे मेरी कक्षा के विद्यार्थियों से भरे डेस्कों के बीच बैठते और मैं जो कुछ पढ़ाता, उसे ध्यानपूर्वक सुनते, मेरे भाषणों की आलोचना करते, जो कमज़ोरियाँ पाते, उन्हें काग़ज पर नोट करते जाते। दूसरे दिन उन गलतियों को दूर करने का प्रेमपूर्वक आग्रह करने और फिर नये पाठ की आलोचना शुरू हो जाती। पहले मैं कक्षा में कुर्सी पर बैठकर ही बोलता था, फिर उन्होंने कुर्सी हटवा दी। तत्पश्चात् मैं मेज़ पकड़ कर या उससे सट कर भाषण देता जिससे आत्मविश्वास बना रहता, किन्तु फिर उन्होंने मेज भी हटवा दी और कक्षा के बीच सीधा निर्भय खड़ा हो घण्टों बोलने का अभ्यास कराया। कभी निरन्तर बोलने से मेरा गला सूखता, कभी शब्दों का ठीक से उच्चारण न हो पाता, कभी विद्यार्थी कोई अटपटा प्रश्न कर बैठते, तो शर्म से मुखमण्डल रक्तवर्ण हो उठता। स्टेज फ्राइट (भीड़ में अकेले खड़े रहने का गुप्त भय बेहद सताता, कक्षा में घुसने से डर लगता। उन दिनों अँग्रेजी व्याकरण की अशुद्धियाँ ब्लैक बोर्ड पर हल कर दिखानी पड़ती थीं, कभी अपनी ड्रेस को लेकर शंकाएँ उठतीं, मन घबड़ाता, लेकिन डॉ. मथुरालाल शर्मा ने सदा मेरी सहायता की और एक कुशल वक्ता बना दिया। मैं आज पचास वर्ष से भाषण देने का कार्य कर रहा हूँ। सफलता मिली है, वह डॉ. मथुरालाल शर्मा की व्यावहारिक शिक्षा का फल है।

"महेन्द्र जी हिन्दी में भाषण देना सिखाने विषयक कोई व्यावहारिक पुस्तक नहीं है। नए लेक्चरार भी इसमें बड़ा कठिनाई का अनुभव करते हैं। उन्हें यह कला सिखाने के लिए तुम एक पुस्तक तैयार करो।"

"लेकिन मुझे तो अभी भाषण देने की कला का पूरा ज्ञान तक नहीं है।" कोई हर्ज नहीं। मैं आपकी सहायता करूंगा। उसमें पृथक् चैप्टर बनाइये और मेरे नोट्स भी लेते जाइये। उन सबको अपने ढंग से विकसित कर दीजिए, पुस्तक उपयोगी रहेगी।"

"ठीक रहा तो आप शुरू कीजिए" उत्साहित करते हुए उन्होंने कहा था। कई दिन तक वे मुझसे तरह तरह की उपयोगी बातें करते और तब बनी मेरी पुस्तक 'हम वक्ता कैसे बनें?" (1946) इस पुस्तक की भूमिका स्वयं डॉ मथुरालाल शर्मा 22 दिसम्बर 1945 इस प्रकार लिखी-

"वक्तृत्वकला वर्तमान संसार में एक महान् शक्ति है। ज्यों-ज्यों लोकतन्त्र का प्रसार होता जाता

है, जनमत को किसी विशेष पक्ष की ओर झुकाने के लिए इस शक्ति का उपयोग होता है। पश्चिमी देशों में इस शक्ति के बिना कोई व्यक्ति प्रसिद्ध नहीं हो सकता, विशेषकर राजनीति और शिक्षा के क्षेत्र में। इंग्लैण्ड के सब प्रधानमंत्री कुशल वक्ता होते आये हैं। हमारे देश के प्रमुख नेता भी प्राय: सब प्रभावशाली वक्ता हैं। इस कला का महत्व यहाँ भी धार्मिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में स्वीकार किया जाता है और इसका अधिकाधिक विकास होता जा रहा है।

मेरा अनुभव है कि वक्तृत्वकला ग्रन्थों के अध्ययन से नहीं आती। वह तो निरन्तर अभ्यास और लगन का विषय है फिर भी महेन्द्रजी की इस पुस्तक में अनेक उपयोगी बातें हैं जिनका विद्वान् लेखक ने परिश्रम से संग्रह किया है। इन संकेतों को रख कर अभ्यास करने से उदीयमान वक्ताओं को निश्चय ही लाभ होगा।

इन शब्दों से उनकी वक्तृत्वकला सम्बन्धी विचार स्पष्ट होते हैं। उन्होंने पुस्तक की भूमिका में लिखा है, वही अनुभवपूर्ण सलाह है। स्वयं उनकी भाषणकला में, उनकी भावी और नेत्रों से झलकते आता विश्वास में, ओज और चमत्कार में विद्यमान था। जब वे भाषण देते थे, तो ऐसा प्रतीत होता था जैसे हर क्षेत्र में उनका ज्ञान अगाध था, प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। इतिहास के क्षेत्र में तो उनकी कोई टक्कर का विद्वान् उस युग में तो कोई न था।

विषय चाहे कुछ भी हो :

आर्यसमाज के वे प्रखर कार्यकर्त्ता थे। आज आर्यसमाज में उनके भाषण सुनने को मिल जाते थे। आर्यसमाज की समस्याओं पर जब वे धाराप्रवाह बोलते थे, तो श्रोता मंत्रमुग्ध हो जाते थे। वे स्पष्ट सुउच्चारित शब्दों में नि:संकोच होकर अत्यन्त प्रवीणता और आत्मविश्वास से बोलते थे। उनका अंग-परिचालन निर्भयतापूर्वक चलता रहता था। लगता था जैसे उनमें ज्ञान का अपरिमितकोश भरा हो। उनके सुन्दर मुख से मानों फूल झड़ते थे! स्कूल, कॉलेज, आर्यसमाज, पार्टियों, विश्वविद्यालय में या अधिकारियों के बीच में या जन-समुदाय की भीड़ में, धर्म जाति या साहित्य, किसी भी विषय पर उनके मुख जैसे सरस्वती प्रकट हो जाती थी।

श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध करने की कला :

डॉ. मथुरालाल शर्मा एक उत्तम वक्ता थे। उनकी मानसिकता में रस और श्रोताओं को वश में करने की अपूर्व क्षमता थी। स्थान-स्थान पर उन्हें भाषण के लिए आमंत्रित किया जाता था, विषय चाहे जो भी रहे, वे बोल कर श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर देते थे। जैसे ज्ञान का विश्वकोश ही खुल गया हो! उनके शब्दों में उत्साह, ओज तथा उत्साह भरा रहता था। पूर्ण आत्मविश्वास के साथ सम्बन्धित विषय पर उनकी वक्तृता होती साथ ही उसमें लगते चुभते उदाहरण भी होते। श्रोता सुनते हुए अघाते न थे।

अध्यापकों के पितामह :

वे आज के अध्यापकों की पीढ़ी के पितामह थे। यह कहना अधिक न्यायसंगत होगा कि उन्होंने अपने युग के पच्चीस-तीस वर्ष में हाड़ौती के विद्वानों का कई बार नेतृत्व किया था। इतिहास विषय के तो मानों वे जीवित इतिहास ही थे। वृद्धावस्था में भी वे पूर्ण परिश्रमी थे। यह संतोष का विषय था कि उनका सर्वत्र सार्वजनिक सम्मान भी हुआ।

कुछ मनुष्य हमीं में से हैं, जो केवल समाज से तरह तरह की चीजें लेने के लिए ही जीते हैं और कुछ लोग, देवतास्वरूप ऐसे भी हैं जो अपना ज्ञान, अनुभव, शिक्षा, धन आदि समाज को देने के लिए

ही जीते हैं। डॉ. मथुरालाल शर्मा इस दूसरी श्रेणी के महामानव थे। वे उनमें से नहीं थे, जो जीवन का भार ढोते-ढोते ही ज़िन्दगी समाप्त कर देते हैं। अपने पुत्र-पुत्रियों को भी उन्होंने उच्चतम शिक्षा दी। समाज सेवा उनका प्रिय कार्य था। जीवन एक चुनौती थी और उन्होंने उसे उसी रूप में ग्रहण भी किया।

हँसमुख चेहरा :

अध्यापक मथुरालाल शर्मा प्राय: हर्बर्ट कॉलेज, कोटा की तिथियों में सक्रिय सूक्ष्म-निरीक्षण करते, अध्यापकों के लेक्चर सुनते घूमते रहते और बाहर से ही कक्षाओं का निरीक्षण करते। कभी धोती और बन्द गले का कोट पहनते, कभी पेंन्ट भी धारण करते। पोशाक के विषय में सादा रहन-सहन था। उनकी सधी हुई आत्मविश्वास से भरी मस्तानी चाल, गम्भीर हँसमुख चेहरा तथा सुन्दर आकृति अनायास ही सबका ध्यान आकृष्ट कर लेती थी। अपने हर फन में वे माहिर थे, भीष्म पितामह की भांति!

मैंने डॉ. मथुरालाल शर्मा के साथ एक व्याख्याता से लेकर प्रिंसिपल बनने तक अनेक अमूल्य क्षण बिताये। उनके भिन्न-भिन्न विषयों पर अनेक भाषण सुने। उनका लिखा कोटा राज्य का इतिहास पढ़ा। ढलती अवस्था में भी उनके साथ रहा. लेकिन कभी उन्हें जीवन के प्रति उदास, सुस्त या निराश नहीं पाया, एक दम गुलाब के फूल जैसा ताज़ा खिलता-खिलाता चेहरा, वैसा ही उल्लास और ओज, एक दम रस से लबरेज रसाल की भांति।

सफल वक्ता कैसे बनें :

सफल वक्ता बनने के लिए जो उपाय उन्होंने मुझे बताये थे वे आज भी मुझे स्मरण हैं। वे प्राय: कहा करते थे, ''जहाँ तक सम्भव हो, आप उत्तम वक्ताओं के सम्पर्क में रहा कीजिए। उनसे मित्रता कर उनमें आत्मविश्वास और सम्बन्धित विषय की जानकारी प्राप्त किया कीजिए। उनका पुस्तकालय, सामग्री संचय, वक्तृत्वकला का अभ्यास कैसे किया जाय, आदि मालूम कीजिए। उनके अपने अनुभव सुनिये, उनके अनुभव की सहायता से अपनी शंकाएँ दूर कीजिए। अनुकूल संगति में रहकर ही आप उनके छोटी-छोटी उपयोगी जानकारी प्राप्त कर सकेंगे। पुराने वक्ता आपके पथ-प्रदर्शक बन कर बहुत सहायता कर सकते हैं।

ज्ञानमूर्ति :

पैसे की प्यास युग की सबसे बड़ी प्यास कही जाती है। हाथी के पैर में सबका पैर समा जाने की कहावत पुरानी है। इसी युग की एक कहावत है पहले पैसा फिर भगवान अब धन से धर्म नहीं, धर्म से धन बनाया जाने लगा है। चारों ओर छाया उहा पाखण्ड का अभिशाप इसी प्यास का फल है। पैसे की प्यास के बाद युग में डॉ. मथुरालाल शर्मा कभी नहीं बहे। मैंने कभी उन्हें श्रृंगार करते या शान दिखाते, गरीबों पर शान गाँठते नहीं पाया। सादा जीवन और शुद्ध विचार उनका आदर्श वाक्य था। ज़िन्दगी कैसे जिएँ? एक विद्वान् का आदर्श रहन-सहन, व्यवहार शिष्टाचार हो? इन शाश्वत प्रश्नों का वे युगानुरूप समाधान थे। ज्ञानमूर्ति मथुरालाल शर्मा का तपोनिष्ठ जीवन, अपने युग का ऋषि का जीवन था। उन्होंने समाज, साहित्य और इतिहास की सूक्ष्मताओं और बदलती परिस्थितियों की सूक्ष्मताओं को परखा था और सामाजिक समाधान प्रस्तुत किए थे। पुराने ऋषियों जैसा सहज, सरल भाव-प्रवण मन था उनका। तर्क की जगह श्रद्धा अधिक थी। उन्होंने तत्त्व-दर्शन को साधना-उपासना, साहित्य की आराधना की त्रिवेणी में संजोया था। वे एक परिश्रमी सरस्वती साधक थे।

❑

अनूठी अभिव्यक्ति के प्रचेता

-डॉ. ए. के. वर्मा

प्राचार्य डॉ. शर्मा :

सन् 1946 का शिक्षा सत्र था। हर्बर्ट कॉलेज, कोटा इसी सत्र से इंटरमीजिएट कॉलेज से डिग्री कॉलेज बनाया गया था। डॉ. शर्मा इस नवोदित डिग्री कॉलेज प्राचार्य नियुक्त किए गये थे। इंटर कॉलेज के प्राचार्य श्री बी. डी. बत्ता उपाचार्य बनाये गये थे। बत्ता सा. कुछ समय बाद नामा चले गये थे। नये डिग्री कॉलेज की स्थापना एवं प्रशासनिक विभिन्न व्यवस्थाओं का सारा भार डॉ. शर्मा पर ही आ गया था। कॉलेज के लिए विभिन्न विभागों में विभागाध्यक्षों (इस समय डिग्री स्तर के कॉलेज में विभागाध्यक्ष हुआ करते थे) एवं नव सृजित प्राध्यापक पदों पर चयन, पुस्तकालय, प्रयोगशालओं का विकास आदि अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य होने थे। डॉ. शर्मा अपने विषय इतिहास के प्रकांड विद्वान एवं प्रबुद्ध वक्ता थे। अपने विषय के अतिरिक्त हिंदी, अँग्रेज़ी, संस्कृत साहित्य में उनकी अच्छी गति थी। हम लोग उस समय कॉलेज में इंटरमीजिएट के विद्यार्थी थे।

अनूठी अभिव्यक्ति :

डिग्री कॉलेज के नये स्टॉफ में सर्व श्री एन. डी. गौतम, एस. पी. भटनागार (दोनों गणित), श्री वैद्यनाथ (अर्थशास्त्र), डॉ. फतहसिंह (संस्कृत) आदि का चयन किया गया था। ये सभी अपने विषय के उत्कृष्ट विद्वान तो थे ही उनकी अपने विषय की अभिव्यक्ति भी अनूठी थी। निस्संदेह ऐसे स्टाफ़ के चयन में डॉ. शर्मा की प्रतिभा व प्रयास निहित था।

प्राचार्य के रूप में महाविद्यालय की विभिन्न गतिविधियों को संचालित करने की उनमें रुचि एवं क्षमता थी। उनके प्राचार्य काल के प्रथम वर्ष में ही कॉलेज में हाड़ौती प्रादेशिक कवि सम्मेलन का आयोजन किया गया था जिसमें कोटा, बूँदी, झालावाड़ जिलों के 48 कवियों ने कविता पाठ किया था। कोटा राज्य के तत्कालीन प्रधानमंत्री दीवान बहादुर श्री बृजचंद्र जी शर्मा भी इस सम्मेलन में भाग लेने पधारे। श्री नंद चतुर्वेदी एवं श्री कमलाकर तब अपनी काव्य रचना के प्रारंभिक चरण में थे।

उन दिनों परीक्षाओं में तो कोटा कॉलेज के छात्र वरीयता सूची में आते ही थे खेलों के क्षेत्र में भी कोटा का बड़ा नाम था। खेलों के प्रति रुचि और उत्साह विद्यार्थियों में पैदा करने का श्रेय पूर्व प्राचार्य श्री बत्ता सा. को था, पर उसका निरन्तर निर्वाह वर्षों तक होता रहा। हॉकी की ट्राफी लगातार कई वर्ष तक कोटा कॉलेज जीतता रहा। डॉ. शर्मा सा. ने वाद-विवाद प्रतियोगिता के लिए विद्यार्थियों को प्रेरित किया। महाविद्यालय के छात्र श्री महेशकिशोर सक्सेना व श्री दिनेशकिशोर सक्सेना (दोनों भाई) व अन्य छात्र राजस्थान वाद-विवाद प्रतियोगिता में कई बार प्रथम आकर ट्रॉफी लाते रहे।

सामाजिक कार्य:

उन दिनों कोटा शहर में एक मात्र सक्रिय साहित्यिक संस्था थी भारतेन्दु समिति और एक अच्छी सामाजिक संस्था थी 'आर्यसमाज कोटा'। डॉ. शर्मा दोनों ही नगर संस्थाओं से जुड़े हुए थे। 'भारतेन्दु समिति' के आयोजन प्राय: कर्जन वायली

मेमोरियल हाल व महात्मा गाँधी भवन, रामपुरा में होते थे। आर्यसमाज के समारोह आर्यसमाज मंदिर में हुआ करते थे। दोनों ही संस्थाओं के प्रायः आयोजनों में डॉ. शर्मा की उपस्थिति और उनके भाषण प्रबुद्ध जनसमुदाय के लिए आकर्षण का केन्द्र होते थे। उनके भाषण सारगर्भित, धारा प्रवाह व हिन्दी, अँग्रेज़ी व संस्कृत की कविताओं व उद्धरणों से युक्त होते थे। उर्दू व बंगला के उद्धरण भी यदा कदा सुनने को मिलते। श्रोता मंत्रमुग्ध सुनते थे और गद्‌गद्‌ हो जाते थे।

राष्ट्र प्रेम :

वर्ष 1942 भारत के लिए बड़ा महत्त्वपूर्ण व क्रांतिकारी वर्ष था। भारत भर में स्वतंत्रता आंदोलन चल रहा था। 'राष्ट्र नेताओं ने अँग्रेज़ों भारत छोड़ो' और 'करो या मरो' का नारा दिया था। कोटा के नागरिक भी इस आंदोलन में बड़े उत्साह व समर्पण भाव से कूद गये थे। उस समय घोसालिया कोटा राज्य का प्रधानमंत्री था। महाराव भीमसिंह को राज्य का भार सम्भाले थोड़ा ही समय हुआ था। वे राष्ट्रीय भावना वाले राजा थे। राज्य में विशेष रूप से कोटा शहर में विद्यार्थियों एवं युवकों के स्वतंत्रता आंदोलन के सिलसिले में बड़े लम्बे जुलूस, प्रभात फेरियाँ निकलती थीं। मार्ग में जनता द्वारा इन जुलूसों के लिए जल, ठंडे पेय आदि की व्यवस्था होती थी। रामपुरा पीपल के पास भाषण होते थे और रामपुरा कोतवाली के सामने नारे बाजी होती थी।

इसी क्रम में एक दिन कोतवाली के सामने जनता उमड़ रही थी व नारे लग रहे थे। एकाएक पुलिस के घुड़सवार जनता को तितर-बितर करने के लिए कोतवाली से बाहर निकल पड़े। उस समय पुलिस जन नेताओं की गिरफ़्तारी कर कोतवाली में ले जा रही थी। जनता में इतना उत्साह था कि घोड़े दौड़ाने के बावजूद जनता कोतवाली की तरफ़ अपने नेताओं के दर्शनार्थ बढ़ी जा रही थी।

हम लोग उस समय हाई स्कूल के विद्यार्थी थे। हमारे स्कूल का दल भी उत्साह से कोतवाली की तरफ बढ़ रहा था। देखते क्या हैं कि डॉ. शर्मा का परिवार भी कोतवाली के पास उस भीड़ में है और उनके लड़के शिशु जिसने उस समय किशोर अवस्था में प्रवेश किया ही था, ने एक पुलिस अधिकारी की आवेश में दाढ़ी पकड़ ली थी। वे सरकारी अधिकारी होते हुए भी स्वतंत्रता के आंदोलन में सक्रिय रूप से जुड़े हुए थे। यह भी पता चला कि प्रधानमंत्री घोसालिया ने तत्कालीन महाराव सा. को रुग्ण बताकर उनके राज्य अधिकार छीनने का प्रयास किया था। उसने आंदोलन से जुड़े सरकारी अधिकारियों की एक सूची बनाई थी, जिन्हें राज्य सेवा से निरस्त करने की योजना थी। इस सूची में डॉ. शर्मा का नाम पहले ही कुछ व्यक्तियों में था। उस सूची में प्रोफ़ेसर हरिराम जी तिवारी, सुश्री रामप्यारी देवी शास्त्री, अध्यापक व साहित्यकार श्री हरिवल्लभ हरि आदि कई नाम सम्मिलित थे। बाद में इस जन आंदोलन ने ऐसा मोड़ लिया कि घोसालिया को कोटा छोड़ना पड़ा और कोतवाली व समस्त शहर में पुलिस व्यवस्था कई दिन तक कोटा के नागरिकों के दल ने सम्भाली। इस दल में श्री नाथूलाल जैन, श्री गुलाबचंद शर्मा आदि प्रमुख थे।

उत्कट राष्ट्रवादी :

डॉ. साहब विद्वान्, अच्छे वक्ता, राष्ट्र भावना से ओत-प्रोत व्यक्ति तो थे ही व बड़े सरल हृदय, स्पष्टवादी व निडर पुरुष थे। कॉलेज के एक समारोह में तत्कालीन शिक्षा राजस्थान, श्री प्रेमनारायण माथुर से किसी परिचर्चा में उन्होंने श्री माथुर के शिक्षा सम्बन्धी अनुभव के अभाव के बारे

में कुछ कह दिया था। माथुर साहब अप्रसन्न हो गये थे और डॉ. साहब को कोटा से जयपुर महाराजा कॉलेज के प्राचार्य पद पर स्थानान्तरित कर दिया गया था। डॉ. शर्मा जयपुर गये। वहाँ भी उन्होंने अपनी विद्वत्ता और व्यक्तित्व का प्रभाव लोगों पर जमा दिया। जयपुर जाना वास्तव में उनके लिए वरदान हुआ। वे स्कूल व कॉलेज शिक्षा के निदेशक बने। विश्वविद्यालय में कुछ समय उपकुलपति रहे। राज्य सेवा से निवृत्ति के बाद जयपुर नगर परिषद् के अध्यक्ष चुने गये। उन्होंने जयपुरवासियों से अपार प्रेम व सम्मान प्राप्त किया, अन्त में वे जयपुर के ही निवासी बन गये।

सहज आत्मीयता :

उन्हें कोटावासियों के प्रति सहज लगाव और आत्मीयता थी। जब वे जयपुर में शिक्षा निदेशक थे, मैं महाराजा कॉलेज में एम.सी. का विद्यार्थी था। वैसे ही एक दिन निदेशालय चला गया था। अपने कमरे में से उन्होंने मुझे बाहर देख लिया। अपने सहायक श्री खान को भेजकर उन्होंने मुझे बुलाया। पूछा 'किस काम से आये हो? मैंने उन्हें प्रणाम किया और कहा मैं तो वैसे ही निदेशालय देखने आ गया था और लौट आया। कोटा के लोगों के प्रति उनका बड़ा स्नेह भाव था और वे उनकी यथासम्भव सहायता के लिए तत्पर रहते थे।

महामना :

वे अपने स्नेहभाजन एवं विश्वस्त व्यक्ति से बड़ी आत्मीयता का व्यवहार रखते थे। साहित्यकार श्री हरिवल्लभ 'हरि' उनके काफ़ी निकट स्नेही व्यक्तियों में से थे। श्री हरि जब वे बीमारी से पीड़ित बिस्तर तक सीमित थे, वे उनसे घर पर मिलने आये। श्री हरि को जलोदर हो गया था। विनोदी मुंद्रा में श्री हरि को हँसाते हुए बोले यह बीमारी तो पीने वालों को होती है, छिप छिपकर पीते थे क्या?

श्री हरिजी के स्वर्गवास के बाद जब वे उनके घर पर आये तो उनके शब्द थे–

'A Noble Soul has left us'

डॉ. साहब बहुमुखी प्रतिभा के धनी व्यक्ति थे, मानवीय गुणों से भरपूर। ऐसे पुरुष बिरले ही होते हैं। ❑

कट्टर आर्यसमाजी

डॉ. मथुरालाल शर्मा ने राजस्थान में आर्यसमाज के सर्वोच्च संगठन आर्य प्रतिनिधि सभा के नेतृत्व को उस समय अपने सशक्त कंधों पर लिया, जब सभा विभिन्न कठिनाइयों तथा आर्थिक समस्याओं से ग्रस्त थी। 1953 के दिसम्बर मास में कोटा जंक्शन आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर सम्पन्न सभा के अधिवेशन में डॉ. शर्मा राजस्थान प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभा के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। तबसे लेकर 1968 तक, स्वल्प व्यवधान के अतिरिक्त आप निरन्तर प्रान्त के आर्यों को अपना स्फूर्त्त एवं गतिशील नेतृत्व प्रदान करते रहे। आपके अध्यक्ष काल में सभा की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हुई। उपदेशकों की संख्या में वृद्धि हुई।

पंजाब हिन्दी रक्षा आन्दोलन, गोरक्षा आन्दोलन आदि में प्रान्त के आर्यों ने आपके नेतृत्व में भाग लिया। डॉ. शर्मा ने अपनी अपूर्व क्षमता, विद्वत्ता एवं नेतृत्व कुशलता के कारण केवल राजस्थान में ही नहीं अपितु सार्वदेशिक स्तर पर भी आर्यजगत को प्रभावित किया है?

संस्कृति और भाषा के पोषक पं. मथुरालाल शर्मा

-रामस्वरूप जोशी

राज्य के इतिहास पुरुष पं. मथुरालाल शर्मा का बहुआयामी व्यक्तित्व रहा है। वे शिक्षा मनीषी, इतिहासज्ञ, कुशल प्रशासक और विलक्षण प्रतिभा के धनी थे। उनके सानिध्य में अगणित ने ज्ञान गंगा में डुबकी लगाई है। प्रभावशाली वक्ता तो थे ही, प्रखर लेखक भी थे। हिन्दी, उर्दू, फ़ारसी, अँग्रेज़ी, संस्कृत और मराठी भाषाओं पर उनका पूरा अधिकार था।

बहुआयामी प्रतिभा के धनी, मुसकराता चेहरा, स्पष्ट वक्ता, विनोदप्रिय, व्यवहार में विनम्र, मधुर एवं अपनत्व से ओत-प्रोत व्यक्तित्व वाले पं. मथुरालाल शर्मा मेरे ताऊश्री की अब केवल यादें ही शेष रह गयी हैं। कुछ यादें, कुछ अनुभव, स्मृति कोष में मेरे पास है। किस स्मृति को उजागर कर लिपिबद्ध कर श्रद्धा सुमन अर्पित करूँ, मुझे यह दुष्कर लग रहा है।

संस्कृति के पोषक :

एक घटना है, जो भुलाये नहीं भूलता। उनकी विद्वत्ता के कारण परिवार के सदस्य उनके समक्ष जाने एवं चर्चा करने से प्रायः कतराते थे। एक बार मैं कोटा से जयपुर उनके पास गया। उस समय उनके पास डॉ. ज्ञानप्रकाश पिलानिया एवं एक अन्य सज्जन बैठे थे, जिनसे उनकी चर्चा हो रही थी। श्रद्धा अर्पित करने उनकें कमरे में जाकर चरण स्पर्श कर जैसे ही बाहर आने लगा, तो उन्होंने मुझे रोका और अकस्मात मुझसे प्रश्न किया कि "क्या तुम्हें मुहूर्त देखना आता है।" प्रश्न सुनकर मैं एकाएक हतप्रभ रह गया- और इनकार में जवाब देते ही उन्होंने पास बैठे सज्जन को कहा कि इसके पड़बाबा ज्योतिष के प्रकाण्ड विद्वान थे, इनका पैतृक व्यवसाय पण्डिताई है और पढ़ लिखकर इसने अपना पैतृक ज्ञान भी नहीं सीखा। मैं अपने को शर्मिन्दा महसूस करता हुआ बाहर आ गया, बाद में मुझे ज्ञात हुआ कि उस समय वे भारतीय ज्योतिष-विज्ञान पर चर्चा कर रहे थे।

भाषा प्रेम :

हाड़ौती क्षेत्र के व्यक्तियों से वे अधिकतर हाड़ौती भाषा में ही बात किया करते थे। पं. विष्णुदत्त शर्मा, लक्ष्मीचन्द गुप्ता, पं. परमानन्दजी शर्मा से तो हाड़ौती में ही बातें होती थीं। उनका भाषा प्रेम का एक उदाहरण आज भी स्मृति में है। वे सन् 1951-52 में शिक्षा निदेशक थे। अध्यापकों की भर्ती के लिए एक आशार्थी जो अपने को ठेठ हाड़ौती के गाँव का रहने वाला बताता था, इनसे मिला और हाड़ौती का होने के नाते मदद करने का आग्रह किया। जब वह आशार्थी साक्षात्कार के समय उपस्थित हुआ तो हाड़ौती भाषा के ज्ञान की जानकारी लेने के लिए विनोदप्रियता में आशार्थी से निम्नांकित दो वाक्यों का हाड़ौती में अनुवाद करने को कहा :-

1. कीचड़ में गाड़ी का पहिया गड़ गया है।
2. नीम पर रस्सी से झूला डाल दो।

उपर्युक्त दोनों वाक्यों को सुनकर आशार्थी

अचकचा गया और सही सही अनुवाद नहीं कर सका। मुसकराते हुए उन्होंने वाक्यों का सही अनुवाद निम्नांकित कर बताया:

1. कादा में गाड़ा-पागो (पायो) गच्चग्यो।

2. नीमड़ी पे जेवड़ा सूं हींदलो घाल्यदो।

प्रेरक :

राज्य सेवा में मेरे कई बार बाड़मेर व बीकानेर आदि दूरस्थ जिलों में स्थानान्तरण हुए, एक बार जब मैं बीकानेर पदस्थापित था तो उनसे मिलने गया, तो उन्होंने कहा "राज्य सेवा में उच्चाधिकारियों को अपनी जेब में रखना चाहिए।" उन्होंने स्पष्ट किया कि लगन, निष्ठा एवं परिश्रम से उच्चाधिकारियों को प्रभावित रखने की क्षमता होनी चाहिए।

पं. शर्मा, इतिहास लेखन व शोध से आजीवन जुड़े रहे। वे गम्भीर एवं विनोदप्रियता के मिश्रण थे और सदव्यवहार उनके जीवन की विशेषता थी।

ई 750, न्याय पथ
गाँधी नगर, जयपुर।

❑

हाड़ौती के महान् सपूत

डॉ. मथुरालाल शर्मा का व्यक्तित्व शब्दों में नहीं बाँधा जा सकता है क्योंकि उनके वैचारिक चिन्तन में न केवल ऐतिहासिक समझ स्पष्ट परिलक्षित होती थी अपितु राजनीति शास्त्र, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र जैसे विषयों की शब्दावलियों का भी बाहुल्य प्रकट होता था। हिन्दी, अँग्रेज़ी और संस्कृत भाषा के अतिरिक्त वे अरबी, फारसी एवं मराठी से भी शब्दों का चयन करते थे। उनकी निश्छल, मृदुल, स्नेहिल मुस्कान गम्भीर से गम्भीर वातावरण को हँसी मजाक से उत्फुल्ल वातावरण में परिवर्तित कर देती थी। वे नि:संदेह हाड़ौती के महान् सपूत थे।

डॉ. शर्मा की जन्मशती की सार्थकता इसी में होगी कि उनके द्वारा संस्थापित हिस्टोरिकल इन्स्टीट्यूट ऑफ़ राजस्थान सक्रिय हो और ऐतिहासिक दृष्टि के विकास में अपना अप्रतिम योगदान करे।

- भुवनेश चतुर्वेदी
राज्यमंत्री, प्रधानमंत्री कार्यालय,
नई दिल्ली-110011

ग़रीब परवर

–प्रद्युम्न शर्मा

सन् 1939 की बात है मैं इटावा निज़ामत, कोटा शहर आया हुआ था और कोटा कोतवाली के पीछे मेरे पिताजी के मित्र के मकान की कोठरी में रहता था। कोटा आगे पढ़ने की इच्छा से आया था। लेकिन एक बाधा थी जिस कारण कोटा राज्य के स्कूल में भर्ती नहीं हो सकता था। कारण यह था कि कोटा राज्य का क़ानून था कि 18 वर्ष की उम्र से कम में किसी का विवाह हो जाता तो वह किसी सरकारी स्कूल में भर्ती नहीं किया जायेगा। मेरी शादी तो 11 वर्ष की आयु में हो गई थी।

उन्हीं दिनों मैं कोटा आर्यसमाज के वार्षिक उत्सव में जा पहुँचा जो उन दिनों कोटा का बड़ा आकर्षण था। वहाँ डॉ. मथुरालाल जी का व्याख्यान था। मैं सुनकर बहुत प्रभावित हुआ और जब डॉ. साहब जाने लगे तो मैंने भक्तिवश उनको प्रणाम किया। डॉ. साहब ने मुझे प्रेम से देखा। मैं तो एकदम देहाती लड़का था। उन्होंने पूछा कहाँ से आया, कौन है, क्यों कोटा आया है और यह भी पूछा कि रोटी का क्या प्रबन्ध है। मैंने कहा मैं बना लेता हूँ तो प्रसन्न हुये और कहा कि कोई भी समस्या हो तो उनसे मिलूँ। थोड़े दिन बाद मुझे बाबू शंभूदयाल जी सक्सैना के हितकारी स्कूल में भर्ती करवा दिया। उसके बाद कई मुश्किलात को पार करता हुआ राज्य सरकार के डिप्टी सेक्रेटरी के पद तक पहुँच कर सेवानिवृत्त हुआ तब तक मेरी हर समस्या का वह निराकरण करते रहे और मुझ पर उनका आशीर्वाद बना रहा। मैं ही नहीं मुझे मालूम है डॉक्टर साहब ने मुझ जैसे अनेक साधनहीन युवकों की सहायता कर उनका जीवन सार्थक किया है। जिनमें बहुत से राजकीय नौकरी में ऊँचे से ऊँचे पद तक पहुँच चुके हैं व प्रोफेसर हैं।

एक बार एक कृषक को लेकर वे तत्कालीन राजस्वमंत्री श्री दामोदर व्यास के यहाँ गये। वह कृषक युवक कई वर्षों से एक छोटी सी ज़मीन के झगड़े में परेशान हो रहा था और अन्त में उसकी पत्रावली मंत्री जी के पास आ गई थी। डॉ. साहब मंत्रीजी के निवास पर गये तो अंदर काँग्रेसियों की मीटिंग चल रही थी। पी.ए. ने डॉ. साहब को ठहरने को कहा। वे 15 मिनिट प्रतीक्षा करके वापस आ गये। बाद में व्यास जी को मालूम हुआ तो उनको अफ़सोस हुआ और सचिवालय जाते समय डॉ. साहब के घर आये और कहा कि डॉक्टर साहब गलती हो गई तो डॉ. साहब अप्रसन्न तो थे ही, उन्होंने जवाब दिया कि गलती आपसे नहीं मुझसे हुई जो आपके यहाँ गया। फिर मंत्री महोदय कृषक की अर्ज़ी ले गये और उसी दिन उसका वाजिब फ़ैसला करके डॉ. साहब को सूचित कर दिया। मैं देखता था, ग़रीब आदमियों को उनके काम के लिये मोटर में बिठाकर छोटे अधिकारियों के पास भी जाते और गरीब की सहायता करते थे। वे ग़रीबों में रहे थे और उनकी व्यथा को जानते थे।

पी-एच.डी. के विद्यार्थियों से फीस आदि लेने की तो बात ही नहीं थी। जरूरत देखते तो कइयों को रहने की जगह देते और घर पर खाना भी खिलाते।

जब काशी में डि.लिट्. की पढ़ाई कर रहे थे तो कोटा राज्य के आई.जी. पुलिस, रेवेन्यू कमिश्नर, नाज़िम, पलायथा के पुरोहित जी के पुत्र, दो ग़रीब रिश्तेदारों के बच्चे इनके मकान पर ही रहते थे। डॉ. साहब उनके अभिभावक थे। कोटा के बड़े अफ़सरों का डॉ. साहब पर बड़ा भरोसा था। हाड़ौती के वे ज्वलंत दीप थे, जिसकी ज्योति से असंख्य युवकों को प्रकाश मिला। ❑

शहर को तो बड़े लोग ही ख़राब करते हैं

– आनन्दमोहन शर्मा

डॉ. मथुरालाल शर्मा के यहाँ पैदा होना एक दैवयोग व वरदान था, लेकिन मैं इस सुअवसर का सही लाभ नहीं उठा पाया। उनकी अकथ्य साधना की कुल प्राप्ति से और कुछ तो ले पाया लेकिन ज्ञान नहीं ले पाया। शायद ऐसी क्षमता ही नहीं थी कि उनके चरित्र व ज्ञान से प्रेरणा ले पाता। लेकिन उनकी कही बातें अवश्य याद आती हैं उनमें से कुछ जो एक व्यक्ति से लेकर देश की स्थिति तक को इंगित करती हैं, का उल्लेख मैं यहाँ कर रहा हूँ :-

शिक्षा जैसे सम्मानित क्षेत्र से अन्य आकर्षक पदों की ओर पलायन, जो कहीं सामाजिक व आर्थिक कारणों से उच्च कहलाते हैं, उन्हें पीड़ा पहुँचातीं थीं। वे कहा करते थे कि आजकल सोचने, समझने व परखने के नज़रिये ही बदल गये हैं।

पिताजी कहा करते थे कि जब समाज सम्मानित किये जाने वाले व्यक्तियों को सम्मानित नहीं करता व जिन्हें सम्मानित नहीं किया जाना चाहिए, उनका सम्मान करता है तो पतन की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है।

इस बारे में वे अकबर इलाहबादी का शेर कहा करते थे :

कद्रदानों की तबियत का अज़ब रंग है आज।
बुलबुल को हसरत है कि हम उल्लू क्यों न हुये।

एक बार शोध छात्रों के बीच बात चलने पर, जहाँ मौके से मैं भी उपस्थित था, उन्होंने बड़े मर्म की बात कही। उनका कहना था कि शहर को छोटे लोगों से ज्यादा बड़े लोग ही खराब करते हैं। छोटे लोग तो सिर्फ़ छोटी जगहों पर ही सिमटे रहते हैं जबकि बड़े लोगों की शहरी भूमि लालसा हमेशा ही अतृप्त रहती है। इस संदर्भ में उन्होंने कोटा व जयपुर नगर के कई उदाहरण दिये। जिस समय वे जयपुर में मेयर रहे उस समय की कई रोचक बातें भी बतायीं कि किन-किन हवेलियों के चौक, किस-किस काल में कैसे खत्म हुये व हवेलियों के सामने पहले चबूतरियाँ व बाद में दूकानें किन-किन प्रभावों से बनीं। प्रभावी व्यक्तियों के कुप्रभाव से जो रास्ते व सड़कें चौड़ी होनी थीं, उनमें कैसे बाधायें उत्पन्न हुईं, इस विषय पर तो उन्होंने कोटा व जयपुर शहर के उदाहरणों की झड़ी लगा दी।

मुझे उनकी कही इस बात को कि शहर को तो बड़े लोग ही खराब करते हैं, अनुभव व समय के साथ ही बाद में मैं समझ पाया। जिससे मेरे अन्दर कच्ची बस्तियों की ओर सम्मान व सहानुभूति भी जागृत हुई।

देश की सामाजिक स्थिति जिसमें धोखाधड़ी, लूट खसोट, धन प्राप्ति व ऊपर उठने के लिए ग़लत तरीकों का इस्तेमाल बढ़ रहा था, पर वे बहुत खिन्न होते थे और कटाक्ष का उपयोग करते हुए कहा करते थे कि इतिहास अपने आप को दोहराता है।

''देखो देश अभी ठगों व पिण्डारियों के राज्य जैसी स्थिति में चल रहा है।''

❑

डॉ. मथुरालाल शर्मा और स्वतन्त्रता संग्राम

– शरतचन्द्र कौशिक

डॉ. मथुरालाल शर्मा अपने छात्र जीवन से ही घोर राष्ट्रवादी और मेधावी थे। उनकी बुद्धि बड़ी कुशाग्र थी। स्मरणशक्ति तीव्र थी और इसीलिये उनकी ख्याति अपने समय के अन्य विद्यार्थियों में भी फैल चुकी थी।

मैं जिन घटनाओं पर प्रकाश डाल रहा हूँ ये कोटा के स्वतन्त्रता संग्राम की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं पर इनकी चर्चा कहीं उपलब्ध नहीं है। इन घटनाओं का ज्ञान मुझे अपने पिता पण्डित रामनाथजी (दुखिया) तथा इनकी पुष्टि डॉ. मथुरालालजी के निकट सम्पर्क में आने पर ही हुई। ये घटनायें सम्भवत:1910 से 1914 के मध्य की हैं।

इन्हीं दिनों पं. गेंदालाल दीक्षित कोटा में आये पं. रामप्रसाद बिस्मिल के साथी रहे थे। वे क्रांतिकारी थे तथा उन्होंने आगरा तथा इटावा के क्षेत्र में मातृदेवी के पुजारी नाम की क्रांतिकारी संस्था स्थापित कर रखी थी। पण्डित गेंदालाल दीक्षित जो इटावा जिले में डी. ए. वी. स्कूल, औरेया में अध्यापक थे, क्रांतिकारी होने के नाते ब्रिटिश सरकार द्वारा गिरफ़्तारी वारंट जारी होने पर अपने भाई भागीरथप्रसाद दीक्षित के पास कोटा आ गये थे। यहा कोटा में भी उन्होंने अपनी गतिविधियाँ आरम्भ कर दी थीं। उसमें नारायणजी लुहार, पण्डित रामनाथजी, ठाकुर मनोहरसिंहजी, नन्दकिशोरजी शर्मा थे। ये नारायण लुहार के यहां हथियार भी बनाते थे। छात्र मथुरालाल भी इनकी गतिविधियों से परिचित थे।

इन्हीं दिनों आपजी साहब औंकारसिंह जी पलायथा कोटा राज्य के पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट थे। उन्हें अपने पुत्रों को पढ़ाने के लिये ट्यूटर की जरूरत थी। पण्डित गेंदालालजी बद्रीलाल के नाम से उनके यहाँ ट्यूटर हो गये और उनके पुत्रों को पढ़ाने लगे। डॉ. मथुरालालजी ने उन दिनों हाई स्कूल पास किया था और वे गेंदालालजी के निकट सम्पर्क में थे। गेंदालालजी उनकी विद्वत्ता, ज्ञान, स्मरण और कुशाग्र बुद्धि से बड़े प्रभावित थे।

इसी बीच एक दिन ब्रिटिश सरकार से गेंदालालजी का गिरफ़्तारी वारंट कोटा राज्य सरकार के पास आया। पण्डित गेंदालालजी को इस वारंट की जानकारी पहले ही हो गई थी, इसलिये उन्होंने आपजी साहब से निवेदन किया कि "मेरी पत्नी सख्त बीमार है इसलिये मैं अपने गाँव जा रहा हूँ।" आपजी साहब ने कहा इन बच्चों को पढ़ाने के लिये कोई और नाम बताओ तो उन्होंने डॉ. मथुरालालजी का नाम प्रस्तावित कर दिया और उनके ज्ञान की प्रशंसा भी कर दी। तत्कालीन हैडमास्टर साहब ने भी इसकी पुष्टि की। उसी दिन मथुरालालजी को बुलवा भी लिया और आपजी ने उनको ट्यूटर भी रख लिया। गेंदालालजी उसी दिन बारां शाहाबाद होते हुये ग्वालियर राज्य में प्रवेश कर गए।

ग्वालियर में पं. शिवदयाल दीक्षित के घर में मुझे एक पत्र देखने को मिला, जिसमें गेंदालालजी ने लिखा था कि मथुरालाल मुझे दिल्ली में और

रामनाथ आर्यसमाज के अधिवेशन में मथुरा मिले थे। मैं जब 1980 में डॉ. मथुरालालजी के पास जयपुर गया तो मैंने उनसे गेंदालालजी के पत्रों में उनके सन्दर्भ की चर्चा की। डॉ. साहब आश्चर्य से मेरी ओर देखने लगे और बोले कि तुमने कहाँ देखा और इसके बाद उन्होंने मुझे गेंदालालजी का बद्रीलाल के नाम से आपजी साहब के यहाँ नौकरी, वारंट का पता लगने की स्थिति में आपजी साहब के यहाँ ट्यूटर के लिये उनका नाम प्रस्तावित करने तथा ग्वालियर चले जाने की तथा अन्य बातों की जानकारी दी और उन्होंने मुझे यह भी बताया कि "मैं दिल्ली गया था, मेरी जेब में अधिक पैसे नहीं थे इसलिये दिल्ली से कोटा के टिकट के पैसे बचाकर मैं खाना खाने के लिये पराँठे वाली गली में गया तो दुकान पर बैठते ही मैंने गेंदालाल की ओर देखा। उनकी दाढ़ी बढ़ी हुई थी, बहुत क्षीणकाय हो चुके थे। गौर से देखने पर मेरे मुँह से निकला "गेंदालाल! गेंदालाल!! उन्होंने अँगुली से चुप रहने का इशारा किया और बताया कि मेरे पीछे पुलिस पड़ी है। दो मिनट तक मुझे लगातार देखते हुए दुकान से उठकर चले गये।"

डॉ. साहब बड़े राष्ट्रवादी एवं निर्भीक थे। आपजी पलायथा के यहां सर्विस करते हुये भी उनका राजस्थान के स्वतंत्रता आंदोलन नेताओं से अच्छा परिचय था। विजयसिंह पथिक और जयनारायण व्यास आदि उनके घर पर आकर ठहरते थे। वे काँग्रेस के अधिवेशन में भी जाते थे और खादी पहनते थे। प्रसिद्ध क्रांतिकारी केसरीसिंह बारहठ से भी जेल में मिलने जाते थे और बारहठजी के पॉलिटिकल एजेन्ट आदि के पत्रों का अँग्रेज़ी में अनुवाद वे ही करते थे। राष्ट्रवाद के कारण एक बार इनके लिए देश निकाले का आदेश भी हुआ था।

डॉ. साहब बात करने में, कहने में बड़े साहसिक थे और सीधी मुँहफट बात कहने में बिल्कुल संकोच नहीं था। एक बार कोटा सरकार के काम से पॉलिटिकल एजेन्ट से मिलने भरतपुर गये थे। एजेण्ट ने उनसे पूछा था डॉक्ट्रेट कहाँ से ली-इंग्लैण्ड की किस यूनीवर्सिटी से? डॉ. साहब का उत्तर "मैंने मेरे अपने ही देश की बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी से डी. लिट् किया है। उत्तर गर्व से भरा था। पॉलिटिकल एजेन्ट ने उनके इस उत्तर में दर्प और दम्भ का अनुभव किया। वो चिढ़ गया था लेकिन उसकी पत्नी समझदार थी और उसी के जरिये उनका काम बन पाया। सन् 1942 के आन्दोलन में भी उनकी और उनकी पुत्रियों की भूमिका क्रियात्मक रूप से विशेष ही रही है। कोटा में जनक्रांति की दृष्टि से डॉ. मथुरालाल के सम्बन्ध में उनके प्रारम्भिक जीवन दर्शन पर होने से मैं अपना कर्त्तव्य समझ इस रहस्य को उद्घाटित कर रहा हूँ। कोटा भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में कभी पीछे नहीं रहा है। इस पर हमें गर्व है। ❑

डॉ. मथुरालाल शर्मा की वक्तृत्व कला

–अश्विनीमोहन शर्मा

श्रद्धेय डॉ. साहब ने वक्तृत्व कला की साधना की थी। उन्होंने अपने समय के दिग्गज वक्ताओं के भाषण बड़े ध्यान से सुने। वे उनके उच्चारण व हावभावों की अच्छी नकल कर सकते थे। अपने यौवन काल तक वे इस कला का अध्ययन अभ्यास करते रहे और अपने साहित्य व भाषा ज्ञान की एक साधना के तौर पर अभिवृद्धि करते रहे।

डॉ. साहब जब नवीं कक्षा में थे तभी बहुत अच्छा भाषण देने लग गये थे और कोटा आर्यसमाज की युवा सभा का इनको मंत्री चुना गया था और वे कोटा, बूँदी, झालावाड़ में बड़े अधिकार से आर्य समाज का प्रचार करते थे। तभी बूँदी में वैद्य मुकुटबिहारीलालजी से जो स्वयं भी नवीं कक्षा के विद्यार्थी थे, उनका परिचय हुआ था। वैद्य जी बताते थे कि उस समय भी वे प्रभावशाली वक्ता थे।

फिर डॉ. साहब मैट्रिक की परीक्षा देने अजमेर गये और वहाँ केसरगंज के आर्यसमाज भवन में ठहरे। उन दिनों रविवार पड़ा, जब यज्ञ हुआ और विद्वानों के भाषण में डॉ. साहब ने भाषण दिया तो अजमेर के आर्यसमाजियों को चमत्कृत कर दिया। समाज के अध्यक्ष उस समय डॉ. ईश्वरीप्रसाद जी शर्मा थे। वे इनसे इतने प्रभावित हुये कि इस नितान्त अपरिचित नवयुवक से अपनी बड़ी पुत्री सुश्री राधादेवी से विवाह का प्रस्ताव कर दिया। डॉ. साहब ने कहा कि उनकी आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं है और घर में केवल विधवा माता है। पं. ईश्वरीप्रसादजी से भी उनके परिवार और मित्रों ने एकाएक ऐसा निर्णय लेने पर असहमति जताई, लेकिन पंडित जी को डॉ. शर्मा बड़े होनहार लगे और उन्होंने बहुत आग्रह किया तो डॉ. शर्मा ने कहा कि वे अपनी माँ की अनुमति लेकर ही उत्तर दे सकेंगे। माँजी ने अनुमति दे दी और मैट्रिक पास होने और स्कूल में अध्यापक होने पर विवाह सम्पन्न हो गया।

डॉ. शर्मा जब प्राइवेट बी.ए. की पढ़ाई कर रहे थे तब आर्यसमाज के मंत्री भी थे। उस समय भी हिन्दी, अँग्रेज़ी, संस्कृत के साहित्य पर इनका बड़ा अधिकार हो गया था और एक वर्ष आर्य समाज के वार्षिक उत्सव पर जिसमें तब पंजाब और यू.पी. के बड़े-बड़े विद्वान् आए थे। 'ईश्वर' शब्द पर लगातार 4 दिन तक डेढ़-डेढ़ घंटा व्याख्यान देकर आपने बड़ी प्रशंसा अर्जित की थी।

इसके बाद वे अपने भाषण कला के बल पर ही आर्यसमाज राजस्थान मालवा की प्रतिनिधि सभा के कई वर्ष तक अध्यक्ष रहे और केन्द्रीय सभा के सदस्य भी।

कोटा में जैनियों का एक महाअधिवेशन हुआ जिसकी अध्यक्षता करने इंदौर के सर सेठ हुकुमचंद आये जो इतने अधिक सम्पन्न माने जाते थे कि उनकों हाबल्या काबल्या कहा जाता था। वहाँ डॉ. शर्मा का भी व्याख्यान हुआ जिसकी बड़ी धूम रही और सेठ साहब इतने अभिभूत हुये कि इनको इंदौर आने का निमंत्रण दिया। ये गये, सेठ साहब ने बड़ा सत्कार किया और वहाँ विद्वानों की सभा में दो दिन तक इनका भाषण करवाया।

इंदौर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन हुआ जिसकी अध्यक्षता पूज्य गाँधीजी ने की। उसमें पुरुषोत्तमदास टंडन, सेठ गोविन्ददास के बाद

आपका भाषण हुआ। गाँधी जी ने पास बुलाकर आपकी प्रशंसा की।

उज्जैन में कालिदास जयन्ती पर इन्हें आमंत्रित किया गया, जहाँ इन्होंने कालिदास के विभिन्न ग्रन्थों से धारा-प्रवाह रूप से बड़ी संख्या में शुद्ध उच्चारण में श्लोक सुनाकर और उनकी अद्‌भुत व्याख्या करके सभा को मंत्रमुग्ध कर दिया। कवि श्री शिव मंगलसिंह 'सुमन' कालिदास जयन्ती के उपाध्यक्ष ने स्वयं यह बताया।

इनके वैदुष्य और राष्ट्रीय विचारों से प्रभावित होकर राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के वार्षिक अधिवेशन में इनको नागपुर सन् 1950 के आसपास आमंत्रित किया। जहाँ इस बड़ी संस्था से इनको बहुत सम्मान मिला।

जयपुर में महाराजा कॉलेज के प्रिंसिपल होकर आने के बाद यहाँ के पंडितों ने एक सभा में आपको बुलाया। वहाँ धारा प्रवाह संस्कृत में एक घंटा बोलकर सबको चमत्कृत कर दिया। उस भाषण को यहाँ के पण्डित आज भी याद करते हैं। उसके बाद इन्होंने कई सभायें आयोजित कीं जिनमें केवल संस्कृत में ही सम्भाषण होता था।

देश के प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान जयपुर आये। यहाँ राज्यपाल महामहिम रघुकुल तिलक ने उनकी आवभगत की और राजभवन में ही एक सभा सम्पन्न हुई, जिसमें डॉ. साहब को आमंत्रित किया। डॉ. साहब ने अत्यन्त प्रांजल संस्कृत में भाषण दिया जिसकी बड़ी प्रशंसा हुई। राज्यपाल महोदय ने कहा कि वे तो संस्कृत का भाषण लिख कर लाये थे लेकिन डॉ. साहब एक्सटेम्पोर ही बोले।

कोटा में सर्वपल्ली डॉ. राधाकृष्णन् पधारे तो कोटा नगर की ओर से डॉ. शर्मा ने संस्कृत में अभिनंदन पत्र समर्पित किया और भाषण दिया, फिर जब डॉ. राधाकृष्णन् जयपुर आये तो डॉ. साहब को उसी भाषण के आधार पर पहचान लिया।

जयपुर महाराष्ट्र मण्डल में आमंत्रित किया तो मराठी में आधा घंटा भाषण करके सबको अचंभित कर दिया।

राजस्थान विश्वविद्यालय में बाहर के किसी विद्वान् का भाषण होता तो अध्यक्षता के लिये डॉ. साहब को बुलाया जाता था। वह बाद में बंद सा हो गया क्योंकि कुलपति जी कहते थे कि डॉ. साहब के अध्यक्षीय भाषण से मुख्यवक्ता का भाषण फीका पड़ जाता है।

डॉ. शर्मा साहब हिन्दी, संस्कृत, अँग्रेज़ी के अपने समय के अप्रतिम वक्ता थे। उर्दू भी धारा प्रवाह बोलते थे। मराठी, गुजराती, हाड़ौती, मारवाड़ी में भी बड़ा विद्वत्तापूर्ण व रोचक भाषण देते थे। उनकी स्मृति विशाल थी। गीता, उपनिषद्, रामायण, उर्दू, फ़ारसी काव्य काफ़ी कंठस्थ थे और अपने भाषण में उनके सटीक उद्धरण देते थे जो बड़े प्रभावशाली होते थे।

एल 6, कृष्णा मार्ग
सी-स्कीम, जयपुर ❑

पिताश्री डॉ. मथुरालाल शर्मा की दिनचर्या

- प्रभातमोहन शर्मा

प्रात: काल पाँच बजे उठकर पिताश्री नित्य प्रति छ: बजे घूमने चले जाते थे। जब से मैंने होश सम्भाला, मैंने उनके इस कार्यक्रम में कोई व्यवधान नहीं पाया। प्राय: सात बजे वापस आकर चाय नहीं बनती तब तक करीब आधा घंटा सोफ़े पर ध्यानस्थ बैठते थे। तब सबके साथ चाय नाश्ता करते और फिर ड्राइंग रूम स्टडी में सोफ़े पर बैठ जाते और करीब बारह बजे तक गम्भीर पठन व डिक्टेशन का कार्यक्रम रहता था। दो स्टेनो आया करते थे सुबह मगनलालजी और सायं मूलचंद जी। पिताजी बड़े परफ़ेक्शनिस्ट थे, थोड़ी सी भी ग़लती लिखने या टाइप में होती तो स्टेनोज़ पर झाड़ पड़ती। एक से तो 2-3 दिन में एक बार कह ही देते थे कि तुम अपना समय खराब करते हो और मेरा भी। कल से मत आया करो, बल्कि दूसरे दिन वही सज्जन समय पर आकर प्रणाम करके बैठ जाते और पिताजी भी कल की बात भूलकर लिखाने लगते।

दिन में सोते नहीं थे। केवल कुछ देर भोजन के पश्चात् करीब आधा घण्टा पलंग पर आराम कर लेते। भोजन ठीक 12 बजे करते और 12.30 पर फिर सोफ़े पर आ बैठते और गम्भीर अध्ययन अध्यापन प्रारम्भ हो जाता जो प्राय: छ: बजे तक चलता। फिर चाय लेकर सायंकाल भ्रमण को निकल जाते। कहीं आने-जाने में किसी प्रकार की विशेष तैयारी नहीं करते। बस टोपी लगाई, लकड़ी हाथ में ली और निकल जाते। कभी कोई बच्चे को कार ड्राइव करके ले जाना होता, और नौकर कहता कि भैयाजी अभी तैयारी कर रहे हैं, तो बड़े झुंझलाते कहते, तैयारी क्या होती है?

घर के किसी काम में, पारिवारिक बातों में खाने-पीने के प्रबन्ध आदि में कोई रुचि नहीं लेते। जैसा बन जाता, वैसा खा लेते। ग़रीब परिजनों से उन्हें विशेष आत्मीयता थी और उन्हें हर प्रकार से मदद करते रहते थे। कोई भी उनके पास किसी काम से आता तो सब काम छोड़कर उसके काम को निकल जाते। कोटा का कोई भी व्यक्ति आ जाता तो स्नेह सरिता उमड़ पड़ती और 'आउट ऑफ दि वे' जाकर भी उसका काम करते थे। ऐसे लाभार्थियों की संख्या असंख्य है।

अपरान्ह में पी-एच. डी. के विद्यार्थी आते जिनको समय दिया हुआ रहता था। एक दिन में बहुधा दो विद्यार्थी आते थे। कोई देर से आता तो अप्रसन्नता व्यक्त करते। कहते 15 मिनट से मैं अपना काम समाप्त करके तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हूँ। समय का मूल्य नहीं जानते। कभी-कभी तो उसे वापस बैरंग भेज देते कि अब तुम्हारी बारी पर समय पर आना।

पी-एच. डी. के विद्यार्थी के प्रवेश का उनका अपनी ही ढंग था। पहले तो उसका सामुद्रिक देखते फिर कुछ हल्के व कुछ गम्भीर प्रश्न करते। कुछ संतुष्ट होते तो अपने पास से कोई पुस्तक देते और कहते इस चैप्टर को पढ़कर इसका सारांश लिखकर लाओ। फिर कुछ पसंद आता तो कहते तुम्हें

परिश्रम करना पड़ेगा। मैं डेढ़ साल में पी- एच. डी. कराता हूँ। विद्यार्थियों की संख्या बहुत है, तुम्हें स्वीकार हो तो आ सकते हो, फिर प्राय: उसको विषय भी स्वयं ही उसकी योग्यता के अनुसार देते और पहले ही दिन कई खंडों में पूरा सिनोप्सिस लिखा देते। फिर गुरु-शिष्य दोनों पूरा परिश्रम कर समय पर ही थीसिस पूर्ण कर देते और उनका विद्यार्थी कभी असफल नहीं हुआ। मैंने देखा है थीसिस की मंजूरी के बाद जो विद्वान् विद्यार्थी के साक्षात्कार के लिये आते वे पिताजी को गुरु रूप से ही सम्मान करते और साक्षात्कार सर्वथा सफल रहता।

यूनिवर्सिटी ने उन्हें घर ही साक्षात्कार के लिये स्वीकृति दे रखी थी। घर पर ही लॉन में दीक्षान्त समारोह हो जाता जिसमें राज्यपाल महोदय पधारते थे। पिताजी ने उपकुलपति पद-सेवा-निवृत्ति होने के बाद, राजस्थान हिस्टोरीकल रिसर्च इन्स्टीट्यूट की स्थापना की। जिसका घर पर ही कार्यालय था और उनके माध्यम से 40 विद्यार्थियों को पी-एच. डी. की डिग्रियाँ दिलवाईं और दो को डी. लिट् की। यह राजस्थान विश्वविद्यालय का एक कीर्तिमान था। इन्स्टीट्यूट की एक त्रैमासिक शोध पत्रिका भी प्रकाशित होती थी, जिसका वे सम्पादन करते थे बीस वर्ष में एक प्रति भी अप्रकाशित नहीं रही। उनके देहावसान के बाद 23 वर्ष में एक भी प्रति अब इन्स्टीट्यूट के विद्वान् कर्णधार नहीं निकाल सके।

पिताश्री उस पत्रिका के सम्पादक थे और स्वयं भी प्रत्येक प्रति में एक दो गहन शोधपरक लेख लिखा करते थे।

पिताश्री अक्सर गम्भीर रहते थे। परिवार में किसी से भी कम ही बात करते थे। वे कुछ न कुछ गम्भीर चिंतन की मुद्रा में ही रहते थे। हम सब बालक उनका बड़ा अदब करते थे और जब तक वे नहीं बुलाते उनके सामने प्राय: जाते ही न थे। घर में एक संयत वातावरण रहता था, लेकिन जब वह प्रसन्न मुद्रा में होते तो उनकी स्नेहिल वाक्धारा छूटती तो जैसे घर चहक उठता। उनके मूड से ही घर का मूड बनता था।

पिताश्री से विद्वज्जन मिलने आते ही रहते थे लेकिन उनकी ज्ञान गरिमा के आगे और वाक् विदग्धता के आगे हमने देखा है वे सहमे-सहमे से ही रहते थे। किसी यज्ञ में जाते तो पण्डितगण मंत्र बोलने में घबराते। बाद में पिताजी उन्हें उच्चारण की व अन्य त्रुटियाँ बताते। उन्हें सारे मंत्र, गीता, उपनिषद् कंठस्थ थे।

83 वर्ष की आयु में उन्हें लकवा हुआ। लेकिन वे घबराये नहीं। व्यायाम करके चलने फिरने लायक हो गये और उनकी सारस्वत साधना निरन्तर चलती रही। अंतिम दिन भी एक विद्यार्थी का शोधग्रन्थ देखा था। ऐसे थे पिताश्री जिन पर हमें गर्व है और जो हमारे कुटुम्ब को गौरवान्वित कर गये।

एल 6, कृष्णा मार्ग
सी-स्कीम, जयपुर

❑

स्वतन्त्रतापूर्व कोटा की कुछ यादें

- कुन्ती शर्मा

यादों का कारवाँ जब स्मृति पटल पर चलने लगा है तो थमता ही नहीं। वह मन: प्राण को अतीत में ले जाता है और उस समय के सुख दु:ख, लौकिक वातावरण, सहज, सरल जीवन की स्मृति से अभिभूत हो जाता है।

उस समय की कुछ झलकियाँ प्रस्तुत करने की लालसा हो रही है। बिना तारतम्य के ही जैसे जैसे याद आ रही हैं, ये झलकियाँ प्रस्तुत हैं। वास्तव में वो भी क्या दिन थे?

कोटा में नल व बिजली के आगमन के पहले चिमनियाँ कंदील व लालटेनें थीं, भीषण गर्मी में बीजनियों, से हवा करते रहते थे। लालटेनों, कंदीलों की रोशनी में पढ़ाई होती थी और कुँओं से पानी आता था जो बहुत गहरे होते थे। चम्बल के पास की बस्तियां में महिलाएँ नदी में स्नान के पश्चात् गागरों में भरकर पानी लाती थीं। पर इस माहोल से किसी को असंतोष नहीं था। सब अपनी नियति जानते थे और उसी में प्रसन्न थे।

फिर नल-बिजली आई तो लोगों में बड़ा उत्साह पैदा हुआ। नल का प्रेशर बहुत तेज़ था, लेकिन बिजली के लट्टू टिमटिमाते थे और चाँदनी रात में सड़कों पर रोशनी की ज़रूरत नहीं समझी जाती थी।

दरबार उम्मेदसिंहजी का जमाना था। दरबार एक घोड़े की फिटन में जाते थे जिसके घोड़े के घुंघरू की खास आवाज़ थी जिसको सुनकर प्रजाजन बड़े प्रसन्न होते थे। दरबार गर्मी में भी दिन में निकल पड़ते थे। गढ़ से पाटनपोल होकर कोठी पर पधारते थे। घंटाघर के पहले चौथमाता का मंदिर है। वहाँ छाया में गायें बैठी रहती थीं। फिटन आती तो उनको उठना पड़ता था। मंदिर के पुजारी ने एक दो बार कहा कि ओ गौमाताओं! गौ ब्राह्मण, प्रतिपालक राजा आकर तुम्हें उठाता है, मेरा बस नहीं है। दरबार ने सुनकर रास्ता बंद कर दिया सूरजपोल होकर जाने लगे और पुजारी से कहा 'पंडितजी! थांका कहबा सूँ रास्तो बदल दियो छै अब श्राप मत दीज्यो।'

सर चौबे रघुनाथदासजी प्रथम दीवान थे जिन्होंने कोटा राज्य को सुदृढ़ व आधुनिक शासन तंत्र दिया। वे बड़े कुशल प्रशासक थे। समय के बड़े पाबंद थे। उनके घर से रवाना होने और महकमा खास पहुँचने पर लोग घड़ी का टाइम ठीक करते थे।

दरबार उम्मेदसिंहजी राजकाज में दखल नहीं देते थे। पहले चौबे रघुनाथदासजी व बाद में राय बहादुर विशम्भरनाथजी, सर आपजी औंकार सिंह जी जब दरबार थे तब भी वही बात थी।

आपजी साहब किसी अफ़सर से नाराज़ हो जाते तो कभी-कभी दरबार उसकी कोठी पर पहुँच जाते और उसको सांत्वना देते कि थांकी नौकरी न जावेगी। वे कुछ जागीरदार सरदारों व बड़े अफ़सरों के साथ घंटा आधा-घंटा ताश खेलते थे।

एक बार कोठी के एक कर्मचारी के विरुद्ध कोई मुकदमा चला। मुकदमा बाबू जगदीश सहायजी जज की अदालत में था जो अपनी ईमानदारी और निष्पक्षता के लिये बड़े प्रसिद्ध थे। कर्मचारी ने जो दरबार की चाकरी में रहता था, बार-बार दरबार से प्रार्थना की, तो दरबार ने कहा कि भाई

जगदीशसहायजी कोई की मानै कोईन - तू कहै है तो खूंगो।

दूसरे दिन जगदीशसहायजी ने यादगार में सलाम किया तो दरबार ने बात छेड़ी तो जज साहब ने नम्रता से कहा कि हुजूर इजाजत दें तो मैं उधर जाकर बैठूँ। ताश में खलल पड़ेगा। दूसरे दिन कर्मचारी आया तो उससे कहा ''म्हानै थां सू पहिले ही कह दी छै कि जज साहब सख्त छै, म्हारी भी न मानी''। ऐसे थे दरबार भोले भाले लेकिन सत्यनिष्ठा के कद्रदान।

आपजी औंकारसिंह जी की बड़ी धाक थी। पॉलिटिकल एजेन्ट उन्हें कोटा का मुसोलिनी कहता था। दो घोड़ों की बग्गी में महकमा खास जाते तो सामने की सीट पर एक बस्ता और सोने की मूँठ की तलवार साथ जाती थी। पूरे पुराने ठाकुर थे कहते थे न जाने कैसा मौका आ जाये, शस्त्र तो साथ रहना चाहिये।

आपजी साहब रोज़ का काम रोज़ ही निपटाते थे। लेकिन कुछ काग़ज़ ऐसे होते थे जिन्हें इतवार को हवेली पर देखते थे। सरकारी काम समाप्त होते ही सरकारी कलमदान हटवा देते और फिर कामदार जो ठिकाने के काग़ज़ात लाते तो उन पर ठिकाने के कलमदान से लिखा जाता। ऐसी थी उन दिनों की ईमानदारी, जिसका असर अब अधिकारियों पर था। उनके बाद महाराव भीमसिंह जी के काल में एक गुजराती सर घोसालिया दीवान बनकर आया जो अँग्रेजों का परम भक्त था और उनके इशारों पर कार्य करता था। वह सन् 1942 का जमाना था। उसने सरदार बहादुर संतसिंह, आई. जी. पी. से मिलकर प्रजामण्डल के थोड़े बहुत आन्दोलन को सख्ती से दबाने का प्रयत्न किया और उसके प्रमुख नेताओं शंभू दयालजी, बेनी माधवजी, ज़ोरावरसिंहजी व सेठ मोतीलालजी आदि को गिरफ्तार कर लिया गया। कई संभ्रान्त व्यक्तियों को भी लपेटे में लिया। आठ-दस व्यक्तियों को देश निकाले के हुक्म के लिये काग़ज़ दरबार के सामने पेश किया, जिनमें पहला नाम डॉ मथुरालालजी शर्मा का था। दरबार ने वह नाम काट दिया और कहा कि मथुरालालजी को हम ज्यादा जानते हैं। घोसालिया के दमन से जनता में बड़ा क्रोध उत्पन्न हुआ और उसने गिरफ्तारियों के विरोध में कोतवाली का घेराव किया। भारी लाठी चार्ज हुआ जनता द्वारा पथराव हुआ, पुलिस कोतवाली छोड़कर भाग गई व जनता का कोतवाली पर कब्ज़ा हो गया और उसने शहर पनाह के दरवाजे बंद कर दिये और तीन दिन तक कोटा में जनता का राज रहा। इन हालात पर बड़ी मुश्किल से काबू पाया गया। बाद में सर घोसालिया व संतसिंह को इस्तीफा देकर जाना पड़ा। उसको हटाने में डॉ. मथुरालालजी का भी बड़ा हाथ था। डरके मारे घोसालिया कोटा जंक्शन से गाड़ी में नहीं बैठा कोटा सिटी से बैठा, लेकिन वहाँ भी लोगों ने नहीं छोड़ा, जाते जाते जूतों की माला पहना दी।

उन दिनों कोटा में आर्यसमाज का बड़ा प्रचार था। वयोवृद्ध पंजाबी डॉ. गुरुदत्तजी अध्यक्ष हुआ करते थे और डॉ. मथुरालालजी मंत्री, जो बाद में कई वर्ष तक राजस्थान और मध्यप्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा के अध्यक्ष भी रहे।

कोटा हर्बर्ट हाई स्कूल में जब इंटरमीजिएट की पढ़ाई प्रारम्भ हुई तो एक मदनमोहन शर्मा जो नाटकों में भी पार्ट करते थे, और तीन अन्य विद्यार्थी प्रथम वर्ष में भर्ती हुए। ये चारों छात्र कोटा में ऐसी शान से घूमते थे जैसे आज के आई. ए. एस.। बी. डी. बत्रा साहब प्रिंसिपल थे। फिर बी. ए. का पाठ्यक्रम शुरू हुआ तब डॉ. मथुरालाल शर्मा उसके प्रथम प्रिंसिपल बने। ये इसके पूर्व कई वर्ष तक महकमा खास या सचिवालय के मुख्य सचिव रह चुके थे। खास बात यह थी कि कोटा रियासत

में शिक्षा पूर्णतया निःशुल्क थी। सारा खर्चा राज्य वहन करता था। प्राईवेट पाठशाला तो बस एक ही थी, हितकारी पाठशाला जो रामपुरा में श्योदास घाट के रास्ते में थी। इसके प्रधान अध्यापक श्री शंभूदयालजी सक्सेना एम. ए. थे। वे सामाजिक व राजनीतिक कार्यकर्त्ता भी थे और कोटा मे उनकी बड़ी इज्जत थी। उस समय श्री मथुरेश जी के मंदिर के पास स्थित बिट्ठलनाथ पाठशाला वेदांगों के अध्ययन का मान्य केन्द्र थी, जिसमें विद्यार्थियों के निःशुल्क अध्ययन व भोजन की व्यवस्था थी।

हितकारी स्कूल के पास ही अपर प्राईमरी स्कूल था जिसके हैडमास्टर श्री उमाशंकरजी गौड़ थे, जो बड़े सख्त थे। उनसे अध्यापक व छात्र डरते रहते थे। उनका डंडा पुजता था।

कोटा प्रजामण्डल के जुझारू नेताओं में नयनूरामजी, अभिन्न हरि जी, सेठ मोतीलालजी, शंभूदयालजी, नाथूलालजी जैन तथा वकील बेनी माधव शर्मा, हीरालाल जैन, कविवर सुधीन्द्रजी प्रमुख थे। राजस्थान के नेताओं में माणिक्यलाल जी वर्मा, जयनारायण व्यास, विजयसिंह पथिक आदि भी आन्दोलन के सिलसिले में कोटा आते रहते थे। वे अक्सर कोटड़ी कविराजा जी दुर्गादान जी के यहाँ ठरते थे। कभी-कभी डॉ. मथुरालालजी के यहाँ भी प्रश्रय पाते थे। यद्यपि डॉ. साहब राजकीय सेवा में थे। महान् क्रान्तिकारी श्री केसरीसिंह जी बारहठ भी कोटा में ही निवास करते थे और स्वतंत्रता सैनिकों के लिये प्रेरणा स्रोत थे।

शिक्षा विभाग के डाइरेक्टर लाला दयाकृष्ण जी थे। उनका प्रशासन बड़ा सख्त था। उनके समय के मिडिल पास का हिंदी में मुकाबला आज के ग्रेजुएट भी नहीं कर सकते। हैड मास्टरों में रणजीत सिंह जी, रामनाथजी दुखिया, देवकृष्णजी आदि को बड़ी प्रसिद्धि मिली। पढ़ाई के अलावा डाइरेक्टर साहब, बच्चों की सफ़ाई आदि पर बड़ा ध्यान देते थे और कोई कमी पाई जाती तो अध्यापक को दंड दिया जाता था।

पुलिस में प्रेमनाथजी टिक्कू आई. जी. थे जिनका बड़ा रौब दाब था। बाद में रामनाथ जी आई. जी. हुये। डॉ. विद्याशंकरजी बड़े डाक्टर थे। वे बड़े महाराणाजी के साथ कच्छभुज से आये थे। उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। उनके छोटे भाई घूटीप्रसादजी कोटा के फ़ौजदार थे, उन्होंने चौबे रघुनाथ दासजी के छोटे पुत्र चौबे हरनाथजी से चार्ज लिया था। ये बाद में कोटा के सेशन जज बने। इस काल की एक बड़ी घटना श्री मथुरेशजी का छप्पन भोग दर्शनार्थ जो शहर बाहर चम्बल के किनारे हुआ जिसमें 100 मन चीनी के मिष्ठान्न बने। बाद में पंडित विष्णुदत्तजी सब जज हुये और महकमा खास में सचिव पद पर नियुक्त हुये। वृहद् राजस्थान के निर्माण के पूर्व पंडित परमानंदजी कोटा के डिस्ट्रक्ट मजिस्ट्रेट व कलेक्टर थे। महकमा माल का प्रशासन नाज़िमों के द्वारा होता था और नाज़िम का ओहदा बड़ा सम्माननीय माना जाता था। पटवारी से सेवा में प्रवेश करने वाले भी अपनी प्रतिभा व परिश्रम से रेवेन्यू कमिश्नर तक पहुंचते थे। इस प्रकार सर्वोच्च अफ़सर व छोटे मातहत के बीच में प्रतिष्ठा की दरारें नहीं थीं। छोटे कर्मचारी को भी इज्ज़त मिली हुई थी। आज की तरह बड़े अफ़सर छोटे कर्मचारियों में सांमजस्य था। लोग अपनी मर्यादायें जानते थे और जीवन से संतुष्ट थे। दरबार की सब दिल से इज़्ज़त करते थे। श्री उम्मेदसिंहजी के बाद महाराव भीमसिंह जी राजा बने। वे बड़े उदार, समझदार, प्रजावत्सल थे। राजस्थान बनने के बाद भी उन्होंने कई वर्ष तक प्रीविपर्स नहीं ली और उस बड़ी रकम से महाराव भीमसिंह अस्पताल का कोटा में निर्माण करवाया। अन्य रियासतों के बारे में तो पता नहीं लेकिन प्रशासन अत्यन्त स्वच्छ, ईमानदार व चुस्त

था। कोटा में जनता बड़ी अमन-चैन से रहती थी।

राजस्थान निर्माण के बाद क्षेत्र में बड़ा विकास हुआ है। जनतंत्र से एक नई चेतना आई है, समृद्धि बढ़ी है, जिससे नई स्पर्धाएँ बढ़ी हैं, आपाधापी बढ़ी है लेकिन सच्चाई तो यह है कि वह अमनचैन खो गया है, जाति विद्वेष, स्पर्धा व भ्रष्टाचार ने संतुष्ट समाज को झकझोर कर रख दिया है।

❑

शत् शत् प्रणाम

ओजस्वी वक्ता सदैव जो, स्नेह सुमन बरसाता।
राजथली के सुधीजनों से, जिसका अनुपम नाता॥
ज्ञानोदधि को जिसने मथकर, माखन मधुर निकाला।
अपने कर से शिष्यजनों को, स्नेह सिक्त कर डाला॥
शोध शोध कर ग्रंथ जिन्होंने, जयपुर का इतिहास लिखाया।
गोपनीय जो घटनाएँ थीं, जनमानस में सुलभ बनाया॥
खोज खोजकर पोथी जूनी, कोटा का इतिहास रचा था।
उनकी तीक्ष्ण दीठि से कोई, लेख खरीता नहीं बचा था॥
वे पावन थे तीर्थ पुण्यमय, सभी आप्त, मनुजों के।
वे थे मंजुल कलश मनोहर, प्यासे, तृषित मनों के॥
प्यार बाँट कर सब स्वजनों को, जाने कहाँ विलीन हो गये।
अपना सभी पराग लुटाकर, पंचतत्व में लीन हो गये॥
जब तक राजस्थान रहेगा, अमर रहेगा तेरा नाम।
तेजपुंज हे महातपस्वी, तुझको शत् शत् नम्र प्रणाम॥

❑ शिवदत्त शर्मा

प्रणामांजलि!

- डॉ. सत्येन्द्र चतुर्वेदी

सन् 50 की बात है। मैंने इण्टर की परीक्षा एम.एस.जे. कॉलेज भरतपुर से उत्तीर्ण की थी। इसी दौरान स्मृति शेष पिताजी पं. युगलकिशोर चतुर्वेदी प्रान्तीय काँग्रेस कमेटी के प्रधानमंत्री होकर जयपुर आ गये थे। स्वभावतः अब आगे का अध्ययन मुझे जयपुर में ही करना था- प्रदेश की सुविख्यात प्रतिष्ठित शिक्षण संस्था महाराजा कॉलेज में! वहाँ प्रवेश के समय मुझमें अपेक्षित सहज उल्लास, उत्तेजना सब कुछ था। इतने बड़े गहमागहमी के महाविद्यालय में पढ़ने का पहला ही अवसर था। कक्षा में संयोगवश अच्छे सहपाठी मिल गये। इसीलिए वहाँ नए वातावरण में घुल मिलने में विशेष कठिनाई नहीं हुई। पर पुराने विद्यार्थियों से और कॉलेज के रंग-ढंग से कुछ ऐसे संकेत अवश्य मिल रहे थे कि पिछले दिनों वहाँ बहुत बड़ा प्रशासनिक बदलाव आया है। दशकों से महाराजा कॉलेज के प्राचार्य और शिक्षा जगत के प्रभावशाली व्यक्तित्व के धनी श्री वर्मा को कोटा स्थानान्तरित कर दिया गया था और हर्बर्ट कॉलेज कोटा के प्राचार्य प्रसिद्ध इतिहासविद् डॉ. मथुरालाल शर्मा को उनके स्थान पर महाराजा कॉलेज का प्राचार्य नियुक्त किया गया था। ऐसा लक्षित होता था- कॉलेज जीवन में और साथ ही जयपुर के शिक्षा क्षेत्र में यह एक भूचालकारी घटना थी। श्री वर्मा के कठोर अनुशासन से संचालित कॉलेज का अब क्या भविष्य होगा, सबमें यही उद्वेलन था। आखिर ये राजस्थान का सबसे बड़ा स्नातकोत्तर तथा विधि स्तर का महाविद्यालय जो था! जमी हुई व्यवस्था में व्यतिक्रम उत्पन्न होने की प्रबल आशंकाएँ; जाहिर है बहुत लोगों के दिलोदिमाग को कुरेद रहीं थीं।

पर डॉक्टर साहब ने अपने वृषभ स्कन्धों पर इस विशाल कॉलेज का कार्यभार जिस आत्मविश्वास, सहजता और निपुणता के साथ वहन किया उससे न कॉलेज के दैनन्दिन कार्यों के संचालन में, न उसके जीवन-प्रवाह में कहीं कोई अन्तर दृष्टिगोचर हुआ। स्वविवेक को काम में लेकर अपने कार्यकाल में उन्होंने कई महत्वपूर्ण निर्णय लिये; कॉलेज व्यवस्था में भी परिवर्तन किए, पर कहीं से कोई विरोध का प्रतिवादी स्वर मुखर न हो सका। वस्तुतः डॉ. शर्मा अप्रतिम प्रभावशाली व्यक्तित्व के धनी, स्पष्ट वक्ता, गम्भीर चिन्तक, निष्णात् इतिहासवेत्ता, मूर्धन्य शिक्षा शास्त्री और एक कुशल प्रशासक थे। इसीलिए साधारण विद्यार्थी हो, चाहे बड़े से बड़ा अधिकारी; उनकी ज्ञान-गरिमा और विद्वता से प्रभावित हुए बिना रह नहीं सकता था। पर उनके प्राचार्य काल की विशेष उल्लेखनीय बात जो आज तक भी मेरे मानस-पटल पर आकण्ठ विद्यमान है, वह इतनी अल्पावधि में उनकी अकल्पनीय लोकप्रियता थी- अचिरात् उन्होंने पूरे कॉलेज के हज़ारों छात्र-छात्राओं का बरबस मन मोह लिया था। उनका इतना विश्वास अर्जित कर लिया था और आत्मीय स्तर पर ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर लिया था उन्होंने कि एक वर्ष का कार्यकाल पूरा होने पर सरकार ने जब उनकी डॉयरेक्टर ऑफ़ एजुकेशन के सम्मानपूर्ण पद पर पदोन्नति की तो उस विदाई वेला में एक तरह से पूरा कॉलेज सजल हो उठा था। आज के मूल्य, मर्यादाओं के ह्रास युग में डॉ. शर्मा के चरणों में नतमस्तक उस विशाल छात्र समुदाय को देखकर सभी आश्चर्याभिभूत थे। कंठावरुद्ध, तरलमना विद्यार्थी उनका आर्शीवाद रस पाने के लिए एक-दूसरे से स्पर्द्धा कर रहे थे-

एक अभूतपूर्व, अद्भुत दृश्य था। इंग्लैंड में भारत के वर्तमान राजदूत, प्रसिद्ध विधिशास्त्री डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी ने- जो उस समय महाराजा कॉलेज के छात्र थे- उस वर्ष की "कॉलेज मैगजीन" में डॉ. शर्मा को "मैन ऑफ़ द ईयर" घोषित किया था। अपने लेख में श्री सिंघवी ने डॉ. साहब की उन सब विरल विशेषताओं को रेखांकित किया था जिन्होंने इतनी अल्पावधि में ही उन्हें महाविद्यालय परिवार का परम श्रद्धेयजन बना दिया था। पारिवारिक पुराने आत्मीय सम्बन्धों के कारण मैं जीवनपर्यन्त पुण्यश्लोक शर्मा जी का स्नेह पात्र बना रहा। वे हमेशा मेरा यथोचित् मार्गदर्शन करते रहे; जीवन में सतत् आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करते रहे। राजस्थान विश्वविद्यालय के कुलपति के रूप में प्रदत्त उनका प्रमाण-पत्र आज भी मानो मुझे पूर्ववत् आशीर्वाद दे रहा है। अनेक भाषाओं के शास्त्रों और वाङ्मय में उनकी गहरी पैठ, एक सुधि अन्वेषक की कुशाग्र सारग्राहिणी दृष्टि, सतेज अभिजात्य सबने मिलकर कीर्तिशेष डॉ. शर्मा को एक असाधारण महिमाशाली पुरुष बना दिया था। आज महाप्राण महापुरुषों का युग कूच कर गया। वो पीढ़ी कभी की चुक गई। अब मेरुदण्डविहीन बौनों और क्षुद्र मौकापरस्तों के बीच जीने के लिए हम अभिशप्त हैं। ऐसे में हमारी यही हार्दिक कामना है— वे प्रणम्य इतिहास पुरुष डॉ. मथुरा लाल शर्मा युगजीवन को अपनी प्रखर प्राणदीप्ति से सदैव ऊष्मित, ऊर्जस्वित रखेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

❑

वर्तमान भारत का निर्माण

'वर्तमान भारत अनेक अंशों में महात्मा गाँधी का बनाया हुआ है। राजनीतिक स्वतंत्रता का श्रेय सर्वाधिक उन्हीं को है। देशाभिमान की जागृति उन्हीं के प्रयास से हुई है। रहन-सहन की सादगी को उन्होंने जन्म दिया है। यूरोप की चकाचौंध गाँधीजी ने मिटाई है। निर्भीकता और आत्माभिमान गाँधीजी के मन्त्र हैं। राजनीतिक आन्दोलन के दौरान में भारतीय स्त्रियों को समानता और स्वतंत्रता प्राप्त हुई। पर्दा तोड़ कर उन्होंने पुरुषों के साथ काम किया और हजारों महिलायें जेल में गईं। इन्हीं दिनों जातिपाँति की भावना कम हुई और शिक्षित लोगों में स्पर्शास्पर्श प्रायः जाता रहा। गाँधीजी ने गौरक्षा के लिए देशव्यापी आन्दोलन किया। अछूतोद्धार के लिए उन्होंने प्रशंसनीय प्रयत्न किया। उनके प्रयास से इनका आर्थिक और बौद्धिक स्तर ऊँचा हुआ और इनको राजनीतिक क्षेत्र में अनेक सुविधायें प्राप्त हुईं। गाँधीजी भगवत् भक्ति का भी शिक्षित समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा। उनकी रामधुन भारतवर्ष की नई गायत्री बन गई और जिन लोगों ने उनकी प्रार्थना को सुनने के लिए उपस्थित हजारों और लाखों की प्रशान्त भीड़ देखी है उनकी आँखों के सामने से वे दृश्य अब भी ओझल नहीं होते। मोहनदास करमचंद गाँधी को स्वामी श्रद्धानन्दजी महाराज ने महात्मा कहना शुरु किया था जो सारे विश्व ने स्वीकार किया। गाँधीजी परम धार्मिक महात्मा थे और वास्तव में भारत के राष्ट्रपिता थे।'

डॉ. मथुरालाल शर्मा कृत
'भारत और विश्व इतिहास की रूपरेखा से'

मैं करता हूँ उनको प्रणाम

- डॉ. मनोहर प्रभाकर

पुण्य श्लोक डॉ. मथुरालाल शर्मा का स्मरण करना अपनी स्मृतियों के दर्पण में एक विराट व्यक्तित्व के बिम्बों को प्रतिबिम्बित करना है। कितना अगाध पांडित्य? कैसी तेजस्विता, कितनी विलक्षण वाग्विदग्धता और कैसा स्वाभिमान! मन पर यादों के साये मण्डराते हैं, तो मस्तक सहसा श्रद्धा से नमित हो जाता है।

लगभग आधी सदी होने को आई। 1950 में मैं महाराजा कॉलेज में इन्टरमीजिएट का विद्यार्थी था। गाँव से चलकर न जाने कितने सपने आँखों में संजोये मैंने। इस महाविद्यालय-परिसर में प्रवेश किया था, तब डॉ. मथुरालाल शर्मा प्राचार्य पद पर समासीन थे। उनके कड़े अनुशासन, रौब-दाँब और विद्वता के चर्चे कॉलेज के प्रांगण और उसकी वीथियों में अक्सर होते ही रहते थे। मेरे गाँव के निकट गीजगढ़ के बन्धुवर छाजूसिंह तब कॉलेज में काउन्टर पर प्रवेश सम्बन्धी औपचारिकताओं का कार्य देखते थे। बाद में संयोग से आगे चलकर वे भी मेरे जनसम्पर्क सेवा में प्रवेश के अनन्तर मेरे सहयोगी हो गये।

एक दिलचस्प प्रसंग मेरे मानस में आज भी मण्डराता है। प्राचार्य के आदेशानुसार प्रत्येक छात्र को पी.टी. के लिए उपस्थित होना अनिवार्य कर दिया गया था। आज तो महाविद्यालय परिसर में छात्रों के स्कूटरों और कारों को पार्क करने तक का पर्याप्त स्थान नहीं है, उन दिनों तो साईकिल भी कुछ भाग्यवान विद्यार्थियों के पास ही होती थी। मेरे पास तो साईकिल भी नहीं थी और फिर खेलकूद व्यायाम आदि में भाग लेने में कदाचित् मुझे अपनी दुर्बल देह के कारण लज्जा या संकोच का भाव भी रहता था। इसलिए पी.टी. की उपस्थिति से छुटकारा पाने का यत्न कैसे किया जाये, यही समस्या थी। छाजूसिंह जी तब छात्रों के बड़े विश्वस्त मार्गदर्शक थे। मैंने उनको अपनी कठिनाई बताई तो उन्होंने मुझे एक उचित बात बताई और वह कारगर सिद्ध हुई। प्राचार्य के नाम मैंने एक आवेदन पत्र लिखा, जिसमें कहा गया कि मैं ग्रामीण क्षेत्र का एक गरीब छात्र हूँ, अकेला रहता हूँ और मुझे अपना भोजन भी स्वयं ही बनाना पड़ता है। आने-जाने के लिए साईकिल भी नहीं है, इसलिए मुझे पी.टी. से छूट दे दी जाये। आवेदन लेकर काँपता, सहमता मैंने प्राचार्य के कक्ष में प्रवेश किया। डॉ. साहब ने आद्योपान्त मेरे आवेदन को पढ़ा और एक मन्द स्मित के साथ मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली गई। अब सोचता हूँ कदाचित् उनके प्रारम्भिक जीवन के अपने विकट संघर्ष ने उन्हें साधनहीन छात्रों के प्रति बहुत संवेदनशील बना दिया था।

उसी वर्ष की बात है। श्रीमती अरूणाआसफ़ अली जयपुर पधारीं थीं। महाराजा कॉलेज में उनका व्याख्यान आयोजित किया गया था। उस समय प्राचार्य की हैसियत से डॉ. मथुरालालजी ने राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत जो ओजस्वी भाषण दिया, उस पर हुई करतल ध्वनियाँ मुझे आज भी विस्मृत नहीं हुई हैं। समय का प्रवाह अपनी गति से चलता रहा। कुछ वर्षों बाद एक छोटा सा काल खण्ड ऐसा भी आया, जब पण्डित मथुरालाल शर्मा, राजस्थान विश्वविद्यालय के कुलपति हो गये। उन दिनों यद्यपि आज की तरह सम्मेलनों, संगोष्ठियों और पुस्तक-लोकार्पण समारोहों का सैलाब तो नहीं उमड़ पड़ता था, पर समय-समय पर साहित्यिक गोष्ठियाँ होती

रहती थीं। इन गोष्ठियों में डॉ. सांहब अक्सर आते थे। ये चाँदपोल बाज़ार स्थित ललित कला संस्थान में आयोजित की जाती थीं। संस्थान के प्राचार्य रामगोपाल विजयवर्गीयजी के निकट सम्पर्क में मैं तब तक आ चुका था। विजयवर्गीयजी और मैं जब उन्हें उनके रामसिंह रोड स्थित सरकारी आवास पर आमंत्रित करने जाते, तो डॉ. साहब बड़े स्नेह और सम्मान से बैठाते। अपनी स्वीकृति देते। गोष्ठी के समय मैं स्वयं उन्हें ले के आता। याद पड़ता है, उनके पास तब शायद स्लेटी रंग की एक बेबी ऑस्टिन गाड़ी होती थी। मैं भी उसी में बैठकर उनके साथ आता था। याद आता है कि एक कवि-गोष्ठी में आज के ख्यातनामा गीतकार बन्धुवर ताराप्रकाश जोशी भी काले रंग का बुश्शर्ट पहने शामिल हुए थे। तब वे कदाचित् ''राष्ट्रदूत'' दैनिक में काम करने लगे थे।

उसके बाद एक दो बार किशनपोल बाज़ार स्थित आर्यसमाज मन्दिर में भी डॉ. साहब की वक्तृत्वकला से अभिभूत होने का अवसर मिला। यह भी एक संयोग ही था कि आज से कोई पच्चीस वर्ष पूर्व जब मैं राजस्थान नहर मण्डल में जनसम्पर्क का सहायक निदेशक था, तो उनके आत्मज श्री अश्विनीमोहन शर्मा के साथ भी मेरे बड़े आत्मीयतापूर्ण सम्बन्ध हो गये थे, जो आज भी कायम हैं। अश्विनीमोहनजी जो अतिरिक्त मुख्यअभियंता के रूप में सेवा-निवृत्त हुए हैं, तब सूरतगढ़ में अधीक्षण अभियंता थे। वे सबसे कम उम्र के अधीक्षण अभियंता थे।

इस दौर में जब मैं एक बार हरीके बैराज की यात्रा पर गया था तो पंजाब के एक वरिष्ठ अधिकारी ने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया कि अपनी योग्यता के बल पर अश्विनीमोहन शर्मा और ए.सी. भार्गव कितनी कम उम्र में अधीक्षण अभियंता बन गये!

यह भी एक विचित्र संयोग ही था कि डॉ. मथुरालालजी के भतीजे परम साहित्यानुरागी आदरणीय परमानन्द शर्मा जनसम्पर्क विभाग के निदेशक भी रहे। यद्यपि में उन दिनों विभाग से बाहर था, तथापि उनसे यदा-कदा सम्पर्क होता रहता था। उन दिनों का उनका यह वत्सल भाव मेरे प्रति आज भी पूर्ववत् बना हुआ है। पिछले दिनों जब कुछ साहित्यिक मित्रों ने अपने स्नेह की सामूहिक अभिव्यक्ति करने के लिए मेरे लिए एक अभिनन्दन समारोह का आयोजन किया था तो 82 वर्ष की इस आयु में शारीरिक रुग्णता के बावजूद उन्होंने उसमें सम्मिलित होकर मेरे प्रति अपने ममत्व को प्रकट किया।

यह भी एक सुखद संयोग ही है कि डॉ.शर्मा साहब के ही परिजनों में उनके प्रिय श्री रामस्वरूप जोशी भी जनसम्पर्क निदेशालय में मेरे सहयोगी रहे और आज भी वे मेरे साथ पब्लिक रिलेशन्स सोसायटी ऑफ़ इण्डिया के राजस्थान स्कन्ध के सचिव के रूप में जुड़े हैं।

कालचक्र की गति बड़ी विचित्र होती है। बहुत कम लोगों को ज्ञात है कि भारत सरकार ने सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय के अन्तर्गत संचालित प्रकाशन विभाग ने डॉ. मथुरालालजी से राजस्थान पर एक पुस्तक लिखवाकर उसे प्रकाशित की। हमारे राज्य के बारे में प्रकाशित यह परिचय ग्रन्थ वर्षों तक अपना उद्देश्य पूरा करता रहा। अब इसी श्रृंखला में राजस्थान पर फिर एक पुस्तक प्रकाशित किये जाने का प्रस्ताव है। जिसे समस्त भारतीय भाषाओं में अनूदित भी किया जायेगा। इस पुस्तक के लेखन का दायित्व संयोग से केन्द्र सरकार के प्रकाशन विभाग ने मुझे सौंपा है। क्या यह डॉ. साहब के आशीर्वचनों का सुफल ही तो नहीं है। मैं डॉ. मथुरालालजी शर्मा का पुण्य स्मरण करते हुए उन्हें प्रणाम करता हूँ।

सी-118/ए, मंगल मार्ग
बापू नगर, जयपुर-302 015

कृतित्व का परिवेश

अनुक्रम

- ☐ महाराणा प्रताप से पूर्व मेवाड़ 81
- ☐ 1857 का स्वतन्त्रता संग्राम 94
- ☐ हल्दी घाटी का युद्ध 100
- ☐ अकबर की बैर परम्परा 106
- ☐ अवध की बेग़मात् 113
- ☐ राजस्थान का सांस्कृतिक परिदृश्य 127
- ☐ इतिहास की निर्णायक दृष्टि 135
- ☐ कालजयी कृति 'पेशवाओं का इतिहास': डॉ. हरि महर्षि 141
- ☐ तुजुक - ए - बाबरी 146
- ☐ हाड़ौती का प्राचीन इतिहास 148
- ☐ हाड़ौती का ऐतिहासिक महत्व 154
- ☐ प्रणाम हज़ार हज़ार: रामनाथ कमलाकर 161
- ☐ शत् शत् प्रणाम : शिवदत्त शर्मा 162
- ☐ पुनश्च: वैज्ञानिक इतिहास संचेतना के संरक्षक : श्रीकृष्ण शर्मा 163
- ☐ Ram Singh II of Jaipur 166
- ☐ Sawai Jai Singh's Early Career 173
- ☐ History of the Jaipur State 177
- ☐ Shivaji as Politician & Diplomat 183
- ☐ Vinayak Damodar Savarkar 194
- ☐ School of Painiting in Rajasthan 200
- ☐ Recollections of Dr. M. L. Sharma : Dr. C. M. Mathur 207
- ☐ A Moving Institution : Dr. Malti Saxena 210
- ☐ My Teacher : Dr. V. S. Bhatnagar 214
- ☐ Shining Star among the Galaxy of Historians : Dr. Beni Gupta 217
- ☐ Principal M.L. Sharma : As I Knew Him : Triloki Das Khandelwal 222
- ☐ Dr. M.L. Sharma As An Author 225
- ☐ Degrees and Awards 228

भारत गणराज्य के राष्ट्रपति महामहिम डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् का गुलाबी नगर की जनता की ओर से हार्दिक अभिनन्दन करते हुए डॉ. मथुरालाल शर्मा ।

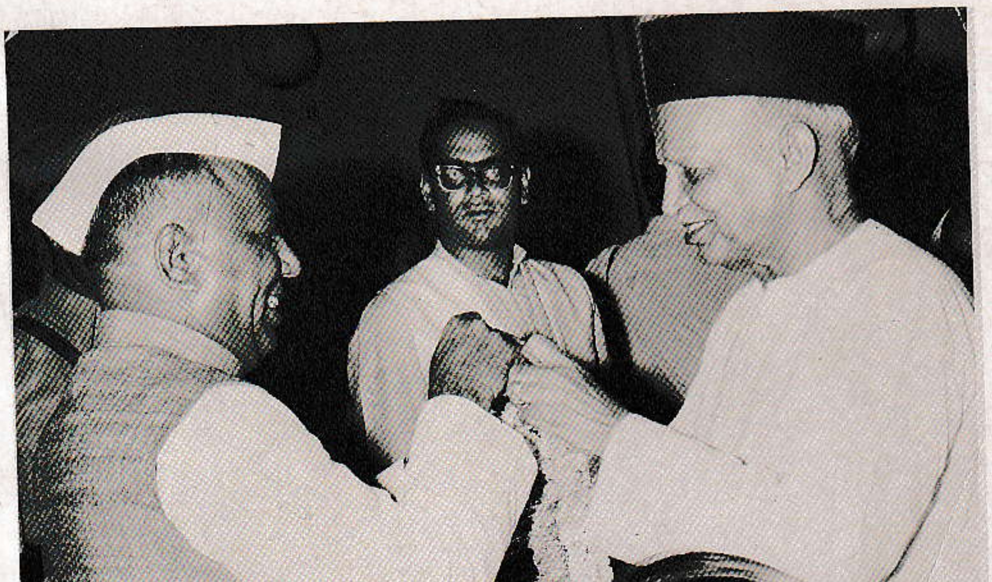

भारंत सरकार के रक्षामंत्री श्री वाई. वी. चह्वाण का जयपुर नगर परिषद् की ओर से नागरिक अभिनन्दन करते हुए डॉ. मथुरालाल शर्मा ।

भारत के प्रधानमंत्री माननीय श्री लाल बहादुर शास्त्री का अभिनन्दन करते डॉ. मथुरालाल शर्मा ।

राजस्थान इतिहास कांग्रेस के कोटा में सन् 1976 में आयोजित नवें अधिवेशन का उद्घाटन करते हुए डॉ. मथुरालाल शर्मा, स्वागत समिति के अध्यक्ष महाराज कुमार श्री बृजराज सिंह (बायें से तृतीय बैठे)

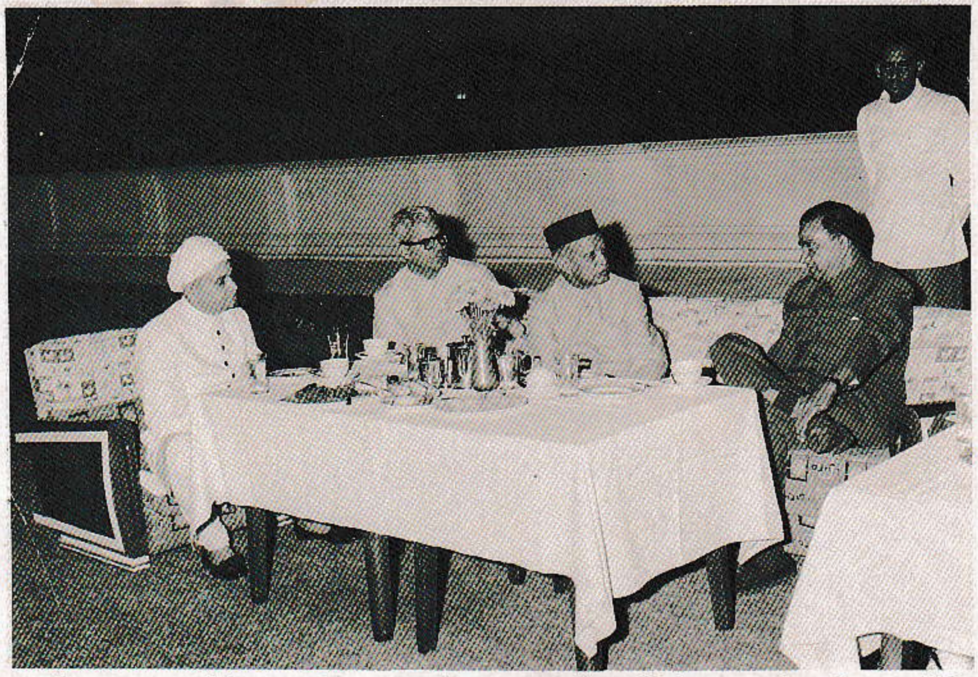

डॉ. मथुरालाल शर्मा के जयपुर निगम परिषद् के अध्यक्ष निर्वाचित होने के उपलक्ष में आयोजित पार्टी में महाराजा सवाई मानसिंह, सेठ श्री सुराणा एवं केन्द्रीय मंत्री श्री रामनिवास मिर्धा ।

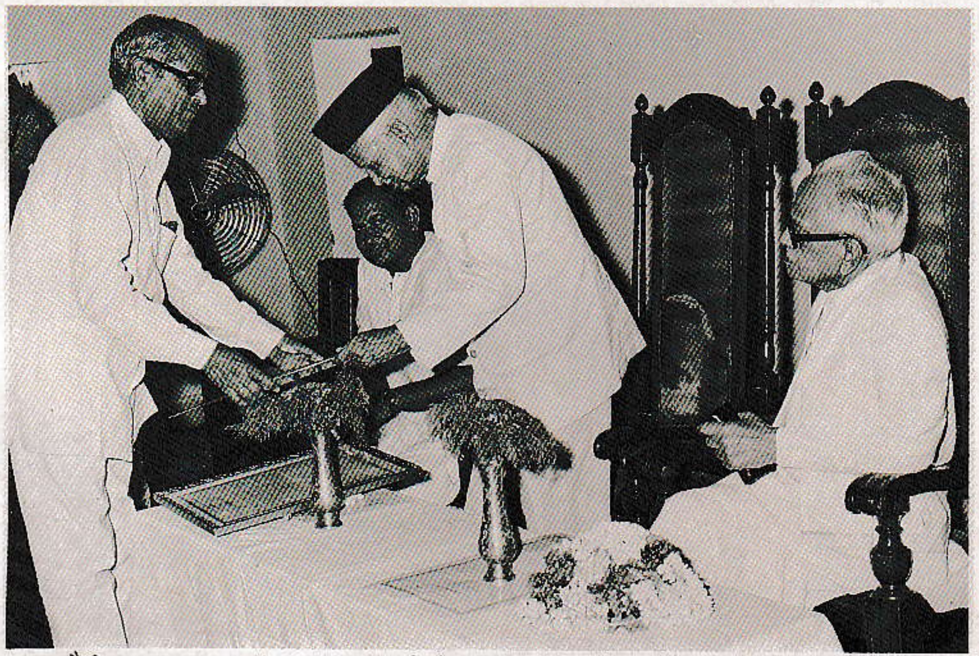

हाड़ौती समाज जयपुर डॉ. मथुरालाल शर्मा को अभिनन्दन पत्र भेंट करते हुए पूर्व मंत्री श्री जुझार सिंह, मंच पर विराजमान महामहिम रघुकुल तिलक व श्री ललित किशोर चतुर्वेदी ।

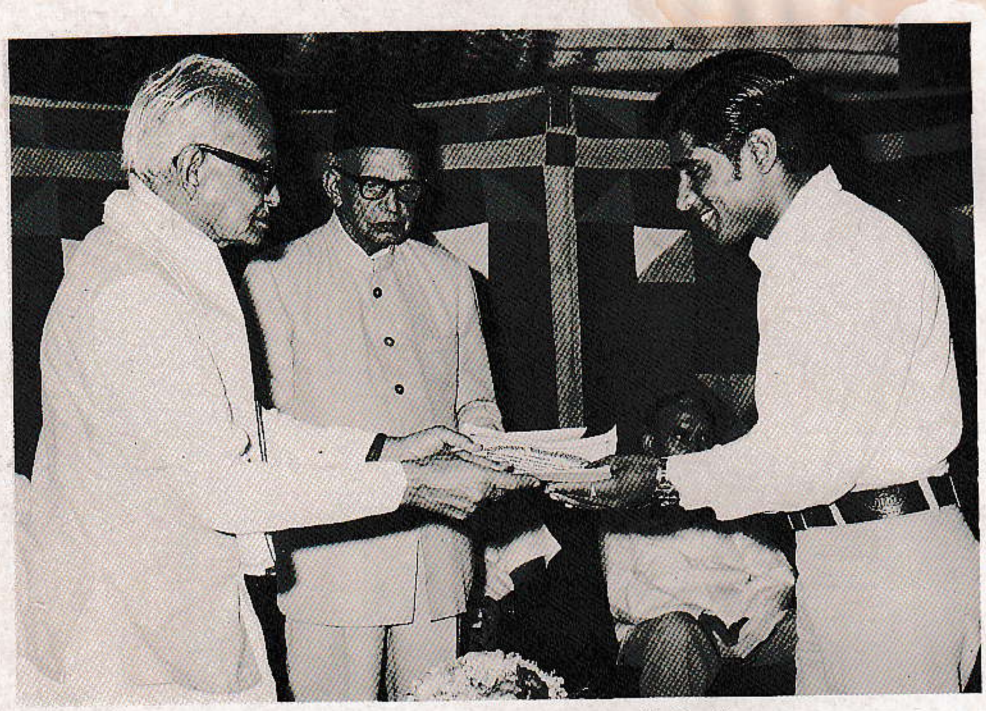

डॉ. मथुरालाल शर्मा के निवास एल-6, कृष्णा मार्ग, सी-स्कीम पर
राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा अपवाद स्वरूप विशेष रूप से उनके निवास पर आयोजित
दीक्षान्त समारोह में महामहिम राज्यपाल रघुकूल तिलक द्वारा पी. एच. डी. का उपाधि वितरण

परमानन्द हाल के उद्घाटन के समय का चित्र ।
डॉ. मथुरालाल शर्मा के साथ खड़े हैं - राज्यपाल महामहिम श्री रघुकूल तिलक, श्री परमानन्द शर्मा
एवं आई. जी. पुलिस राजस्थान - श्री हनुमान शर्मा

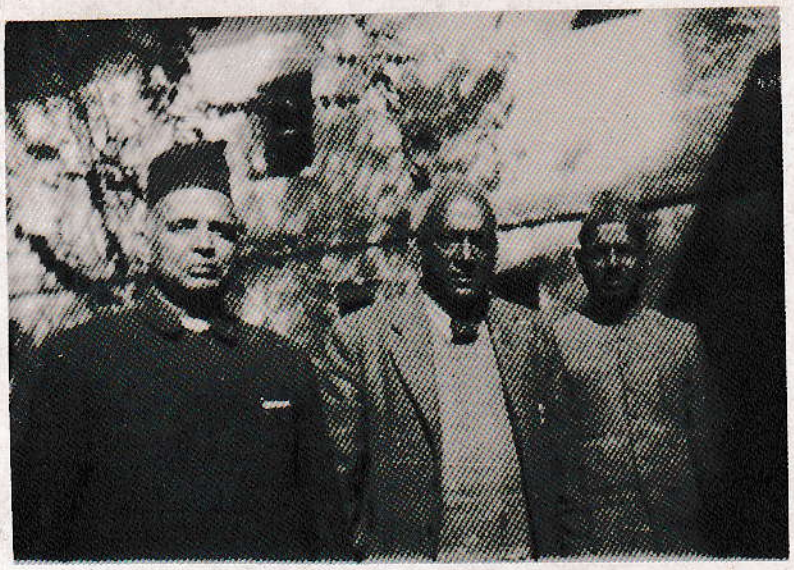

डॉ. मथुरालाल शर्मा, पुरातत्व विशेषज्ञ डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल तथा डॉ. घोष के साथ ।

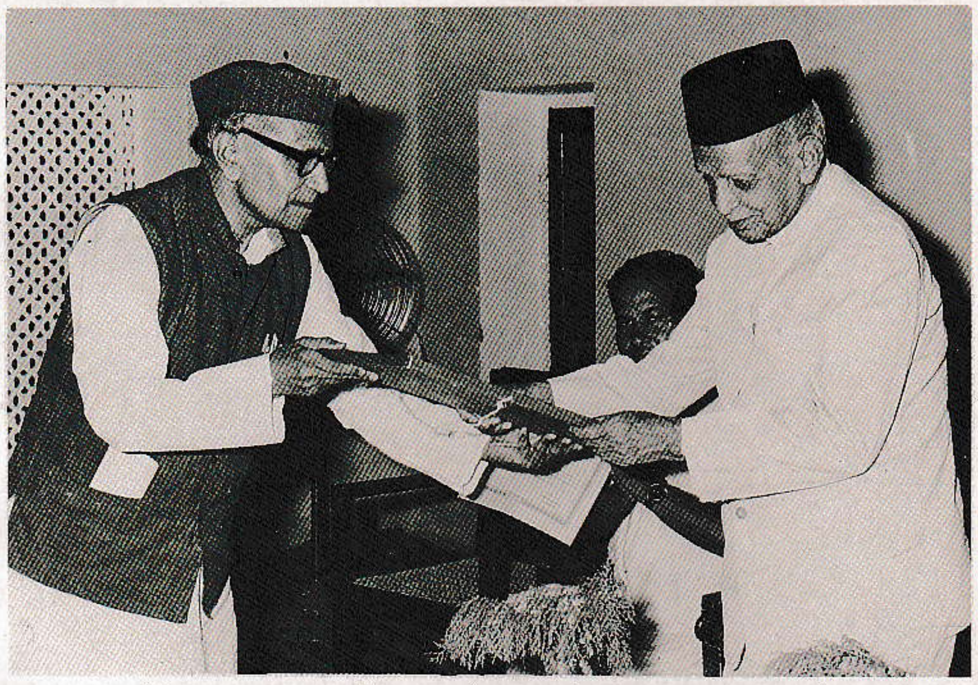

हाडौती समाज द्वारा समाज के उत्थान और उन्नयन के लिए डॉ. मथुरालाल शर्मा
को अभिनन्दन-पत्र भेंट करते हुए अध्यक्ष श्री विष्णु दत्त शर्मा।

हिन्दी साहित्य समाज की कार्यकारिणी के साथ कुर्सियों पर
बीच में बैठे डॉ. मथुरालाल शर्मा

डॉ. शर्मा की दसवीं पुण्य तिथि पर आयोजित स्मृति समारोह में
राजस्थान के राज्यपाल महामहिम डॉ. डी. पी. चट्टोपाध्याय अध्यक्षता करते हुए,
बायें हाड़ौती समाज के अध्यक्ष श्री लक्ष्मी चन्द गुप्ता तथा दांये न्याममूर्ति श्री विनोद शंकर दवे ।

इण्डियन हिस्टोरिकल रेकर्ड कमीशन के सन् 1955 में आयोजन के अवसर पर लिया गया चित्र ।
प्रथम पंक्ति के मध्य में आसीन मैसूर महाराजा, पीछे द्वितीय पंक्ति में दांये से तीसरे डॉ. मथुरालाल शर्मा ।

इण्डियन हिस्टोरिकल रेकर्ड कमीशन के सन् 1955 में आयोजन के अवसर पर लिया गया चित्र ।
प्रथम पंक्ति के मध्य में आसीन मैसूर महाराजा, पीछे द्वितीय पंक्ति में दांये से तीसरे डॉ. मथुरालाल शर्मा ।

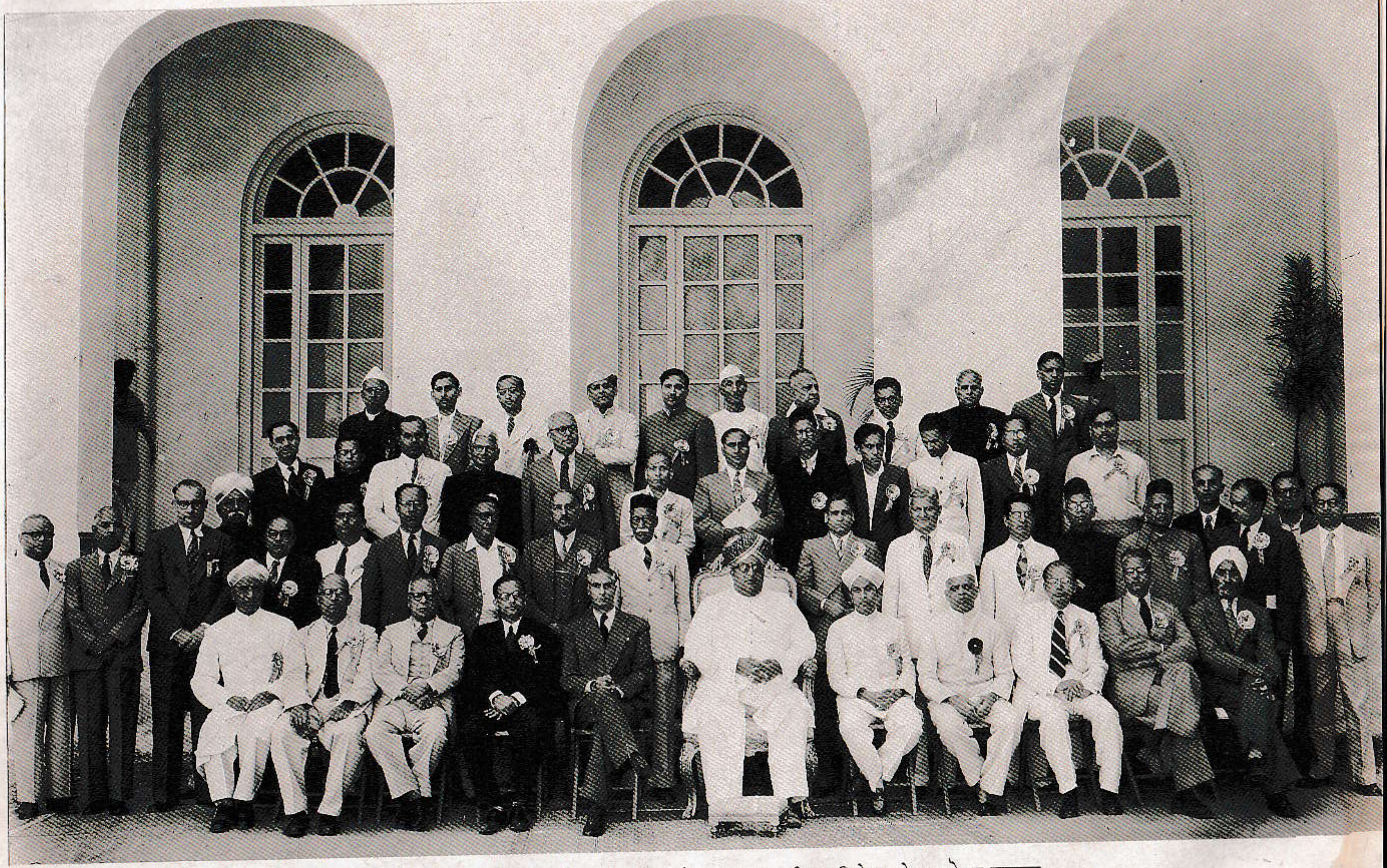

राजस्थान संस्कृत साहित्य सम्मेलन के जोधपुर में सम्पन्न हुए तृतीय अधिवेशन के आयोजन उपरान्त
कुर्सियों पर बीच में बैठे डॉ. मधुरालाल शर्मा ।

महाराणा प्रताप से पूर्व मेवाड़

महाराणा साँगा की गणना मेवाड़ के प्रसिद्ध महाराणाओं में की जाती है। यह रायमल का तृतीय पुत्र था। इसके प्रथम दो बड़े भाइयों का देहान्त हो गया था और यह अपने पिता के कोप से बचने के लिये भागकर अज्ञातवास करने लगा था। कर्मचन्द के पास उसने कुछ समय व्यतीत किया। तद्नन्तर महाराणा रायमल ने उसको अपने पास बुला लिया।

महाराणा रायमल ने कर्मचन्द परमार को जागीर प्रदान की थी, परन्तु गद्दी पर बैठने के बाद संग्रामसिंह ने समझा कि वह जागीर कर्मचन्द परमार की सेवा के पुरस्कार के अनुरूप नहीं है। इसलिये उसने राज्याभिषेक के दूसरे ही वर्ष में उसको पन्द्रह लाख वार्षिक आय की जागीर दी जिसमें अजमेर, बनेड़ा, मांडलगढ़, फूलिया और पर्वतसर के परगने सम्मिलित थे। संग्रामसिंह का राज्य काल गुजरात के सुलतान, दिल्ली के सुलतान तथा मालवा के सुलतानों के साथ संघर्ष करने में व्यतीत हुआ और अन्त में उसने बाबर के साथ युद्ध किया।

गद्दी पर बैठने के दो तीन वर्ष बाद ही महाराणा संग्रामसिंह को ईडर के उत्तराधिकार के विषय में गुजरात के सुलतान से लड़ाई लड़नी पड़ी जो कई साल तक चलती रही।

ईडर के राव भाण के दो पुत्र थे- सूर्यमल और भीम। भाण का देहान्त होने पर सूर्यमल गद्दी पर बैठा, परन्तु वह डेढ़ वर्ष बाद ही मर गया। तब सूर्यमल का पुत्र रायमल राजा बना। उस समय वह बारह तेरह वर्ष का लड़का था, अत: उसके चाचा भीम ने उसे गद्दी से उतार दिया और स्वयं राजा बन गया। तब रायमल भागकर महाराणा साँगा के पास चला गया। महाराणा साँगा ने उसके साथ अपनी पुत्री की सगाई कर दी और उसको ईडर की गद्दी पर बिठाने के लिये अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा करने लगा। जब भीम का पुत्र भारमल गद्दी पर बैठा तो महाराणा ने समझा, यह रायमल के लिए अनुकूल अवसर है। अब रायमल भी युवा हो गया था और अपना राज्य सम्भालने के योग्य था। महाराणा ने उसको सैनिक सहायता दी, जिसके द्वारा उसने अपने पैतृक राज्य पर अधिकार स्थापित कर लिया।

उस समय ईडर गुजरात के सुलतान के अधीन था और तत्कालीन सुलतान मुजफ्फरशाह की अनुमति से भारमल ईडर की गद्दी पर बैठा था। महाराणा साँगा ने रायमल को दो कारणों से सहायता दी थी। प्रथम तो रायमल उसकी शरण में आया था और दूसरा कारण यह था कि साँगा ने अपनी पुत्री का उससे सम्बन्ध कर दिया था। सुलतान मुजफ्फरशाह की यह दलील थी कि भारमल को गद्दी से उतार कर रायमल को ईडर की गद्दी पर बिठाने का महाराणा को अधिकार नहीं है। मुजफ्फरशाह ने महाराणा के विरुद्ध तो सेना संचालन नहीं किया, परन्तु अपने एक जागीरदार को, जिसको निज़ाम-उल-मुल्क की उपाधि थी, आदेश दिया, कि रायमल को पदच्युत करके भारमल को पुन: राजसिंहासन पर बिठा दिया जाये। निज़ाम-उल-मुल्क ने सेना के साथ ईडर पर चढ़ाई की और रायमल को गद्दी से उतार कर भारमल को गद्दी पर बैठा दिया। रायमल डर कर ईडर से भाग गया और विजय नगर की पहाड़ियों में जा छिपा।

निज़ाम-उल-मुल्क ने वहाँ भी सेना सहित उसका पीछा किया। परन्तु अब रायमल ने कुछ सेना बटोरकर अपनी शक्ति दृढ़ कर ली थी और पहाड़ियों में रहने से वह अपनी आत्मरक्षा भी आसानी से कर सकता था। जब निज़ाम-उल-मुल्क ने इन पहाड़ियों में प्रवेश किया तो उसकी सेना घबरा गई और रायमल की सेना ने उस पर हमला कर दिया और निज़ाम-उल-मुल्क बुरी तरह हार गया। फिर भी ईडर के राज्य पर रायमल का अधिकार नहीं हुआ और वह पहाड़ियों में छिपा रहा। निज़ाम-उल-मुल्क ने वापस आकर जहीर-उल-मुल्क को ईडर का हाकिम नियत किया और फिर वापस अपनी जागीर को लौट गया। इस स्थिति को अपने अनुकूल समझ कर रायमल पहाड़ियों से निकल कर ईडर राज्य में पहुँचा और आक्रमण करके उसने ज़हीर-उल-मुल्क को मार डाला। तब गुजरात के सुलतान ने नसरत-उल-मुल्क को ईडर का हाकिम बनाकर उधर की ओर रवाना किया परन्तु वह रायमल को नहीं हरा सका। तब सुलतान ने मालिक हुसैन बहमनी, जिसको निज़ाम-उल-मुल्क और मुबारिक मुल्क की पदवियाँ थीं, हाकिम बना कर ईडर भेजा। अब रायमल राज्य भ्रष्ट होकर पुन: महाराणा के पास चला गया। एक दिन मुबारिक मुल्क ने दम्भ में आकर एक भाट से कहा कि देखें अब महाराणा ईडर पर चढ़ाई करता है या नहीं? यदि उसने रायमल की सहायता करने के लिए चढ़ाई नहीं की तो मैं समझूँगा कि वह कुत्ता है। मुसलमान शासक इस प्रकार की भाषा का प्रयोग करने के आदी थे और यह आदत कई सदियों से चली आ रही थी तथा चलती रही। औरंगज़ेब जब शिवाजी का ज़िक्र करता था तो उनको कुत्ता और पहाड़ी चूहा कहा करता था। जब महाराणा ने मुबारिक मुल्क की यह बात सुनी तो उसने गुजरात पर चढ़ाई करने का निश्चय किया और बागड़ के रास्ते से गुजरात पर कूच किया। बागड़ का राजा उदयसिंह भी महाराणा के साथ हो गया। सुलतान महाराणा के विरुद्ध सेना कूच करना चाहता था, परन्तु उसके मंत्री उसको इसके विरुद्ध सलाह देते रहे। मुबारिक मुल्क या निज़ाम-उल-मुल्क ने सुलतान को सूचना भेजी कि महाराणा के साथ तीस हज़ार सवार हैं और ईडर में उसके पास केवल पाँच हज़ार, अत: वह ईडर राज्य की रक्षा नहीं कर सकता। फिर भी मंत्रियों की सलाह से सुलतान मुजफ्फरशाह ने ईडर की सहायता के लिये कोई सेना नहीं भेजी। इसका कारण यह था कि सुलतान गुजरात के मंत्री निज़ाम-उल-मुल्क के विरुद्ध थे। वे उसकी बढ़ती हुई शक्ति के कारण उसके साथ द्वेष रखते थे तथा चाहते थे कि वह महाराणा के हाथों कुचला जाए। जब सुलतान ने कोई सेना नहीं भेजी तो मुबारिक मुल्क ईडर से भाग कर अहमद नगर के किले में जा छिपा और सुलतान की सहायता की प्रतीक्षा करने लगा। इधर महाराणा ने रायमल को ईडर की गद्दी पर बिठा दिया। परन्तु वह वापस चित्तौड़ नहीं गया। वह जानता था कि उसके वापस जाते ही रायमल पर आक्रमण किया जाएगा और उसको फिर गद्दी से उतार दिया जायेगा, अत: उसने अहमदनगर की ओर कूच किया और वहाँ पहुँच कर नगर के घेरा डाल दिया।

मुसलमानों ने महाराणा का बड़ी दृढ़ता के साथ सामना किया। इसमें महाराणा के एक प्रसिद्ध सरदार ने, जिसका नाम डूँगरसिंह था, अपने कई भाइयों और पुत्रों के सहित युद्ध किया। दुर्ग-द्वार को तुड़वाने में उसने अपने प्राणों की आहूति दे दी और मेवाड़ के वीरों को दुर्ग में घुसा दिया। निज़ाम-उल-मुल्क दुर्ग के पिछले दरवाज़े से चुपके से भाग गया और नदी के दूसरे तट पर जाकर सेना एकत्रित करके फिर राणा से युद्ध करने के लिये तैयार हुआ। महाराणा ने उससे युद्ध किया। मुसलमानों की सेना

में अव्यवस्था मच गई और सैनिक भागने लगे। स्वयं मुबारिक-उल-मुल्क भी आहत होकर रणभूमि से हट गया। महाराणा ने उसका सेना शिविर लूट लिया। फिर आगे बढ़कर वीसल नगर के मुस्लिम हाकिम को मार कर नगर को लूटा। इस प्रकार महाराणा ने रायमल को ईडर का राज दिलाया और तदर्थ मुजफ्फरशाह को परास्त किया।

तैमूर के आक्रमण के बाद सैयदों के समय में जब दिल्ली की सल्तनत अस्त-व्यस्त होने लगी तो मेवाड़ के महाराणा ने इससे लाभ उठाया। सिकन्दर लोदी के समय में उसने कई इलाके, जो पहले दिल्ली के अधीन थे, अपने राज्य में मिला लिए। इस सुलतान ने दिल्ली सल्तनत को पुन: संगठित करने का प्रयास तो किया था, परन्तु उसको इतना साहस नहीं हुआ कि महाराणा से युद्ध करता। ई. 1517 में उसकी मृत्यु हो गई और उसके बाद उसका पुत्र इब्राहिम लोदी दिल्ली के राजसिंहासन पर बैठा। उसने दिल्ली के खोये इलाकों को पुन: प्राप्त करने के लिये महाराणा के विरुद्ध बहुत बड़ी सेना लेकर कूच किया और महाराणा भी उसका सामना करने के लिये मेवाड़ से रवाना हुआ। तत्कालीन बूँदी राज्य की सीमा पर खातोली नामक नगर के निकट दोनों सेनाओं में युद्ध हुआ। लगभग तीन घंटे तक घोर संग्राम हुआ, फिर इब्राहिम लोदी हार कर भाग गया और उसके पुत्र को महाराणा ने पकड़ कर कैद कर लिया, जिसको उसने कुछ समय बाद बन्दीगृह से मुक्त किया। इसी युद्ध में महाराणा का बायाँ हाथ तलवार से कट गया था और टाँग में तीर लगने से वह हमेशा के लिये लंगड़ा हो गया था, (वीर विनोद भाग 1, पृ. 354, हरविलास शारदा कृत महाराणा साँगा, पृ. 56)।

खातोली की पराजय का बदला लेने के लिये सुलतान इब्राहिम लोदी ने सन् 1518 में एक बड़ी सेना चित्तौड़गढ़ की ओर रवाना की। इस सेना के साथ जो महाराणा की लड़ाई हुई, उसका वर्णन फ़ारसी के दो इतिहासों-तारीख सलातीन-ए-अफ़गान और तुजुक-ए-बाबरी में दिया हुआ है। प्रथम पुस्तक में लिखा है कि सुलतान इब्राहिम की सेना में मियाँ हुसैन खाँ जरबख्श, मियाँ खान खांना फारमूली और मियाँ मारूफ मुख्य अफ़सर थे। सेना का नेतृत्व मियाँ लाखन खाँ के हाथ में था। युद्ध होने से पहले हुसैन खाँ जरबख्श, सुलतान और लाखन खाँ से नाराज़ होकर कई हज़ार सवारों के साथ महाराणा से जा मिला। इससे लाखन खाँ को बड़ी निराशा हुई। अगले दिन लड़ाई हुई, जिसमें हिन्दू बड़ी वीरता से लड़े और मुसलमानों को हरा दिया और मियाँ लाखन खाँ हट कर अपने डेरे में चला गया। दूसरे दिन हुसैन खाँ वापस मियाँ लाखन खाँ से जा मिला। इसके बाद जब महाराणा से युद्ध हुआ तो महाराणा घायल हो गया और उसके साथी उसको रणभूमि से उठा कर ले गये। यह वर्णन विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता, क्योंकि बाबर ने अपनी तुजुक-ए-बाबरी में लिखा है कि यह युद्ध धौलपुर के पास हुआ था और इसमें महाराणा की विजय हुई थी। इतना ही नहीं, राजपूतों ने मुसलमानों की भागती हुई सेना का पीछा किया और युद्ध के पश्चात् महाराणा ने मालवे का कुछ भाग दबा लिया।

महाराणा साँगा के समय में मालवे के राज्य की स्थिति कुछ डाँवाडोल थी। उस समय महमूद द्वितीय वहाँ का सुलतान था जो अत्यन्त निकम्मा और निर्बल था। उसके अमीर बड़े शक्तिशाली थे और उससे जो चाहते थे, करवा लिया करते थे। राज प्रबन्ध शून्य हो गया था। अमीरों के दल बने हुए थे और एक दल दूसरे को पछाड़ना चाहता था। महमूद किसी पर नियन्त्रण नहीं कर सकता था, अत: उसके अमीर उसके प्रान्तों का अन्त करना चाहते थे। ऐसी स्थिति के कारण महमूद मांडू से भाग गया और अमीरों ने उसके भाई साहब खाँ को

मालवे की गद्दी पर बिठा दिया। उस समय मालवे में मेदिनीराय बड़ा शक्तिशाली राजपूत सरदार था। महमूद ने उससे सहायता माँगी। तब मेदिनीराय ने मांडू पर चढ़ाई करके साहिब खाँ को गद्दी से उतार दिया और महमूद को फिर सुलतान बना दिया। इस सेवा के उपलक्ष्य में महमूद ने मेदिनीराय को अपना प्रधानमंत्री नियुक्त किया। इससे उसके मुसलमान सरदार बहुत चिढ़ गये। वे एक हिन्दू के बल और प्रभाव को सहन नहीं कर सकते थे अत: उन सबने मिल कर गुजरात के सुलतान से और दिल्ली के सुलतान से निवेदन किया कि मालवे की सल्तनत एक काफ़िर के हाथ में चली गई है, जिससे मुसलमान बहुत दु:खी है। इसलिये मेदिनीराय को मांडू से बाहर निकाल कर पुन: मुस्लिम सत्ता स्थापित करनी चाहिये। इस प्रार्थना के उत्तर में एक और दिल्ली से बारह हज़ार सेना आई और दूसरी ओर स्वयं मुजफ्फरशाह ने बहुत बड़ी सेना के साथ मालवे की ओर प्रयाण किया परन्तु इन दोनों संयुक्त सेनाओं को मेदिनीराय ने हरा दिया और महमूद की स्थिति दृढ़ कर दी। तब मुसलमानों ने शनै: शनै: सुलतान महमूद को मेदिनीराय का विरोधी बना दिया और वह इस राजपूत सरदार के उपकार को इतना भूल गया कि उसको मरवाने के लिये प्रपंच करने लगा। एक दिन मेदिनीराय मारा जाता परन्तु भाग्यवश वह केवल आहत होकर बच गया।

इसके बाद सुलतान महमूद और मेदिनीराय में परस्पर कलह रहने लगी, अत: महमूद भाग कर मुजफ्फरशाह की शरण में चला गया। उसकी सहायता करने के लिये मुजफ्फरशाह ने एक अच्छी सेना के साथ मांडू की ओर कूच किया। सुलतान के आगमन की सूचना मिलते ही मेदिनीराय महाराणा साँगा के पास पहुँचा और उससे सहायता की याचना की। महाराणा बड़ी उदारतापूर्वक उसकी सहायता करने के लिये तैयार हो गया और उसके साथ मांडू की ओर प्रस्थान किया परन्तु रास्ते में ही खबर मिली कि मुज़फ्फरशाह ने मांडू पहुँच कर सुलतान महमूद को पुन: गद्दी पर बिठा दिया है और उसकी रक्षा का पूरा प्रबन्ध करके वह वापस गुजरात चला गया है। तब महाराणा वापस चित्तौड़गढ़ को लौट गया। अब मेदिनीराय को मालवे में कोई स्थान नहीं था, अत: महाराणा ने उसे स्वयं अपना सरदार बना लिया और गागरोन तथा चन्देरी के इलाके उसे जागीर में दे दिये। पहले चन्देरी मालवे के सुलतानों के अधीन था। अब सिकन्दर लोदी ने साहिब खाँ की सहायतार्थ बारह हज़ार सेना भेजी तो इसके खर्च के लिये उसने चन्देरी को दिल्ली की सल्तनत में मिला लिया था। इसके बाद खतौली के पास जब सुलतान इब्राहिम लोदी को महाराणा साँगा ने परास्त किया तो चन्देरी मेवाड़ के राज्य में मिला लिया गया था। अब यह इलाका मेदिनीराय को जागीर में दे दिया गया।

सुलतान मुजफ्फरशाह गुजरात की सहायता से मांडू की गद्दी पर बैठने के बाद सुलतान महमूद समझने लगा कि उसकी स्थिति अब दृढ़ हो गई है। उसकी रक्षा के लिये मांडू में गुजरात की बहुत बड़ी सेना रहती थी, जिसका अफ़सर आसफ़ खाँ था, अत:सुलतान महमूद ने गुजराती सेना के भरोसे मेदिनीराय पर चढ़ाई की और गागरोन की ओर कूच किया। उस समय मेदिनीराय गागरोन में नहीं था। वहाँ उसका प्रतिनिधि भीमकरण रहता था। एक लेखक ने इसका नाम हेमकरण भी लिखा है, मिरात-ए-सिकन्दीर और मुंशी देवीप्रसाद कृत महाराणा संग्रामसिंह जी का जीवन चरित्र। इस प्रयाण की सूचना मिलते ही महाराणा साँगा ने पचास हज़ार सेना अपने साथ लेकर महमूद से लड़ाई लड़ने के लिये कूच किया। दोनों सेनायें गागरोन के पास आ पहुँची। महाराणा की विशाल सेना देखकर आसिफ़खाँ ने चाहा कि युद्ध नहीं

किया जाये और वापस मांडू की ओर हट जाना चाहिये। परन्तु महमूद युद्ध करने पर तुला हुआ था अत: गागरोन के पास युद्ध हुआ जिसमें मालवे के तीस हज़ार सैनिक और गुजरात के भी हज़ारों सैनिक मारे गये। यहाँ तक कि आसिफ़ख़ाँ का पुत्र भी इसमें काम आया और स्वयं भी आहत हो गया। सुलतान महमूद स्वयं जख्मी होकर घोड़े से गिर पड़ा। महाराणा के लोग उसको उठा कर अपने शिविर में ले आये। महाराणा से उसकी चिकित्सा करवाई और फिर चित्तौड़गढ़ ले जा कर बन्दी बना लिया, (बेलीज-हिस्ट्री ऑफ़ गुजरात पृ. 264 और ब्रिग्ज़-फरिश्ता जिल्द 4, पृ. 264)। सुलतान महमूद तीन मास तक चित्तौड़गढ़ में बन्दी रहा। फिर फौज़ खर्च लेकर महाराणा साँगा ने सुलतान को एक हज़ार राजपूतों के साथ मांडू भेज दिया। सुलतान ने मांडू पहुँच कर एक रत्न जटित मुकुट और एक सोने की कमरपेटी, जो सुलतान हसनशाह के समय से राजचिन्ह के रूप में मालवा के सुलतान धारण किया करते थे, महाराणा को भेंट स्वरूप भेजी। सुलतान का एक पुत्र चित्तौड़गढ़ में ओल के रूप में रहा करता था, ताकि मेवाड़ और मालवे में अच्छा सम्बन्ध बना रहे, (वीर विनोद, भाग 1, पृ. 357 और हरविलास शारदा महाराणा साँगा पृ. 74)। बख्शी निज़ामुद्दीन ने अपनी तबकात-ए-अकबरी में लिखा है कि जो काम राणा साँगा ने किया वैसा अब तक किसी ने नहीं किया था। सुलतान मुजफ्फर गुजराती ने सुलतान महमूद माण्डू को सहायता अवश्य दी थी परन्तु उस वक्त महमूद स्वयं उसकी शरण में गया था। महाराणा ने महमूद को युद्ध में परास्त किया था और फिर यहाँ बन्दी बना लिया था। फिर भी तीन महीने के बाद राणा ने उसको पीछा राज्य दे दिया। यह उसकी अद्‌भुत उदारता थी, (वीर विनोद- भाग 1, पृ. 356)।

गुजरात का सुलतान मुजफ्फरशाह अपनी पराजय को नहीं भूल सकता था। वह बड़ी वेदना के साथ स्मरण किया करता था कि मुबारिक मुल्क का पीछा करके महाराणा ने किस भाँति गुजरात को बर्बाद किया है, अत: वह अहर्निश इसका बदला लेने का विचार किया करता था। अन्त में उसने निश्चय करके एक बड़ी सेना एकत्र की और सैनिकों को तथा अफ़सरों को एक वर्ष का वेतन पेशगी दे दिया। सुलतान की उत्सुकता सुनकर सोरठ का हाकिम मलिक अयाज़ उसकी सेना में उपस्थित हुआ। उसके साथ बीस हज़ार सैनिक थे और एक अच्छा तोपखाना था। उसने मुजफ्फर से निवेदन किया कि यदि मुझे आदेश हो तो मैं या तो महाराणा को मार डालूँ या उसको जीवित आपकी सेवा में उपस्थित कर दूँ। सुलतान इस बात से बहुत प्रसन्न हुआ। उसको खिल्लत प्रदान की और एक लाख सवार, सौ हाथी तथा तोपखाना देकर महाराणा के विरुद्ध रवाना किया। पीछे से बीस हज़ार सवार और बीस हाथी उसकी सहायतार्थ और भेजे गये। दोनों संयुक्त सेनायें बागड़ में पहुँची। उसने डूँगरपुर को जलाया और फिर बाँसवाड़ा गई। तद्न्तर मन्दसौर पहुँच कर किले को घेर लिया। उधर महाराणा भी मन्दसौर के निकट आ पहुँचा। तब मांडू का सुलतान महमूद भी सेना सहित मलिक अयाज़ से आ मिला। अब बड़े जोर के साथ मन्दसौर का घेरा शुरु हुआ। तब आसपास के राजपूत शासक राणा की सहायता को आ गये। कुछ दिन तो घेरा चला, परन्तु फिर मुसलमान सैनिक विचलित होने लगे। मुसलमान शिविर में सरदारों में अनबन हो गई। तब मलिक अयाज़ ने महाराणा से सन्धि कर ली और वह बीस मील पीछे हट गया। यह स्थिति देख कर दूसरे मुसलमान सरदार भी वापस लौट गये, (बिलीज-हिस्ट्री ऑफ़ गुजरात

पृ. 271-75, ब्रिग्ज-फरिश्ता जिल्द 4, पृ. 90-94, हरविलास शारदा-महाराणा साँगा पृ. 84-87)।

महाराणा साँगा के सात पुत्र थे- भोजराज, कर्णसिंह, रत्नसिंह, विक्रमादित्य, उदयसिंह, पर्वतसिंह और कृष्णसिंह। इनमें से भोजराज, कर्णसिंह, पर्वतसिंह और कृष्णसिंह की मृत्यु तो महाराणा के जीवनकाल में ही हो गई थी। शेष तीन में रत्नसिंह सबसे ज्येष्ठ था, अत: रत्नसिंह युवराज बना।

राणा साँगा की अट्ठाईस रानियों में एक रानी बूँदी के हाड़ा नरेश नरवर की पुत्री थी, जिसका नाम करमेती था। उसने विक्रमादित्य और उदयसिंह को जन्म दिया था। ये दोनों उस समय बालक थे, अत: करमेती ने एक दिन महाराणा से निवेदन किया कि आप चिरंजीव रहें, परन्तु विक्रमादित्य और उदयसिंह दोनों बालक हैं, इसलिये आपके सामने ही इनको जागीर नियत हो जाय तो उत्तम हो। राणा ने पूछा आप क्या चाहती हो? तब उसने उत्तर दिया कि रत्नसिंह की सम्मति लेकर रणथम्भौर जैसी कोई जागीर इनको प्रदान कर दी जाये और सूरजमल हाड़ा जैसे राजपूत को इनका संरक्षक बना दिया जाये। राणा ने यह बात स्वीकार की और दूसरे दिन रत्नसिंह ने कहा कि विक्रमादित्य और उदयसिंह तुम्हारे छोटे भाई हैं। इनको कोई ठिकाना मिलना चाहिये। रत्नसिंह ने इसको स्वीकार कर लिया, तब रणथम्भौर का इलाका विक्रमादित्य और उदयसिंह को जागीर में दे दिया गया। जिस समय इस जागीर की रस्म की गई तो बूँदी का हाड़ा सूरजमल भी दरबार में उपस्थित था। महाराणा ने सूरजमल से कहा कि ये दोनों बालक आपके भानजे हैं। बूँदी से रणथम्भौर निकट भी है और हमको आप पर विश्वास है, अत: इनका हाथ आपको पकड़वाते हैं। सूरजमल ने यह आज्ञा शिरोधार्य की और निवेदन किया कि यदि रत्नसिंह भी इसको स्वीकार करे तो अच्छा हो। अन्यथा कभी इनमें और मुझ में कलह होना सम्भव है। तब रत्नसिंह ने उत्तर दिया "ये दोनों मेरे भाई हैं और आप मेरे सम्बन्धी हैं। मैं इसमें बुरा नहीं मानता।" तब राणा की आज्ञानुसार सूरजमल विक्रमादित्य और उदयसिंह को रणथम्भौर ले गया और वहाँ उनका अधिकार करा दिया, (मुंहणोत नेणसी की ख़्यात, पत्र 25)।

इसी समय गुजरात के सुलतान के पुत्रों में कलह उत्पन्न हुआ। मुजफ्फरशाह के आठ पुत्र थे जिनमें सिकन्दरशाह सबसे बड़ा था और उसी पर सुलतान का सर्वाधिक प्रेम था। सिकन्दर से छोटा भाई बहादुर खाँ था। वह भी अपने को गद्दी का हक़दार मानता था। इसलिये वह राज्य की प्राप्ति के लिये प्रपंच किया करता था, अत: दोनों भाइयों में कलह रहने लगा। तब एक मुसलमान फ़कीर से बहादुर खाँ ने सलाह ली। फिर अपने भाई चाँद खाँ और इब्राहिम को साथ लेकर वह भाग निकला और चांपानेर और बाँसवाड़ा होता हुआ राणा की शरण में आया। राणा ने उसको आदरपूर्वक अपने यहाँ रखा और साँगा की माता उसके साथ पुत्रवत् प्रेम करने लगी, (बिलीज-हिस्ट्री ऑफ़ गुजरात पृ. 305)। थोड़े दिन तो बहादुर खाँ चित्तौड़गढ़ में रहा परन्तु फिर उसी के भतीजे के साथ बात की बात में उसकी शत्रुता हो गई और बहादुर खाँ ने उसको मार डाला। इसमें अपराध राणा के भतीजे का था, अत: राणा ने बहादुर खाँ को क्षमा तो कर दिया, परन्तु फिर भी सरदार लोग बहादुर खाँ से घृणा करने लगे और उसको सदैव अपने प्राणों का भय रहने लगा, अत: वह कुछ दिन के लिये मेवात की ओर चला गया। परन्तु फिर लौट कर वापस चित्तौड़गढ़ में रहने लगा। जब मुजफ्फरशाह का 1526 में देहान्त हुआ तो सिकन्दरशाह गुजरात की गद्दी पर बैठा, परन्तु थोड़े दिन बाद वह मारा गया और उसका भाई नासिरशाह सुलतान बन गया। जब यह

खबर बहादुर खाँ को मिली तो उसके भाई चाँद खाँ को तो वहीं छोड़ा और इब्राहिम को साथ लेकर गुजरात की ओर प्रस्थान किया, (बिलीज-हिस्ट्री ऑफ़ गुजरात पृ. 326)। इस समय मुजफ्फरशाह के एक पुत्र लतीफ खाँ ने सेना एकत्र करके युद्ध की तैयारी कर रखी थी। जब उसको मालूम हुआ कि बहादुर खाँ चित्तौड़गढ़ में है तो उसने उधर प्रयाण किया। परन्तु वह हार कर वापस लौट आया। इस लड़ाई में उसके सत्रह सौ सिपाही मारे गये, (ब्रिग्ज-फरिश्ता जिल्द 4, पृ. 99)। अब बहादुर खाँ बहादुरशाह की पदवीधारण करके गुजरात का सुलतान बन गया। फिर इसने ही महाराणा विक्रमादित्य के समय चित्तौड़गढ़ पर आक्रमण किया था।

इसके बाद महाराणा संग्रामसिंह को एक अद्‌भुत वीर और साहसी शत्रु का सामना करना पड़ा। अब तक वह गुजरात, मांडू और दिल्ली के सुलतानों से ही लड़ा था। यह तीन वंश कालान्तर में निर्बल और निकम्मे हो चुके थे। इसमें सन्देह नहीं कि इब्राहिम लोदी अपने पूर्वजों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली था। और इसी प्रकार मालवे का सुलतान महमूद भी योग्य सेनानायक था। तथा गुजरात का सुलतान मुजफ्फरशाह भी रणकुशल और योग्य शासक था। इन तीनों पर महाराणा साँगा ने विजय प्राप्त की और तीनों को ही युद्ध भूमि में परास्त करके एक बार नहीं कई बार भगा दिया। परन्तु जिस शत्रु से अब महाराणा साँगा का मुकाबला होने वाला था, वह इन तीनों से भिन्न था।

बाबर की संसार के महान् वीरों में और साम्राज्य स्थापकों में गणना है। उसका जन्म शुक्रवार चौदह फरवरी सन् 1483 में हुआ था। जब बाबर बारह वर्ष का था तो आठ जून 1494 को उसके पिता उमरशेख की मृत्यु हो गई। उमरशेख फ़रगान का स्वामी था, जो बड़ा उपजाऊ प्रदेश था और जिसका क्षेत्रफल पचास हज़ार वर्गमीटर था। यह इस समय रूसी तुर्किस्तान में है और खोकण्ड कहलाता है। उमर को इस छोटे से राज्य से संतोष नहीं हुआ। उसका बड़ा भाई अहमद मिर्ज़ा समरकन्द और बुखारा का स्वामी था, अत: उमर उससे झगड़ता रहता था। इन झगड़ों के बीच ही उमरशेख की मृत्यु हो गई। तत्काल ही बाबर के मामा और चाचा ने फ़रगान पर हमला कर दिया, परन्तु उस समय बाबर इस विषम स्थिति को और प्रजा की स्वामिभक्ति की सहायता से पार कर गया। जब बाबर के चाचा की मृत्यु हो गई 1497 तो उसने समरकन्द को जीतने का प्रयत्न किया और 1497 में उसको विजय मिली। परन्तु यह देश केवल सौ दिन उसके हाथ में रहा। इसके बाद फ़रगान में विद्रोह हो गया। बाबर ने लिखा है कि मैंने फ़रगान के लिये समरकन्द छोड़ा और अब क्या देखता हूँ कि एक राज्य हाथ से गया और दूसरा हाथ नहीं आया। इसके बाद बाबर दो वर्ष तक इधर-उधर भटकता फिरा। वह लिखता है कि इक्कीस वर्ष की आयु के बाद मैंने दो रमज़ान एक स्थान पर नहीं बिताये। एक इतिहासकार ने लिखा है बाबर किस्मत की गेंद और शतरंज के बादशाह की भाँति एक स्थान से दूसरे पर पहुँचता था। समुद्र के तट पर पत्थर के टुकड़े की भाँति कभी वह इधर उछलता था, कभी उधर-ब्रिग्ज, जिल्द 2 पृ. 23।

1498 में उसने फ़रगाना जीत लिया, परन्तु दो वर्ष बाद फिर उसके हाथ से खिसक गया। अब उसने फिर चट्टानों और भयावह स्थानों में शरण ली। 'ढालू और तंग भागों में और तंग दर्रों में हमको चढ़ना पड़ा.................. और फिर अन्त में सैकड़ों कष्ट उठा कर घातक और ढालू घाटियों को पार करते हुए मैं काबुल की सीमा पर पहुँचा।"

सन् 1500-1501 में उसने दूसरी बार समरकन्द छीन लिया, परन्तु आठ मास बाद ही उज्बैन लोगों

के नेता ने उसको समरकन्द से निकाल दिया। फिर दो वर्ष तक वह इधर-उधर भागता फिरा। उसके साथ केवल दो सौ तीन सौ आदमी थे, जिनके हाथों में केवल लाठियाँ थी और वे बड़े फटे हाल थे। एक बार वह किसी बाग में बैठा हुआ मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहा था। परन्तु उसको जीवन और धन प्राप्त हो गया। वह लिखता है ''अक्टूबर 1504 में बिना लड़ाई के और बिना प्रयास के अल्लाह की दया और उदारता के बल से मैंने काबुल और गज़नी तथा उनके अधीन प्रदेशों को छीन लिया।'' अब उसने सम्राट की पदवी धारण कर ली। यहाँ से उसने फिर समरकन्द को जीतना चाहा, जिसके लिये वह तरसा करता था। 1511 और 12 में ईरान के शाह इस्माइल सफ़वी की सहायता से उसने समरकन्द, बुखारा और खुरासान पर अपना अधिकार कर लिया। अब बाबर का राज्य बड़े से बड़ा हो चुका था। वह ताशकन्द से काबुल और गज़नी तक फैला हुआ था और इसमें समरकन्द, बुखारा, हिसार, कुन्दूज़ और फ़रगान सम्मिलित थे।

यह शान थी तो बहुत बड़ी पर ठहरी बहुत कम। वह अपने राज्य के एक हिस्से से दूसरे हिस्से में भागदौड़ करता था, परन्तु जिधर जाता था उधर उसकी हार होती थी। आख़िरकार सन् 1513-14 में वह वापस काबुल आ गया। बाबर ने लिखा है कि काबुल हिन्दुस्तान और खुरासान के बीचों बीच है। लेनपूल ने लिखा है कि बाबर मध्य एशिया के लुटेरों और भारत के शाही सरदारों के बीच की कड़ी है। बाबर जानता था कि हिन्दुस्तान बहुत लम्बा चौड़ा देश है। यहाँ पर सिक्कों के रूप में विपुल स्वर्ण है, अत: बाबर का ध्यान अब भारतवर्ष की ओर गया।

सितम्बर 1517 में कुछ विचार करने के बाद उसने निश्चय किया कि हिन्दुस्तान की ओर कूच किया जावे। वह काबुल से जलालाबाद तक आ पहुँचा। परन्तु फिर वह वापस काबुल चला गया और भारत की ओर कूच करना उसने अभी स्थगित कर दिया। उसको अनुभव हो गया कि भारत पर आक्रमण करने के लिये विशेष तैयारी की आवश्यकता है। उस समय ओर निश्चय कर लिया कि बहुत अच्छी जिन्सी (तोपखाना) तैयार करना चाहिये, अत: उसने एक तुर्क को अपने यहाँ नौकर रखा और उसको अपनी आतिश का हाकिम बनाया। फिर 15 और 25 के बीच उसने तोपखाने के एक दूसरे विशेषज्ञ को, जो तुर्क था और जिसका नाम मुस्तफ़ा था, अपने यहाँ नौकर रखा। रशब्रुक्स विलियम ने लिखा है कि अगर किसी एक साधन से हिन्दुस्तान को जीतने में बाबर को सहायता मिली तो वह साधन था उसका तोपखाना।

इस प्रकार तैयारी करके बाबर ने भारत पर पाँच आक्रमण किये। पहला आक्रमण 1519 में हुआ और उसने भारी लड़ाई के बाद बाजौर के दुर्ग पर अधिकार कर लिया। बाबर ने लिखा है कि मेरे दिल में यह बात बसी हुई थी कि हिन्दुस्तान पर मेरा अधिकार है। इन तमाम देशों पर पहले तुर्कों का अधिकार था, अत: मैं समझता था कि ये मेरे ही हैं। अत: मैंने निश्चय किया कि इनको शान्तिपूर्वक या बलपूर्वक मैं अपने हाथ में ले लूँ। उसने अपना राजदूत सुलतान इब्राहिम के पास भेजा और कहलाया कि जो प्रदेश पुराने समय से तुर्कों के अधिकार में थे, वे सब मुझे दिये जायें। बाबर ने पंजाब के सूबेदार दौलत खाँ के पास भी पत्र भेजे। बाबर ने लिखा है कि हिन्दुस्तान के लोग, विशेषकर अफ़गान ऐसे मूर्ख और बुद्धिहीन है कि मुझे अचम्भा होता है। मेरे आदमी को दौलत खाँ ने लाहौर में कुछ समय तक रोके रखा। न तो वह उससे मिला और न उसे इब्राहिम के पास जाने दिया। नतीजा यह हुआ कि मेरा राजदूत पाँच महीने के बाद वापस काबुल लौटा और कोई उत्तर नहीं

आया।

उसी वर्ष में फिर खैबर की घाटी में होकर कूच किया, परन्तु इसी समय उसको बदखशां से ऐसा समाचार मिला कि उसको लौट जाना पड़ा। तीसरा आक्रमण 1520 में हुआ। बाबर ने बाजौर के मार्ग से भीड़ा की ओर कूच किया और स्यालकोट तक आ पहुँचा। नगर ने आत्मसमर्पण कर दिया, परन्तु उसने सुना कि कन्धार में कुछ उपद्रव हो गया है, अत: उसे पुन: लौटना पड़ा। इस समय पंजाब के सूबेदार दौलत खाँ ने बाबर को बुलाया था। उसने अपने लड़के दिलावर खाँ को भेजा और कहलाया था कि इब्राहिम लोदी को सिंहासन से उतार कर उसके चाचा आलम खाँ को उसके स्थान पर बिठा दिया जाये। इस निमन्त्रण को प्राप्त करने पर बाबर ने चिनाव और झेलम की घाटियों में कूच किया। लाहौर और दीपालपुर शीघ्र ही उसके हाथ में आ गये। दौलत खाँ ने बाबर से प्रार्थना की कि उसको पंजाब का सूबेदार रहने दिया जाये। परन्तु बाबर ने यह नहीं माना। उसने जालन्धर और सुलतानपुर की जागीरें दिलावर खाँ को दी और दीपालपुर आलम खाँ को दिया। दौलत खाँ भाग कर पहाड़ियों में छिप गया। इसके बाद बाबर वापस चला गया। दौलत खाँ ने पहाड़ियों में से वापस आकर सुलतानपुर और दीपालपुर छीन लिये। तब आलमखाँ भागकर काबुल पहुँचा और बाबर से प्रार्थना की कि सैनिक सहायता देकर उसको दिल्ली के सिंहासन पर बिठाया जावे।

1525 में सबसे बड़ी सेना साथ लेकर बाबर ने अन्तिम बार सीमा पार कर भारत में प्रवेश किया। हुमायूँ उसके साथ था। सब मिलकर उसकी सेना की संख्या बारह हज़ार से अधिक नहीं थी। इधर अकेले दौलत खाँ के साथ चालीस हज़ार सैनिक थे और इब्राहिम लोदी खाँ की सेना तितर बितर हो गई और वह मारा गया। बारह अप्रैल से अट्ठारह अप्रैल तक बाबर की सेना और इब्राहिम लोदी की सेना पानीपत के पास एक दूसरे के सम्मुख खड़ी रही फिर 21 अप्रैल को युद्ध हुआ। बाबर ने अपनी सेना को तत्काल तुल्गमा विधि से व्यवस्थित किया। साथ ही उसने तोपखाने से भयंकर अग्नि वर्षा की, मुगलों ने हिन्दुस्तानियों को चारों ओर से आक्रमण करके भगा दिया और बहुतों को मार दिया। 'एक भाले की लम्बाई के बराबर जब सूर्य ऊँचा आया तो युद्ध शुरु हुआ और दोपहर तक चलता रहा। तब शत्रु बिल्कुल हार गया और भगदड़ मच गई। मेरे लोग विजयी हुये और उल्लास से भर गये। भगवान की दया और कृपा से वह कठिन कार्य मेरे लिये आसान हो गया और वह शक्तिशाली सेना आधे दिन के अन्दर मिट्टी में मिल गई। इब्राहिम लोदी रणभूमि में मारा गया। और आगरा पहुँचने पर मालूम हुआ कि लगभग चालीस-पचास हज़ार आदमी युद्ध में काम आये।

इस विजय के बाद भी बाबर के सामने बड़ी कठिनाई थी। चारों ओर अफ़गान सरदार बड़े शक्तिशाली थे। सम्भल में कासिम खाँ बयाना में निज़ाम खाँ, मेवात में हसन खाँ, गंगापार के प्रदेश में नासिर खाँ अभी दबे नहीं थे। बाबर लिखता है कि 'जब मैं आगरा पहुँचा तो न घोड़ों के लिये चारा मिला, न दाना और न मेरे लिये खाना। चारों ओर ग्रामीण लोग विद्रोह कर रहे थे। मार्गों पर चलना कठिन था। स्थिति इसलिये भी बिगड़ गई थी कि उस समय असाधारण गर्मी थी। बाबर के बहुत से आदमी मारे गये थे। उसके बचे हुए सरदारों और सैनिकों का साहस टूट गया था और वे सब वापस लौट जाना चाहते थे। परन्तु बाबर बड़ा साहसी था। उसने सबको एकत्र करके कहा, 'हमने जो कुछ जीता है, उसको छोड़कर, निराशा और पराजय के चिन्हों के साथ वापस काबुल भागना उचित नहीं

है। यह सुनकर सब लोग भारत में ठहरने के लिये विवश हो गये।

बाबर को चारों ओर के शक्तिशाली अफ़गान सरदारों से ही युद्ध नहीं करना था। उसके सामने अब प्रबल शत्रु था राणा संग्रामसिंह और चन्देरी का राजा मेदिनीराय। ये दोनों बड़े योद्धा थे। इनके नेतृत्व में सब राजपूतों ने यह दृढ़ निश्चय कर लिया था कि आक्रमणकारी को मारकर भगा देना चाहिये। हसन खाँ मेवाती और इब्राहिम लोदी का भाई महमूद लोदी दोनों मुस्लिम सरदार राणा से आ मिले थे। तारीख-ए-सलातीने अफ़गान में लिखा है कि राणा साँगा उस समय शक्तिशाली शासक था। उसने हसन खाँ के पास सन्देश भेजा कि मुग़ल लोग भारत में घुस आये हैं। सुलतान इब्राहिम को उन्होंने मार डाला है। मुल्क पर उन्होंने अधिकार जमा लिया है। अब स्पष्ट है कि ये आपके और मेरे खिलाफ़ भी सेना भेजेंगे। यदि आप मेरे साथ रहें तो हम जीवित रह सकते हैं। उस हालत में उनका आधिपत्य नहीं होने देंगे।

इन मुस्लिम सरदारों के साथ ही जाने से स्पष्ट था कि यह युद्ध हिन्दू मुस्लिम युद्ध नहीं था बल्कि समस्त देश के शत्रु के विरुद्ध एक राष्ट्रीय प्रयास था। लेनपूल ने लिखा है अब बाबर को ऐसे उच्च शूरवीरों का सामना करना पड़ा, जैसों से उसका पहले काम नहीं पड़ा था। राजपूतों में शक्ति थी, उदारता थी और लड़ने तथा रक्तपात करने का चाव था। उनमें राष्ट्रीय भावों की प्रेरणा थी। वे बहादुर से बहादुर सैनिक से भिड़ने के लिये तैयार थे और अपने सम्मान की रक्षा करने के लिये वे अपने जीवन का बलिदान करने के लिये सदैव प्रस्तुत रहते थे। राणा साँगा चित्तौड़गढ़ का स्वामी था और ऐसे वंश का मुखिया था जिसको सारे राजपूत लोग सर्वोच्च, प्राचीन और सर्वोत्तम मानते थे। बाबर की भाँति उन्होंने भी विपत्ति की पाठशाला में शिक्षा प्राप्त की। प्रारम्भिक जीवन की बहुत सी कठिनाइयों और खतरों को पार करके वे गद्दी पर बैठे थे। अपने पड़ौसियों के साथ युद्ध करके उन्होंने अपने राज्य को बढ़ाया था। मालवा के सुलतान महमूद खिलजी को हराकर उन्होंने भीलसा, सारंगपुर, चन्देरी और रणथम्भौर छीन लिये थे। उस को उन्होंने कैद कर लिया और उसके साथ आदर का व्यवहार किया और फिर उसको छोड़ भी दिया था। दिल्ली के सुलतान इब्राहिम के साथ भी उनकी शत्रुता थी और दो बार उसके साथ उन्होंने जमकर युद्ध किया। उनकी सेना बहुत बड़ी थी। अस्सी हज़ार सवार, सात बड़े-बड़े राजा, नौ राव और 104 सरदार जो रावल या रावत कहलाते थे उनके साथ रहा करते थे। मारवाड़ और आमेर के नरेश उनको बड़ा मानते थे। ग्वालियर, अजमेर, सीकरी रायसेन, कालपेक, चन्देरी, बूँदी, गागरोन, रामपुरा और आबू के नरेश उनके सामन्त थे। जैसे कार्य थे वैसा ही उनका शरीर था। मरते समय उनका वीर शरीर कट कर थोड़ा सा रह गया था। अपने भाई के साथ झगड़े में उनकी आँख जाती रही। इब्राहिम लोदी के साथ झगड़े करते करते उनका एक हाथ कट गया और एक दूसरे युद्ध में तोप के गोले से उनका एक पैर आहत हो गया, जिसके कारण वे चल नहीं सकते थे। उनके शरीर पर तलवार या भाले के लगभग अस्सी घाव थे (लेनपूल-पृ. 173-174)।

बाबर और महाराणा साँगा दोनों एक दूसरे की शक्ति से परिचित थे। महाराणा साँगा को पता था कि बाबर इब्राहिम लोदी से भी अधिक शक्तिशाली है। इसलिये पानीपत के युद्ध के बाद महाराणा साँगा अपनी शक्ति बढ़ाने लगा। रणथम्भौर से कुछ दूरी पर खंडार नामक एक दुर्ग है जो उस समय हसन नामक एक मुसलमान के अधिकार में था। महाराणा ने यह आवश्यक समझा कि यह दुर्ग भी उसके हाथ

में होना चाहिये ताकि यदि बाबर रणथम्भौर पर चढ़ाई करे तो पहली टक्कर उसके साथ खंडार में हो। बाबर ने मोहम्मद जैतून और तातार खाँ नामक दो बड़े मुसलमान सरदारों को धौलपुर और ग्वालियर के परगने देकर अपने पक्ष में कर दिया। उसने हसन खाँ मेवाती को अपने पक्ष में करने का प्रयत्न किया परन्तु इसमें उसे सफलता नहीं मिली। उस समय बयाना महाराणा साँगा के अधिकार में था और निज़ाम खाँ नामक मुसलमान को यह उसने जागीर में दे रखा था। जब बाबर ने इस किले को लेने के लिये सेना भेजी तो निज़ाम खाँ का भाई आलम खाँ बाबर से मिल गया और क़िला उसके सुपुर्द करवा दिया। तब महाराणा ने आगे बढ़कर बयाना छीन लिया। बाबर ने लिखा हैकि 'हमारी सेना में यह खबर पहुँची कि महाराणा बहुत जल्दी कूच करता हुआ आ रहा है। हमारी बयाने की सेना राणा से हार कर भाग निकली। इसमें सगर खाँ मारा गया। किताब बेग ने एक राजपूत पर हमला किया जिसने उसी के नौकर की तलवार छीन कर बेग के कन्धे पर ऐसा वार किया कि वह फिर राणा के साथ लड़ाई में शामिल नहीं हो सका। किस्मत शाह, मंसूर बरलास और अन्य भागे हुये सैनिकों ने राजपूत सेना की वीरता और पराक्रम की बड़ी प्रशंसा की (तुजुक-ए-बाबरी पृ. 547-48)

11 फरवरी 1527 को साँगा का सामना करने के लिये बाबर रवाना हुआ और फतेहपुर सीकरी में मोर्चेबन्दी करने लगा। वहाँ उसको खबर मिली कि राणा साँगा भी बयाना से दस मील के फ़ासले पर आ पहुँचा है। 22 फरवरी 1527 को बाबर का एक सेनापति आगरे से बढ़ कर खानवा आ पहुँचा। महाराणा ने उस पर आक्रमण किया जिसमें बाबर के कई बड़े-बड़े अफ़सर मारे गये और बहुत से बन्दी बना लिये गये। उसकी सहायता के लिये मुस्लिम सेना आई। उसके अफ़सर को कैद कर लिया गया। मुग़लों की सेना का दो मील तक पीछा किया गया और फिर राजपूत वापस डेरों में लौट आये। बाबर ने अपनी जीवनी में लिखा है कि "इस समय पहिले की घटनाओं से, क्या छोटे और क्या बड़े, सभी सैनिक डरे हुये थे, उनमें कुछ उत्साह नहीं था, कोई भी आदमी बहादुरी की बात नहीं करता था" पृ. 556। तो भी बाबर ने खाइयाँ खुदवाई और उसके पीछे सात-सात आठ-आठ गज की दूरी पर गाड़ियाँ खड़ी करवाई और उनको जंजीरों से बाँध दिया। इस तैयारी में उसको बीस पच्चीस दिन लग गये। महाराणा साँगा ने यह सब देखते हुये भी आक्रमण नहीं किया। इससे बाबर को अपनी शक्ति संगठित करने के लिये और अपने हतोत्साह सैनिकों में प्राण संचार करने के लिये समय मिल गया। अभी भी बाबर को विश्वास नहीं था कि उसको विजय प्राप्त होगी। इसलिये उसने रायसेन के सरदार के पास अपना राजदूत भेजा और सन्धि की बात चलाई। महाराणा ने अपने सरदारों से सलाह ली तो उन्होंने इस प्रस्ताव को स्वीकार करना आवश्यक नहीं समझा। तुजुक-ए-बाबरी में इस सन्धि वार्ता का उल्लेख नहीं है परन्तु राजस्थान की ख्यातों में इसका जिक्र है। कर्नल टॉड ने लिखा है कि 'हमारा दृढ़ विश्वास है कि उस समय बाबर ऐसी स्थिति में था कि वह किसी भी शर्त को मान लेता टॉड, राजस्थान, भाग 1, पृ. 356। युद्ध से पूर्व की अपनी सेना की निराशा का बाबर ने जो वर्णन किया है उसके आधार पर सन्धि की यह बातचीत सम्भव प्रतीत होती है। परन्तु रशब्रुक विलियम्स ने इसका विरोध किया है। इस बात का पता नहीं चलता कि महाराणा साँगा ने बाबर को युद्ध की तैयारी करने के लिये इतना समय क्यों दिया? यह सम्भव है कि उसके सैनिक शिविर में मतैक्य न हो। उसके साथ जितने सरदार थे वे सब एक उद्देश्य से युद्ध करने के लिये सम्मिलित नहीं हुये थे। सबके

पृथक्-पृथक् स्वार्थ थे और कुछ में तो परस्पर बैर भी था। कुछ भी हो, इस प्रकार की ढील के कारण बाबर को बहुत ही अच्छा मौका मिला और इससे महाराणा की बड़ी हानि हुई। बाबर ने अपनी जीवनी में लिखा है कि, '23 जुमाद को मैं घोड़े पर सवार हो कर रणभूमि की चौकियाँ देखने गया। जब मैं सवार होकर घूम रहा था तो मुझे एक दम यह विचार आया कि मैं कभी एक निश्चय करता हूँ और कभी दूसरा। इससे मुझे पश्चाताप करना पड़ता है। इसलिये सोने और चाँदी के मद्यपात्र मैंने तुड़वा दिये और मद्यपान का परित्याग कर दिया। अपने मन को इस प्रकार पवित्र करके मैंने आदेश दिया कि इन पात्रों के टुकड़ों को निर्धनों और फ़क़ीरों में बाँट दिया जाय।'' फिर अपने सिपाहियों को दृढ़ करने के लिये बाबर ने निम्नलिखित शब्दों से उन्हें उत्साहित किया। ''सरदारों और सिपाहियों! जो भी संसार में आता है वह मरता है। लेकिन कलंक के साथ मरने से सम्मान के साथ मरना कितना अच्छा है। दयालु भगवान ने हमको यह विजय प्रदान की है। यदि हम मरे तो शहीद होंगे और जीते तो धर्म विजय होगी। हम सबको शपथ लेनी चाहिये कि जब तक हमारे शरीर में प्राण हैं तब तक हम मृत्यु से और युद्ध से कभी पीछे नहीं हटेंगे।'' इसके बाद मेरे सिपाहियों ने बहुत से काफ़िर पकड़ लिये और उनके सिर काट डाले! इससे सेना में आत्मविश्वास उत्पन्न हो गया और सब आत्म-बलिदान करने के लिये तैयार हो गये।

11 फरवरी सन् 1527 को बाबर ने धर्मयुद्ध की घोषणा की और कहा कि ''जब मैं काबुल में था तो काफ़िर राणा साँगा ने मेरे पास एक राजदूत भेजा था और यह कहा था कि यदि मैं दिल्ली तक कूच करता हुआ आ जाऊँ तो वह दूसरी ओर से आगरा पर चढ़ कर आवेगा। मैंने तो इब्राहिम लोदी को हरा दिया और दिल्ली और आगरे पर अधिकार कर लिया परन्तु वह काफ़िर हिला तक नहीं। बल्कि राणा यह शिकायत करता है कि वचन भंग हो गया है और काल्पी, धौलपुर, बयाना बल्कि आगरे तक के लिये यह दावा करता है।''

बाबर और राणा साँगा की सेनायें शनिवार 16 मार्च 1527 को खानवा में मिली जो सीकरी से दस मील की दूरी पर और आगरे से बीस मील की दूरी पर स्थित है। बाबर ने मुख्यत: वैसी ही व्यवस्था की जैसी उसने पानीपत के युद्ध में की थी। परन्तु अब की बार उसने तोपों को पहियेदार तिपाइयों पर रखा ताकि वे आसानी से आगे पीछे की जा सकें। सैनिक व्यवस्था में यह विशेषता थी कि उसने बहुत सारे सैनिकों को पीछे जमाया ताकि समय पर वे काम आ सकें। बाबर सेना के मध्य भाग का, हुमायूँ दाहिने हिस्से का और मेंहदी ख्वाजा बाएँ हिस्से का संचालक बना। इस समय बाबर की सेना पानीपत के युद्ध की अपेक्षा बहुत अधिक थी। परन्तु महाराणा साँगा की सेना की संख्या बाबर की सेना की अपेक्षा सात या आठ गुनी होगी। महाराणा की सेना में निम्नलिखित नरेश और सरदार थे -

मारवाड़ के राजा राव गांगा की तरफ़ से, मेड़ते के रायमल और रत्नसिंह सेना सहित उपस्थित थे। आमेर का राजा पृथ्वीराज भी साँगा की सहायता करने के लिये आया था। ईडर का राजा भारमल, वीरमदेव मेड़तिया और महाराणा का भतीजा नृसिंहदेव तथा बागड़ या डूँगरपुर का रावल उदयसिंह भी सेना में सम्मिलित थे। चन्द्र भवन चौहान और माणकचन्द चौहान पूर्व प्रदेश के महाराणा की सहायतार्थ आये थे। इनके वंशजों में इस समय कोठारिया, बेदला और पारसोली के जागीरदार हैं। रावत रत्नसिंह जिसके वंशज इस समय सलूम्बर के जागीरदार हैं, सेना में उपस्थित था। रावत जोगा, नरवर हाड़ा बूँदी, वीरसिंह, झाला अज्जा, सोनग़रा रामदास, परमार गोकुल दास,

खेतसी, रायमल राठौड़, रावत बाघसिंह, आदि कई बड़े बड़े सरदार अपनी अपनी सेना के सहित मौजूद थे। बीकानेर के राव जैतसी ने अपने पुत्र कुँवर कल्याणमल को सेना सहित महाराणा की सहायता के लिये भेजा था। (तारीख बीकानेर मुंशी देवीप्रसाद कृत पृ. 115-16)। महाराणा की सेना चार भागों में विभक्त की गई थी। हरावल (अग्रभाग), चन्द्रावल (पृष्ठभाग), दक्षिणी पार्श्व और बाम पार्श्व। महाराणा स्वयं हाथी पर सवार होकर सेना का संचालन कर रहा था। जब युद्ध प्रारम्भ हुआ तो बाबर की सेना विचलित होने लगी परन्तु इसी बीच में संयोगवश महाराणा के शरीर में एक तीर लगा जिससे वह मूर्छित हो गया और कुछ सरदार उसे पालकी में बिठाकर मेवाड़ की तरफ ले गये। फिर झाला अज्जा राज्य चिन्ह धारण करके हाथी पर सवार हुआ और उसकी अध्यक्षता में सारी सेना लड़ती रही। एक तरफ मुग़लों का तोपखाना घोर अग्नि वर्षा कर रहा था और दूसरी ओर राजपूत मुग़लों पर प्रचंड आक्रमण कर रहे थे। तब मुग़लों ने राजपूतों के दक्षिण और वाम पार्श्व भाग पर बड़े जोर से हमला किया और बाबर के हरावल के दोनों भाग एवं दोनों पार्श्वों की सेनायें तोपखाने सहित आगे बढ़ने लगी और राजपूतों को सब ओर से घेरने लगी। तोपों के गोलों के आगे राजपूत नहीं ठहर सके और पीछे हटने लगे और चारों ओर से घिर जाने के कारण गोलों की वर्षा से उनका संहार होने लगा। महाराणा की ओर से उदयसिंह, हसनख़ाँ मेवाती, माणकचन्द चौहान, चन्द्रभान चौहान, रत्नसिंह चूड़ावत, झाला अज्जा, रामदास सोनगरा, परमार गोकुलदास, रायमल राठौड़, रत्नसिंह मेड़तिया और खेतसी आदि ने वीरगति प्राप्त की। राजपूतों की हार हुई और मुग़लसेना ने दूर तक उनका पीछा किया। बाबर ने विजय प्राप्ति करके गाज़ी की उपाधि धारण की और अपनी विजय के उपलक्ष्य में राजपूतों के सिरों का एक मीनार बनवाया और फिर बयाने की ओर चल दिया। महाराणा को मूर्छित अवस्था में उसके साथी बसवा गाँव 'जयपुर राज्य' में ले गये और वहाँ से वह रणथम्भौर चला गया।

इसके पश्चात् बाबर ने मेदिनी राय पर चढ़ाई की और वह काल्पी होता हुआ चंदेरी पहुँचा (19 जनवरी 1528)। मेदिनीराय की सहायता करने के लिये महाराणा ने भी चंदेरी को प्रस्थान किया और काल्पी से कुछ दूर ईरिच नामक गाँव में डेरा डाला। उसके साथी राजपूत युद्ध करते करते थक गये। इसलिये उन्होंने उसको विष दे दिया और वहाँ से उसको पीछा लौटा लाये। 30 जनवरी 1528 को काल्पी में उसका स्वर्गवास हो गया। महाराणा साँगा की मृत्यु के बाद बाबर निष्कंटक हो गया और उसने मुग़ल साम्राज्य की स्थापना की। इस प्रकार राजस्थान में मेवाड़ का आधिपत्य समाप्त हो गया। ❑

प्रथम महायुद्ध और भारत

प्रथम महायुद्ध के समय भारतवर्ष ने आठ लाख सैनिक साम्राज्य की सहायता के लिए भेजे और लगभग चार लाख नवयुवकों ने युद्ध स्थलों में दूसरा काम किया। देश ने असंख्य धन से सहायता की। भारतीय सैनिक सर्वत्र लड़ने में सबसे आगे रहे और अनेकानेक घोर कष्ट झेले। सम्पूर्ण भारतीय नरेशों ने तन, मन, धन से साम्राज्य की सहायता की। कई स्वयं युद्धस्थल में गये। सबने, अपनी शक्ति से अधिक आर्थिक और सैनिक सहायता दी। इस बातको सबने स्वीकार किया था कि साम्राज्य की विजय प्राप्ति में भारतवर्ष का और भारतीय नरेशों का बहुत बड़ा हाथ है।

– **'कोटा राज्य के इतिहास से' पृष्ठ 746**

1857 का स्वतंत्रता संग्राम

सन् 1857 के संग्राम के विषय में प्राय: ऐसा भ्रम है कि यह एक आकस्मिक उत्पात था और सैनिकों में असन्तोष के कारण एकदम हो गया था जैसे कोई बारूदखाने में चिनगारी लग गई हो; परन्तु वास्तव में यह बात नहीं थी। इस उत्पात की पृष्ठभूमि बहुत अर्से से तैयार हो रही थी। ज्यों ही अँग्रेज़ों ने अपना राज्य जमाना शुरु किया त्यों ही देश में उनके प्रति ग्लानि और घृणा फैलने लग गई थी। कारण यह था-कि भारतवर्ष के विभिन्न भागों में जब अँग्रेज़ों ने राज्य प्राप्ति के लिए युद्ध किया तो वहाँ उन्होंने केवल वीरता या सैनिक कुशलता से ही काम नहीं लिया बल्कि छल, कपट और प्रपञ्च का भी नि:संकोच उपयोग किया।

कोटा राज्य में अँग्रेज़ों ने बड़े कपट का खेल किया था। वहाँ दीवान और शासक में उन्होंने युद्ध करवाया जिसमें अँग्रेज़ों की सेना ने दीवान की सहायता की। इस युद्ध में तीन अँग्रेज़ मारे गये थे। जिनकी तलवार से इनका वध हुआ उनकी लोगों में बड़ी प्रशंसा हुई और उनकी वीरता के गीत अर्से तक गाये गये। जयपुर राज्य में भी पोलिटिकल एजेन्ट का लोगों ने वध कर दिया था। मारने वाले रियासत के सिपाही नहीं थे, बल्कि कृषक लोग थे, ये लोग अँग्रेज़ों से घृणा करते थे। उस समय तक उन लोगों को यह विश्वास हो गया था कि अँग्रेज़ लोग जयपुर राज्य को छीनना चाहते हैं और बालक शासक को मारना चाहते हैं। इसी सन्देह में एक दूसरे अफ़सर की भी हत्या हो जाती, परन्तु वह ज़ख्मी ही होकर रह गया। कर्नल टॉड बड़े चतुर और कुशल कूटनीतिज्ञ अफ़सर थे और राजपूतों में उनका मान भी था। परन्तु जब उदयपुर में उन्होंने चुपके से गो वध किया तो वहाँ भारी उत्पात हो गया और बड़ी कठिनता से उनके प्राण बचे। फिर वह नगर में नहीं रह सके। उदयपुर शहर से 10-12 मील के फासले पर वह बंगला बनवा कर रहे।

सन् 1857 के उत्पात को चाहे गदर कहें या विप्लव कहें या स्वातन्त्र्य संग्राम कहें, इसको अनेक दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है और कोई भी दृष्टिकोण निराधार नहीं है; परन्तु यह बात स्वीकार करनी पड़ेगी कि यह आकस्मिक उत्पात नहीं था, इसकी एक पृष्ठभूमि थी जिसकी सृष्टि 100 वर्ष पहले से होने लग गई थी।

बूँदी राज्य में उस समय सूरजमल नामक एक चारण कवि थे। उन्होंने रतलाम नरेश, जोधपुर नरेश और कई जागीरदारों को सन् 1857 से पहले कई पत्र लिखकर अँग्रेज़ों के खिलाफ़ उठ खड़े होने के लिए प्रेरित किया था—उन्होंने इस विषय में एक पत्र में लिखा था, 'ऐ देश के सरदारों, अब तुम सिंह नहीं कहला सकते। यह अधिकार अब तुम्हें नहीं रहा। तुम तो विदेशियों की दया पर अपने दिन काट रहे हो। सिंह नाम तो उसका है जो दूसरों की दया पर मोहताज न हो।'

इसी प्रकार जोधपुर के कवि राजा बाँकीदास ने डिंगल भाषा में सन् 1857 से कई वर्ष पहले एक गीत लिखा था जिसका अर्थ है कि 'अँग्रेज़ हमारे देश पर चढ़ आये हैं। धरती के छिन जाने से न नरेशों ने लज्जा का अनुभव किया और न गढ़धारियों ने कोई प्रयत्न किया। भरतपुर वालों ने खूब सामना किया, शरीर छोड़ा पर किला नहीं छोड़ा, तोपों का जवाब तोपों से दिया। सबसे पहले फिरंगी का सिर जमीन पर गिरा कर स्वयं धराशाही हुई; परन्तु जयपुर, उदयपुर और जोधपुर नरेशों तुमने तो अपने सम्पूर्ण वंश गौरव को ही मिट्टी में मिला दिया।'

❑

मानसिंह और महाराणा प्रताप की भेंट

आमेर नरेश बिहारीमल के साथ वैवाहिक और राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित हो जाने के पश्चात् अन्य राजपूत नरेशों के साथ भी ऐसा ही सम्बन्ध स्थापित करने के लिये अकबर की बड़ी इच्छा हुई। 1570 में जब अकबर अजमेर में था तो बीकानेर, जोधपुर और जैसलमेर के नरेशों ने उसके प्रति अधीनता स्वीकार कर ली। इसमें मानसिंह और बिहारीमल ने बड़ा प्रयत्न किया था। अपनी लज्जा निवारण के लिये वे चाहते थे कि अन्य राजपूत नरेश भी अकबर के अधीन हो जावें और उसको अपनी पुत्रियाँ भी भेंट करें। राजनीतिक अधीनता तो सबने मान ली परन्तु विवाह किसी ने किया और किसी ने नहीं किया, परन्तु मेवाड़ के महाराणा ने तो राजनीतिक सम्बन्ध भी स्वीकार नहीं किया। फरवरी, 1572 में उदयसिंह का देहान्त हो चुका था और मुग़लों से अपने देश की रक्षा करने का भार अब उसके दुर्दम्य पुत्र प्रतापसिंह के कंधों पर आ गया था। चित्तौड़गढ़ को अकबर हस्तगत कर चुका था और उदयपुर का पूर्वीय उपजाऊ प्रदेश भी उसने दबा लिया था। चित्तौड़गढ़ और रणथम्भौर हाथ से निकल जाने पर भी उदयसिंह के वीर उत्तराधिकारी महाराणा प्रतापसिंह का उत्साह भंग नहीं हुआ। उसने धैर्य और दृढ़ता के साथ अपना मस्तक ऊँचा रखा और अकबर के सामने नहीं झुकाया। उधर अकबर को इतना भी सहन नहीं था कि महाराणा प्रताप को, जो दुर्गम-पहाड़ियों में छिपकर और घूमकर अपने सीमित राज्य की रक्षा कर रहा था, नहीं छेड़ता। अब महाराणा प्रताप की राजधानी गोगून्दा नामक एक छोटा सा कस्बा था।

अकबर चाहता था कि महाराणा प्रताप उसकी शरण ग्रहण कर ले। उसको समझाने के लिये राजा भगवानदास और कुँवर मानसिंह को नियुक्त किया गया। राजा भगवानदास, बिहारीमल का भाई था और मानसिंह उसी का भतीजा था। इस कार्य के लिये इन दोनों से अधिक योग्य व्यक्ति मिलना कठिन था। मानसिंह नवयुवक था परन्तु उसमें असाधारण चतुरता और योग्यता थी। उसमें सैनिक नेतृत्व की और राजनीतिक कौशल की सहज शक्ति थी। राजा भगवानदास शान्त और गम्भीर सरदार था। उसमें अनौखी क्षमता थी और किसी भी स्थिति में राग या द्वेष से विचलित नहीं होता था। इस समय उसकी आयु 50 वर्ष की थी और उसने अपने देश में अनेक उतार-चढ़ाव देखे थे। सन् 1573 की ग्रीष्म ऋतु में एक बड़ी सेना देकर मानसिंह को डूँगरपुर और उदयपुर के नरेशों को दबाने के लिये भेजा गया। मानसिंह को अकबर ने हिदायत दी थी कि जो ताबेदारी करने के लिये तैयार हों, उनके प्रति सम्मानपूर्वक व्यवहार किया जाय, परन्तु जो इस प्रस्ताव को स्वीकार न करें, उनका दमन किया जाय। प्रस्थान से पूर्व मानसिंह अकबर के साथ गुजरात के युद्ध में था। वहाँ से प्रयाण करके उसने डूँगरपुर के राज्य में प्रवेश किया। डूँगरपुर के महारावल आसकरण (1549-1580) ने मानसिंह के साथ बड़ी वीरता और साहस के साथ युद्ध

किया। परन्तु वह मानसिंह जैसे साधन-सम्पन्न और चतुर सेनानायक का सफ़लतापूर्वक सामना नहीं कर सका। इस युद्ध में आसकरण के दो सगे भतीजे- बाघ और दुर्गा काम आये और आसकरण रणभूमि से हटकर अपने राज्य की विकट पहाड़ियों में चला गया। फिर तीन वर्ष पश्चात् विवश होकर उसने अकबर का आधिपत्य स्वीकार कर लिया।

मानसिंह ने डूँगरपुर के इलाके बर्बाद कर दिये और उदयपुर का बहुत बड़ा भाग नष्ट कर डाला। इसके पश्चात् वह महाराणा प्रताप से मिलने के लिये गोगून्दा गया। इस भेंट का वृत्तान्त अबुल फ़ज़ल ने अपने 'अकबरनामा' नामक पुस्तक में इस प्रकार किया है:

'राणा प्रताप, मानसिंह और अन्य शाही सैनिक अधिकारियों का स्वागत करने के लिये, बाहर आया और उनसे आदरपूर्वक मिला तथा अकबर की भेजी हुई खिल्लत उसने मानपूर्वक धारण कर ली। फिर वह मानसिंह को अतिथि के रूप में अपने महल में ले गया। जब मानसिंह ने उससे शाही दरबार में उपस्थित होने के लिये आग्रह किया तो प्रताप ने बहाना किया कि उसके हितैषी उसे नहीं जाने देंगे, परन्तु उसने वायदा किया कि वह कुछ अर्से बाद दरबार में उपस्थित हो जायेगा। उसने मानसिंह को विदा कर दिया और स्वयं दरबार में हाज़िर नहीं हुआ और टालमटूल करता रहा।'

इसी इतिहासकार ने लिखा है कि उसी वर्ष भगवानदास गुजरात से वापस लौटते हुए गोगून्दा पहुँचा। प्रताप ने उसका आगे बढ़कर स्वागत किया और अपने पिछले व्यवहार पर खेद प्रकट करते हुए अब तक शाही दरबार में हाज़िर न हो सकने की क्षमा चाही। अपने महल में ले जाकर महाराणा प्रताप ने भगवानदास का आदरपूर्वक सत्कार किया। राजा भगवानदास के प्रताप ने अपने युवराज अमरसिंह को बादशाह की सेवा में भेज दिया और एक प्रार्थना पत्र भी भेजा जिसमें लिखा था कि मैं अपने पुत्र को अपनी फर्मावरदारी प्रकट करने के लिये दरबार में भेज रहा हूँ और जब मेरा दुखित चित्त शान्त हो जायेगा, तब मैं स्वयं हाज़िर हो जाऊँगा। अबुल फ़ज़ल ने यह भी लिखा है कि भगवानदास नवम्बर 1573 में आगरा पहुँचा और उसने अमरसिंह को बादशाह के समक्ष उपस्थित किया। इसके पश्चात् जब टोडरमल गुजरात से आगरे को लौट रहा था, तो महाराणा ने उससे मिलकर बड़े विनीत भाव से बातचीत की। इसके पश्चात् युवराज अमरसिंह को वापस अपने पिता के पास लौट जाने की अनुमति प्राप्त हो गई।

अबुल फ़ज़ल बड़ा विद्वान् दरबारी इतिहासकार था परन्तु वह अपने बादशाह और बड़े-बड़े अमीरों की बड़ी चाटुकारिता करता था। इसलिये ऊपर के अवतरण में उसने अकबर को प्रसन्न करने के लिये अत्युक्ति करके तथ्यों की उपेक्षा की है। यह निश्चित रूप से इतिहासवेत्ताओं को विदित है कि शाही खिल्लत सबसे पहिले महाराणा अमरसिंह ने सन् 1614 में बादशाह जहाँगीर के शासन में धारण किया था। यह उसे प्रतिकूल परिस्थिति से दबकर करना पड़ा था और इससे उसको इतनी ग्लानि हुई कि आयु पर्यन्त उसने किसी बड़े व्यक्ति को मुँह नहीं दिखाया और अपने महलों में छिपे-छिपे अपना शेष जीवन व्यतीत किया। सतरहवीं शताब्दी में राम कवि ने 'जयसिंह चरित्र' नामक आमेर का

इतिहास लिखा था। मानसिंह की भेंट के विषय में वह लिखता है कि महाराणा प्रताप उसको अपने महल में भोजन करवाने के लिये ले गया परन्तु प्रताप ने उसके साथ भोजन नहीं किया और यह कहला दिया कि उसे कुछ गिरानी है और वह भोजन पीछे करेगा। इस व्यवहार से मानसिंह बड़ा क्रुद्ध हुआ और उसने कहा कि मैं इस गिरानी का 'चूर्ण' दूँगा। तब मानसिंह थाल हटाकर अपने साथियों सहित उठ खड़ा हुआ और रूमाल से हाथ पोंछकर उसने कहा कि अब मैं चुल्लू तो वापिस होकर करूँगा। इस विषय में राम कवि का निम्नलिखित छन्द है:-

रान सों भोजन समय गही मान यह बान।
हम क्यों जैबें आपहू जैबत हो किन आन॥
कुँवर आप आरोगिये राना भाख्यो हेरि।
मोहि गरानी सी कछु अबै जैइहूँ फेरि॥
कही गरानी की कुँवर भई गरानी जोहि।
अटक नहीं कर देऊँगा तूरण चूरण तोहि॥
दियो ठेल कांसो कुँवर उठे सहित निज साथ।
चुलू आनं भरि हौं कह्यो पौंछ रूमालना हाथ॥

इतना ही नहीं, यह भी किंवदंती है कि उस समय कोठारिया ठिकाने का जागीरदार वहाँ उपस्थित था। उसने कुँवर मानसिंह से कहा कि, "जब आप वापस आवें तो अपने फूफा को भी साथ ले आवें।" इसके अतिरिक्त सूर्यमल्ल मिश्रण ने अपने 'वंश भास्कर' में भी यही बात दोहरायी है और राजस्थान में सर्वत्र यही कहानी परम्परा से प्रचलित है। परन्तु 'जयसिंह चरित्र' में राम कवि ने यह लिखा है कि महाराणा प्रताप को समझाने के लिये पहले राजा भगवानदास गया था और उसके बाद कुँवर मानसिंह गया परन्तु इससे ऐतिहासिक तथ्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिये अबुल फ़ज़ल का यह कथन की महाराणा प्रताप ने शाही खिल्लत धारण कर लिया था और अपने पुत्र कुँवर अमरसिंह को अकबर के दरबार में भेजा था, मानने के योग्य नहीं है। दूसरे स्रोतों से भी प्रकट होता है कि प्रथम बार कुँवर करणसिंह, अमरसिंह का पुत्र, ही जहाँगीर से अजमेर में मिला था।

एक दृष्टिकोण से कुँवर मानसिंह की सलाह व्यावहारिक और समयानुकूल थी। उसका कहना था कि दूसरे राजपूत राज्यों ने अकबर का आधिपत्य स्वीकार कर लिया है। इसलिये मुग़ल शक्ति के विस्तार का विरोध अब सफ़ल नहीं हो सकता और अधीनता प्रकट करने के अतिरिक्त और कोई दूसरा लाभदायक मार्ग नहीं है। जहाँगीर ने अपनी आत्मजीवनी में और सर टॉमस रो ने अपने भारतीय वृतान्त में भी लिखा है कि महाराणा प्रताप ने कुँवर मानसिंह की व्यावहारिक और हितकारी सलाह नहीं मानी। महाराणा प्रताप की दृष्टि लाभ पर नहीं थी। वह आत्म-सम्मान को सबसे अधिक मूल्यवान समझता था और उसकी रक्षा के लिये सब प्रकार के संकट सहने के लिये तैयार था। इसलिये अकबर की शक्ति और सम्पदा से वह आकर्षित नहीं हुआ। मानसिंह और उसके पिता भगवानदास दोनों ने प्रताप को समझाने का प्रयास किया कि संकटाकुल मार्ग का अनुसरण नहीं किया जाय। अकबर का विरोध करने से निरन्तर संघर्ष करना पड़ेगा और

घोर रक्तपात होगा। महाराणा ने मानसिंह के प्रस्ताव को ही नहीं ठुकराया बल्कि उसका अपमान भी किया। स्वभावत: ही कुँवर मानसिंह को महाराणा प्रताप का रुख़ पसन्द नहीं आया और वह अप्रसन्न होकर चल दिया। उसने सारा वृतान्त सारांशत: या विस्तारपूर्वक अकबर को सुनाया होगा। अबुल फ़ज़ल ने मानसिंह और महाराणा प्रताप की परस्पर वार्ता का सारांश दिया है। यह तत्वत: ठीक मालूम होता है परन्तु अमरसिंह के शाही दरबार में उपस्थित होने की बात मनगढ़न्त है। यह अकबर को खुश करने के लिये लिखी गई थी। यह सम्भव है कि कुँवर मानसिंह के साथ मेवाड़ से किसी छोटे सरदार का पुत्र चला गया हो जिसे अकबर के दरबार में अमरसिंह बतलाकर उपस्थित कर दिया गया हो और अकबर को इसका पता भी न लगा हो।

महाराणा के रुख से अकबर बड़ा क्रुद्ध हुआ। मानसिंह स्वयं भी प्रताप के दुर्व्यवहार को नहीं भुला सकता था। वह पिछली घटना को याद करके मन ही मन जला करता था। मानसिंह की वार्ता निष्फल हो गई थी। यह उसकी हार और अयोग्यता मानी जाती थी। इसलिये वह इस कलंक को मिटाना चाहता था। उधर महाराणा प्रताप अपनी शक्ति बढ़ा रहा था और अपने पिता के समय की क्षति की पूर्ति करने के प्रयास करने में लगा हुआ था। अपने राज्य से सटे हुए कुछ शाही प्रदेश भी उसने दबा लिये थे। इसके अतिरिक्त मेवाड़ सूरत से दिल्ली के मार्ग पर स्थित था। इसलिये अकबर मेवाड़ की उपेक्षा नहीं कर सकता था। वह जानता था कि जब तक मेवाड़ पर उसका आधिपत्य न हो जाय, तब तक उसकी सत्ता अपूर्ण रहेगी। साथ ही कुँवर मानसिंह भी यथावसर उसको प्रताप के विरुद्ध उकसाया करता था। तथापि तीन वर्ष तक मानसिंह को प्रतीक्षा करनी पड़ी। इस अर्से में अकबर के सामने बड़े महत्वपूर्ण प्रश्न थे। उनका हल किये बिना वह मेवाड़ पर आक्रमण करने की बात नहीं सोच सकता था। तो भी महाराणा के उत्पातों को दबाने और सीमित करने में छोटे-छोटे शाही सेनापति लगे हुए थे। अकबर का यह ख़्याल था कि इस प्रकार सताये जाने पर महाराणा लम्बे अर्से तक नहीं डट सकेगा और आदेश मानने पर तैयार हो जायेगा परन्तु महाराणा प्रताप साधारण मिट्टी का बना हुआ व्यक्ति नहीं था। इसलिये अकबर की आशा पूर्ण नहीं हो सकी। अन्त में अप्रैल 1776 में अकबर ने निश्चय कर लिया कि महाराणा को शाही आज्ञा मानने के लिये विवश किया जाये और इस हेतु साम्राज्य के सब साधनों का उपयोग किया जाए। इस उद्देश्य से अकबर ने सारे प्रदेश का पुन: अध्ययन किया। चित्तौड़गढ़ को उसने 1568 में ही जीत लिया था और मेवाड़ का शासक, महाराणा उदयसिंह अपनी रक्षा करने के लिये पहाड़ों में चला गया था और फिर उदयपुर से उत्तर पश्चिम में गोगून्दा नामक एक छोटे से कस्बे को अपनी राजधानी बनाकर रहने लगा था। इसके सब ओर सघन वन था और ऊँची-ऊँची पहाड़ियाँ थीं, जो समुद्र से 2757 फीट ऊँची हैं। अबुल फ़ज़ल लिखता है कि महाराणा प्रताप पर चढ़ाई करने के लिये मानसिंह को 5,000 सेना दी गई, परन्तु यह संख्या अत्यन्त अल्प और हास्यास्पद है। अकबर जानता था कि कुँवर मानसिंह साधारण विरोधी से सामना करने नहीं जा रहा था। वह महाराणा प्रताप का दमन करने के लिये भेजा जा रहा था जिसके

साहस और शौर्य की धाक खूब फैल चुकी थी। इसलिये मानसिंहको काफ़ी बड़ी सेना दी गई होगी। राजस्थान में ऐसा प्रसिद्ध है कि मानसिंह के साथ 40,000 सेना थी। वह भी अत्युक्ति प्रतीत होती है। हमारा ऐसा अनुमान है कि मानसिंह के साथ लगभग 10,000 सेना होगी। खाफ़ी खाँ ने 5,000 बतलाई है।

कुँवर मानसिंह का लक्ष्य था 'गोगून्दा'। इसलिये उसने माण्डलगढ़ को अपना संचालन केन्द्र बनाया। यहाँ से उदयपुर होकर गोगून्दा का मार्ग था। दूसरा मार्ग दक्षिण-पश्चिम की ओर बनास नदी के सहारे-सहारे समतल भूमि पर ख़मनौर तक जाता था जो गोगून्दा से उत्तर-पूर्व की ओर सोलह मील के अन्तर पर स्थित है। इस मार्ग में जल का भी अभाव नहीं था इसलिये मानसिंह ने इसी रास्ते से कूच किया।

❑

संस्कृति का स्वरूप

संस्कृति के स्वरूप को स्पष्ट करने तथा उसे परिभाषित करने के लिए विभिन्न विद्वानों ने अनेक दृष्टियों से अपने-अपने अभिमत प्रकट किये हैं। मत-मतान्तरों का यह वैविध्य इसलिए भी सम्भव और स्वाभाविक दिखायी देता है कि संस्कृति का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक और गहन है। उसकी इस व्यापकता को दृष्टि में रखकर उसको किसी परिभाषा में बाँधना कदाचित अत्यन्त कठिन है। सामान्यत: यही कहा जा सकता है कि समस्त मानव-समाज के विकास की व्यष्टिमय तथा समष्टिमय उपलब्धियाँ ही संस्कृति है। यह संस्कृत शब्द अपने आप में अधिक प्राचीन नहीं है, बल्कि यों कहना चाहिए कि वह आधुनिक युग की देन है। इस दृष्टि से उसका अधिक महत्त्व बढ़ गया कि आधुनिक युग के समस्त भारतीय साहित्य में उसको व्यापक दृष्टि से अपनाया गया और इसीलिए आधुनिक युग के विद्वानों द्वारा ही उस पर विचार हुआ।

यदि उसकी व्युत्पत्ति की दृष्टि से उस पर विचार किया जाय तो 'सम' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु से संस्कृति पद निष्पन्न होता है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर संस्कृति पद उस अर्थ का द्योतक है, जो समस्त मानवता को विशेषता प्रदान करता है। मानवता को विशिष्ट बनाने वाले उसके आदर्श तथा उसकी परम्पराएँ और मान्यताएँ हैं। जिन विद्वानों ने समस्त सीखे हुए व्यवहार को संस्कृति की संज्ञा दी है, उनका आशय भी यही प्रतीत होता है कि मनुष्य ने परम्परा द्वारा आचार-विचार और रहन-सहन की जिन मान्यताओं को ग्रहण तथा प्रशस्त किया, उन्हीं ने उसे सामान्य से विशिष्ट बनाया और इसीलिए वे ही संस्कृति के मूल उपादान हैं।

'संस्कृति' अर्थात् 'समृ (उत्तम)+कृति (चेष्टाएँ)। यदि संस्कृति का आशय उत्तम कृति (उपलब्धि) या सम्यक् चेष्टाएँ (अभिव्यक्तियाँ) है तो निश्चित ही उसका सम्बन्ध मनुष्य शरीर, प्राण,मन,बुद्धि आदि से है। इस दृष्टि से हमारी सर्वोत्तम उपलब्धियाँ या अभिव्यक्तियाँ श्रुति-स्मृति-पुराण आदि ही सिद्ध होती हैं। उनके निर्देश एवं विधान ही सम्यक् चेष्टाएँ हैं। अत: वे उत्तम अभिव्यक्तियाँ ही संस्कृति हैं, जिनके द्वारा मानवता को सतत ही विशिष्टता प्राप्त होती रही है- भौतिक भी, आधिभौतिक भी और आध्यात्मिक भी।

हल्दी घाटी का युद्ध

मानसिंह और महाराणा प्रताप में हल्दी घाटी का युद्ध हुआ। महाराणा प्रताप अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिये लड़ा था और कई राजपूत जातियों के सरदारों ने उसका साथ दिया इस युद्ध में किसी भी पक्ष की हार या जीत नहीं हुई। महाराणा प्रताप को शाही सेना न पकड़ सकी और न मार सकी और न आहत कर सकी। इसलिये उसका यश और गौरव बहुत फैला और हल्दी घाटी राजस्थान के इतिहास में बहुत बड़ी घटना मानी जाने लगी।

हल्दी घाटी नाथद्वारा से लगभग 11 मील दक्षिण-पश्चिम में है। गोगून्दा और खमणोर के बीच बड़ी विकट पहाड़ियाँ हैं। इनमें एक तंग घाटी है जो हल्दी घाटी कहलाती है। यहाँ की मिट्टी का रंग हल्दी जैसा है। इसलिये इसका नाम हल्दी घाटी हो गया है। यहाँ पहुँचने के लिये दो मार्ग है- एक उदयपुर होकर और दूसरा नाथद्वारा होकर। उदयपुर का मार्ग बड़ा विकट हैं। इस मार्ग में पर्वत श्रेणियाँ हैं। सुगम मार्ग नाथद्वारा होकर। नाथद्वारा से अनुमानतः 8 मील पर खमणोर गाँव है और वहाँ से 3 मील पर हल्दी घाटी है। नाथद्वारा से चलने पर बनास नदी को दो स्थानों पर पार करना पड़ता है और इसके सात मील दक्षिण की ओर खमणोर है जहाँ पहिले मेवाड़ के कलक्टर का दफ़्तर रहा करता था। यहाँ से 3 मील तक टेढ़ा-बाँका रास्ता है जो दक्षिण की ओर जाता है। इस पर नाम को भी कोई वृक्ष नहीं है, केवल पथरीली भूमि है। इसके बाद एक चौरस मैदान आता है जो सब ओर पहाड़ियों से घिरा हुआ है। इसमें जहाँ-जहाँ आम और बबूल के वृक्ष हैं। रेत और पहाड़ियों में होकर यहाँ पहुँचने पर आँखों को कुछ शान्ति मिलती है। एक तरफ से एक पहाड़ी से एक चश्मा निकलता है जिसके जल से रास्ते के दाहिनी ओर के छोटे-छोटे खेतों की सिंचाई होती है। इस मैदान में दो तीन हज़ार लोग तम्बू लगाकर रह सकते हैं। आगे चलकर पहाड़ियाँ सिकुड़ जाती हैं और कुछ सौ गज तक इसी प्रकार चली गई हैं। इनके बाद बहुत तंग हो गई हैं। इसे हल्दी घाटी कहते हैं। इसकी लम्बाई तीन मील है और चौड़ाई इतनी कम है कि दो सवार बराबर 2 नहीं चल सकते और कहीं-कहीं तो इतनी तंग है कि केवल एक प्यादा ही आगे बढ़ सकता है। इसके दोनों ओर की पहाड़ियाँ एक दम ऊँची हो गई हैं जिन पर काँटेदार घास और झाड़ियाँ हैं। कहीं-कहीं पहाड़ियों पर कुछ भी नहीं है। यह तंग मार्ग कहीं ऊँचा और कहीं नीचा है और जहाँ-तहाँ पत्थरों पर चढ़कर जाना पड़ता है। तीन मील के पश्चात् यह घाटी समाप्त हो जाती है और मैदान आ जाता है। यहाँ से गोगून्दा पहुँचने का रास्ता है।

जब महाराणा प्रताप ने सुना कि मानसिंह खमणोर आ पहुँचा है तो वह गोगून्दा से रवाना हुआ। वह चाहता था कि मानसिंह उसकी वर्तमान राजधानी पर आक्रमण करे उससे पहले से उस पर प्रहार किया जाये। 18 जून, 1576 को महाराणा प्रताप की सेना हल्दी घाटी पार करके शत्रु के शिविर पर कूच करने के लिये निकली। महाराणा प्रताप, मानसिंह को एक साधारण जमीनदार मानता था। मानसिंह के पूर्वज मेवाड़ के महाराणाओं के अधीन रह चुके थे। कुमार मानसिंह को अकबर ने इसलिये भेजा था कि महाराणा प्रताप अधिक लज्जा और प्रतिष्ठा के ख्याल से लड़ाई में सामने आ जाय और

युद्ध में मारा जाय। जब कुमार मानसिंह अजमेर से चलकर मांडलगढ़ पहुँचा तभी महाराणा प्रताप वहाँ पहुँचकर उससे युद्ध करना चाहता था। वह कुमार मानसिंह को इसलिए तुच्छ समझता था कि महाराणा कुम्भा के समय में आमेर का राज्य चित्तौड़गढ़ के अधीन था और आमेर नरेश पृथ्वीराज राणा साँगा की ओर से बाबर से लड़ा था। भारमल का पुत्र भगवानदास भी पहिले उदयसिंह का सामन्त था। जब भारमल (बिहारीमल) ने अकबर की सेवा करना स्वीकार किया, तब से आमेर के नरेशों ने मेवाड़ की अधीनता छोड़ी थी।

महाराणा की सेना में ग्वालियर का रामसिंह तँवर अपने दो पुत्रों के साथ था। भामाशाह और उसका पुत्र ताराचन्द, झाला मानसिंह (सज्जावत), झाला बीदा (सुल्तानीत), सोनगरा मानसिंह (अक्षयराजोत), डोडिया भीमसिंह, रावत कृष्णदास (चूड़ावत), रावत नेतसिंह (सारंगदेवोत), रावत साँगा, राठौड़ रामदास (बदनौर के प्रसिद्ध जयमल का सातवाँ पुत्र), मेरपुर का राणा कुन्जा, पुरोहित गोपीनाथ, पुरोहित जगन्नाथ, परिहार कल्याण, बछावत महत्ता जयमल, महत्ता रतनचन्द खेतावत, महासानी जगन्नाथ, राठौड़ शंकरदास चारण जैसा और केशव (सौदा बारहठ) आदि विद्यमान थे। इनके अतिरिक्त हकीम खाँ सूरी भी राणा के पक्ष से लड़ा था। युद्ध के पूर्व एक दिन महाराणा प्रताप को उसके गुप्तचरों ने सूचना दी कि मानसिंह कुछ मित्रों को साथ लेकर शिकार में गया हुआ है। महाराणा के सामन्तों ने आक्रमण करने का यह बहुत अच्छा अवसर समझा और उससे निवेदन किया कि एकदम आक्रमण करके शत्रु को समाप्त कर देना चाहिये, परन्तु उन्हें उत्तर मिला कि इस प्रकार छल-घात करके शत्रु को मारना क्षत्रियोचित कार्य नहीं है।

हल्दी घाटी से कुछ ही दूर खमणोर के निकट दूर 1576 में कुँवर मानसिंह और महाराणा प्रताप में युद्ध हुआ। इस युद्ध में मन्तखुब-उत्त-तवारिख का लेखक अल-बदायूनी स्वयं सम्मिलित था। उसने इसका आँखों देखा वर्णन लिखा है। वह लिखता है कि-

"जब मानसिंह और आसिफ़ खाँ गोगून्दा से 7 कोस पर घाटी के पास शाही सेना सहित पहुँचे तो राणा लड़ने के लिये आया। मानसिंह एक बड़े हाथी पर सवार होकर अपनी सेना के मध्य मे जम गया। उसके साथ ख्वाजा मोहम्मद बदखशी, शियाबुद्दीन गुरोह, पायन्दाह कज्ज़ाक, अली मुराद उजबक और राजा लूणकरण थे। इनके अतिरिक्त बहुत से शाही सवार भी थे। बहुत से प्रसिद्ध सैनिक हरावल में आगे थे। कुछ चुने हुए 80 सैनिक सैयद हाशिम बारहा के नेतृत्व में हरावल से आगे भेजे गये थे। सैयद अहमद खाँ बारहा अन्य सैयदों के साथ दक्षिण पार्श्व में था। शेख इब्राहिम चिश्ती के रिश्तेदार अर्थात् सीकरी के शेखजादों सहित काजीखाँ बाएँ ओर था और मिहतर खाँ सेना के पीछे के भाग (चन्दावल) में था। राणा प्रताप हल्दी घाटी के पीछे से निकला और उसने अपनी सेना के दो भाग किये- एक विभाग का सेनापति हकीम सूरी अफ़गान था। उसने पहाड़ियों में से निकलकर शाही सेना की हरावल पर आक्रमण किया। मार्ग बड़ा दुर्गम और काँटेदार था जिससे शाही सेना की हरावल की बुरी पराजय हुई। शाही सेना के राजपूत भेड़ों के झुंडों की तरह भाग निकले। इनका मुखियाँ लूणकरण था। ये लोग आत्मरक्षार्थ दक्षिण-पार्श्व की ओर दौड़े। इस स्थिति में मैं हरावल के पास था। मैंने आसिफ खाँ से पूछा कि हम अपने और शत्रु पक्ष के राजपूतों की पहचान कैसे करें। आसिफ खाँ ने उत्तर दिया कि तुम तो तीर चलाये जाओ। चाहे जिधर के राजपूत मारे जाये, इस्लाम को तो लाभ ही है। इसलिये हम तीर चलाते रहें। भीड़ इतनी थी

कि हमारा एकतीर भी निष्फल नहीं हुआ। और मुझे बहुत से हिन्दुओं को मारने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस युद्ध में सैयदों ने और अन्य कितने ही वीरों ने रुस्तम की सी वीरता दिखाई। दोनों पक्षों के इतने सैनिकों ने वीरगति प्राप्त की कि रणभूमि वीरों की लाशों से पट गई।

''राणा प्रताप सेना के दूसरे विभाग का स्वयं संचालन कर रहा था। उसने घाटी से निकलकर काजीखाँ की सेना पर आक्रमण किया। यह सेना घाटी के द्वार पर खड़ी हुई थी। राणा प्रताप इस सेना का संहार करते हुआ उसके बीच पहुँच गया। इससे सीकरी के समस्त शेखजादों में भगदड़ मच गई। उसका मुखिया शेख़ मन्सूर एक तीर लगने से आहत हो गया और उस घाव के भरने में बहुत अर्सा लगा। काजीखाँ जन्म से सैनिक नहीं था। वह मुल्ला था, फिर भी कुछ समय तक वह लड़ता रहा। फिर उसके दाहिने हाथ का अँगूठा तलवार से कट गया और वह अपने अन्य साथियों की भाँति भाग गया।

''हमारी (शाही) सेना प्रथम आक्रमण के समय ही खेत छोड़ भागी थी और नदी बनास को पार करके वह 5-6 कोस तक पहुँच गई थी। इन विनाश के समय मिहतर खाँ आगे गया। वह शाही सेना के पृष्ठ भाग का नेता था। उसने ढोल बजाकर सैनिकों को एकत्र किया। इससे स्थिति एकदम बदल गई। अब तक तो राणा प्रताप की विजय होती हुई दिखाई देती थी परन्तु एकाएक शाही सेना जीतने लगी। मिहतर खाँ ने यह बात फैलाई कि बादशाह बहुत बड़ी सेना लेकर आ पहुँचा है। इससे राणा प्रताप की सेना का साहस भंग हो गया (अकबरनामा, इं., जिल्द 3 पृष्ठ 246)। इस युद्ध में राजा मान के पौत्र रामसिंह ने ऐसी वीरता दिखाई जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। राजा मान को बाबर ने अपने पैतृक दुर्ग ग्वालियर से निकाल दिया था। तभी से उसके वंश में मुगलों के प्रति घोर शत्रुता का भाव चला आ रहा था। रामसिंह के आक्रमण से मानसिंह की हरावल के वाम पार्श्व के राजपूत भागने लगे। इस समय आसद खाँ को भी भागना पड़ा। इन सबने हरावल के दाहिनी ओर भागकर वीर सैयदों की शरण ली। यदि सैयद लोग दृढ़ता से नहीं डटे रहते तो शाही सेना की बड़ी दुर्दशा होती क्योंकि हरावल के लोगों ने भाग कर बहुत बुरी स्थिति उत्पन्न कर दी थी।

अलबदायूँनी का स्थान आसफखाँ के पास था। जब आसिफखाँ भागा तो अल बदायूँनी भी उसके साथ भागा होगा। परन्तु वह इस बात का स्वयं उल्लेख नहीं करता।

''इसके बाद हाथियों की लड़ाई शुरु हुई (जो उस समय आधुनिक टैंकों का काम करते थे)। दोनों सेनाओं के मस्त हाथी एक दूसरे से खूब लड़े। हाथियों का दारोगा हुसैन खाँ भी इस लड़ाई में सम्मिलित हो गया। मानसिंह स्वयं महावत की जगह पर जा बैठा और उसने अपने हाथी को खूब लड़ाया।'' अकबरनामे में अबुल फ़ज़ल ने हाथियों की लड़ाई का वर्णन किया है। वह लिखता है कि दोनों ओर की सेनाओं के योद्धा अपने जीवन की चिन्ता नहीं करते थे। वे सम्मान चाहते थे। पुरुषों की भाँति हाथी भी वीरतापूर्वक लड़े। राणा की सेना में एक लूणा हाथी था जो शत्रु पंक्ति को तोड़ने में कुशल था। इससे लड़ने के लिए शाही सेना का गजमुक्ता हाथी आगे बढ़ाया गया। इसका महावत जमाल खाँ फौजदार था। शाही हाथी घायल होकर भागने वाला था कि राणा के हाथी का महावत गोली से मारा गया और हाथी वापस लौट गया। फिर राणा का रामप्रसाद नामक हाथी आगे आया। वह बड़ा ही लड़ाकू हाथी था। इसने कितने ही साथियों को धराशाही कर दिया। फिर गजराज नामक शाही हाथी सामने आया। इसके बाद एक और दूसरा हाथी लाया गया जिसका नाम रण मदार था। यह

शाही हाथी भी भागने वाला ही था कि रामप्रसाद हाथी का महावत तीर से मारा गया। तब यह हाथी पकड़ लिया गया (अकबरनामा इं. जिल्द 3 पृष्ठ 245-46)।''इस युद्ध में राठौड़ रामदास (प्रसिद्ध जयमल का पुत्र) और ग्वालियर का राजा रामशाह लड़ते-लड़ते मारे गये। रामशाह के साथ उसका पुत्र शालिवाहन भी वीरतापूर्वक लड़ता हुआ काम आया। तँवर वंश की तो समाप्ति हो गई। उसका एक भी वीर पुरुष नहीं बचा। जब राणा ने माधवसिंह कछावा पर जो मानसिंह का बड़ा भाई था वार करना चाहा तो राणा पर तीरों की वर्षा होने लगी। इस समय हक़ीम ख़ाँ सूरी ने भी बड़ी वीरता का कार्य किया। इस प्रकार राणा की सेना के दोनों विभाग एकत्र हो गये। फिर राणा लौटकर पहाड़ों में भाग गया। चित्तौड़गढ़ की विजय के बाद वहीं रहा करता था। यह उसका दुर्भेध्य किला था। इस समय गर्मी का मौसम था और युद्ध के दिन तो ऐसी प्रबल तपन थी कि दिमाग भी उबल रहे थे। लू आग के समान चल रही थी। शाही सैनिकों में अब चलने फिरने की भी शक्ति नहीं थी। यह भी खबर फैल गई थी कि राणा छल के साथ पहाड़ के पीछे घात लगाये खड़ा है। इससे हमारे सैनिकों ने राणा का पीछा नहीं किया और शिविर में वापिस आकर आहतों की चिकित्सा में लग गये। इस युद्ध में पाँच सौ आदमी मारे गये। जिनमें 120 मुसलमान और शेष हिन्दू थे। 300 से भी अधिक मुसलमान आहत हुये थे।

शाही सेना में मुसलमानों की अपेक्षा कछावा राजपूत अधिक थे। इसलिए दोनों पक्ष के हिन्दू ही अधिक मारे गये होंगे।

''दूसरे दिन रण खेतों को देखा गया। हम हल्दीघाटी से गोगून्दा पहुँचे। वहाँ महलों के कुछ पहरेदार और मन्दिर के लोग थे। इनकी संख्या बीस के लगभग थी। अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा करने के लिये ये बीसों ही आदमी हमारी सेना से लड़ कर कट मरे। अमीरों को यह भय था कि कहीं रात में राणा प्रताप उन पर प्रहार न कर दे। इसलिए उन्होंने गाँव के चारों तरफ मिट्टी की इतनी ऊँची दीवार बनवा दी जिसको सवार न फाँद सके। इसके पश्चात् मारे हुए सैनिकों और घोड़ों की सूची बादशाह के पास भेजने के लिए तैयार की जाने लगी, तब सैयद अहमद ख़ाँ बरहा ने कहा ''इस सूची से क्या लाभ है। इस समय तो खाद्य पदार्थों का प्रबन्ध करना चाहिए। यह इलाका पहाड़ी है। यहाँ न तो अन्न उत्पन्न होता है और न बनजारे आते हैं। हमारी सेना भूख से तड़प रही है।'' तब अमीर लोग खाद्य पदार्थों की प्राप्ति का विचार करने लगे। विभिन्न अमीरों की अध्यक्षता में अन्न एकत्र करने के लिए सैनिक भेजे गये। इस समय सब लोगों को जानवरों के माँस और आम के फलों पर निर्वाह करना पड़ा।

एक दिन में शाही रसद क्यों समाप्त हो गई और शाही सेना भूख के मारे क्यों बिलबिलाने लगी, इसका कोई कारण होना चाहिए। यह सम्भव है कि लड़ाई के दिन महाराणा के राजपूतों ने सेना का अन्न लूट लिया हो और चारों ओर के मार्ग बन्द कर दिये हों।

''बादशाह ने तुरन्त ही महमूद ख़ाँ को गोगून्दे जाने का आदेश दिया। उसने रणभूमि का निरीक्षण किया और वापस जाकर प्रत्येक सैनिक के कार्यों का वृत्तान्त सुनाया। इसमें कुछ सुनी सुनायी बातें भी थीं। यह सुनकर बादशाह कुछ प्रसन्न तो हुआ परन्तु उसको इस बात पर बड़ा क्रोध आया कि राणा का पीछा करके उसे मार क्यों न डाला। अमीरों ने भी विजय वृत्तान्त लिख कर भेजा और उसके साथ ही रामप्रसाद हाथी को भी रवाना किया। आसिफ ख़ाँ की सलाह से मुझे उसके साथ रवाना किया गया। मैं ही इसके योग्य था और मुझे अपने धार्मिक विचारों के कारण ही लड़ने के लिये भेजा गया था, मानसिंह ने कहा कि अभी तो तुमको बहुत काम

करना है। प्रत्येक युद्ध में तुझको हरावल में लड़ना है। तब मैंने उत्तर दिया कि मैं तो मुर्शीद हूँ, और मेरा काम समाप्त हो चुका है। मैं तीन सौ सवारों के साथ रामप्रसाद हाथी को लेकर रवाना हुआ और कुँवर मानसिंह मोही गाँव तब 20 कोस, शिकार खेलता हुआ मेरे साथ आया। मार्ग में उसने स्थान-स्थान पर शाही थाने नियत कर दिये। फिर मुझको मानसिंह ने बादशाह के नाम पर सिफारशी पत्र दिया। मैं बागौर, मांडलगढ़, आमेर, टोड़ा और भुसावल होता हुआ फतेहपुर पहुँचा। वहाँ राजा भगवन्तदास ने मुझे बादशाह के सामने हाज़िर किया। तब मैंने पत्र और हाथी बादशाह के नज़र किये। बादशाह ने उस हाथी का नाम बदल कर पीर प्रसाद रखा। बादशाह ने प्रसन्न होकर मुझे 96 अशरफ़ियाँ प्रदान की।''

उपरोक्त वर्णन से प्रगट होता कि हल्दी घाटी की लड़ाई में महाराणा का पक्ष प्रबल रहा और मानसिंह युद्ध के बाद कितने ही दिन तक भयभीत रहा। इस युद्ध के सम्बन्ध में मुसलमान अपनी विजय बतलाते हैं और हिन्दू लेखक अपनी विजय मानते हैं। उदयपुर के जगदीश मन्दिर पर शिलालेख है जो 1652ई. में लिखा गया था, इसमें लिखा है कि जब राणा प्रतापसिंह प्रातःकाल अपने प्रिय खड्ग को लेकर युद्ध में उपस्थित हुआ तो मानसिंह की सेना खण्डित होकर अपने पैरोंको संकोचती हुई वापिस फिर गई।

विचारने की बात यह है कि महाराणा प्रताप एक छोटे से देश का राजा था। मेवाड़ के बड़े-बड़े राजपूत सामन्तों में से कुछ बहादुरशाह गुजराती के घेरे के समय और फिर अकबर के घेरे के समय वीरगति प्राप्त कर चुके थे। अब प्रताप के पास इने गिने स्वामीभक्त सामन्त रह गये थे। चित्तौड़गढ़ की विजय के बाद ही मेवाड़ के समस्त पूर्वी उपजाऊ प्रदेश पर अकबर ने अपना अधिकार कर लिया था। महाराणा प्रताप के हाथ में अब केवल मेवाड़ का पश्चिमी प्रदेश था जो पहाड़ी और वीरान सा है। प्रताप को अकबर का सामना करना था जो तत्कालीन संसार में सबसे अधिक सम्पन्न और एश्वर्यवान बादशाह था। परन्तु प्रताप अपने व्रत पर अटल था, उसका कुलाभिमान उसको झुकने नहीं देता था। अनेक विपत्तियाँ उठाने पर भी उसका उत्साह भंग नहीं हुआ था। उसी के समान उसके अवशिष्ट सामन्त भी बड़े धर्मनिष्ठ और देशाभिमानी थे। इसलिए प्रतापसिंह ने अपनी छोटी सी सेना के साथ मानसिंह के नेतृत्व में आई शाही सेना का सामना किया था, जो प्रताप की सेना से लगभग दुगनी थी। वास्तव में यह आश्चर्य की बात है कि प्रताप ने शाही सेना को तितर-बितर करके कई मील तक भगा दिया। अन्त में मिहतर खाँ की युक्ति और उक्ति ने सारी स्थिति अचानक ही पलट दी और प्रताप की विजय एक प्रकार की पराजय में परिणित हो गई। परन्तु प्रताप का पराजय भी मानसिंह की विजय से अधिक कीर्तिकर था। इसलिए हल्दीघाटी हिन्दुओं का तीर्थ बन गया।

शाही सेना की ऐसी दुर्दशा हुई कि वह प्रताप के हट जाने पर भी उसका पीछा नहीं कर सकी और यह कल्पना करके त्रस्त हो गई कि कहीं राणा पहाड़ के पीछे से हमला न कर दे। गोगून्दा पहुँचने पर भी शाही सेना मिट्टी की दिवार बनाकर उसमें छिपी रही और केवल आम खाकर दिन काटती रही।

हल्दीघाटी की लड़ाई के बाद महाराणा आहत लोगों को कोल्यारी नामक गाँव में ले गया और वहाँ उनकी चिकित्सा करवाई। उसने राजूपतों और भीलों के द्वारा सारे पहाड़ी नाके रोक दिये। इसलिए गोगून्दा में कोई रसद नहीं पहुँच सके। कुँवर मानसिंह चार मास तक गोगून्दे में पड़ा रहा। 29 सितम्बर, सन् 1576 को बादशाह अजमेर आया

और वहाँ से सुलतान ख्वाज़ा को मेवाड़ की ओर रवाना किया। उसके साथ कुतुबुद्दीन मोहम्मद खाँ, कुलीच खाँ और आसिफ़खाँ थे। इनको यह आदेश दिया गया कि ख्वाज़ा गोगून्दे में रहे और शेष तीनों सरदार अपनी सेनाओं के साथ राणा के देश में सब जगह घूमें और जहाँ उसका पता लगे वहीं उसको मार दे। परन्तु राणा प्रताप का पता नहीं लगा और वे कुछ न कर सके। बादशाह ने आसिफ़ खाँ और काज़ी खाँ को आदेश भेजा कि गोगून्दा छोड़कर शीघ्र चले आवें। आसिफ खाँ और मानसिंह की ड्योढ़ी बन्द कर दी गई। अकबर का ख्याल था कि इन दोनों ने सेना का संचालन भली-भाँति नहीं किया। परन्तु यदि अकबर स्वयं हल्दीघाटी में होता तो उसको पता लगता कि महाराणा और उसके सामन्त भयंकर सिंहों की भाँति लड़े थे। सत्य और स्वाभिमान से प्रेरित होकर लड़ने वाले योद्धाओं के सामने वेतन भोगी राजपूत या मुसलमान क्यों टिक सकते थे। केवल मिहतर खाँ की कपटकला ने उनकी किंचित लाज रखली थी।

अकबर की सेना गोगून्दे में मिट्टी की प्राचीर के अन्दर बन्द थी। मार्ग की अनेक विपत्तियाँ सहन करके स्थान-स्थान पर लड़ती-फिरती यह सेना अजमेर में बादशाह के पास पहुँचीऔर महाराणा ने बादशाही थाने समाप्त करके स्थान-स्थान पर अपने थाने रख दिये और वह स्वयं कुम्भलगढ़ चला गया। इस प्रकार मुँह की खाने पर अकबर की क्रोधाग्नि और धधक उठीऔर प्रताप का दमन करने के लिये वह योजनायें बनाने लगा। ❑

एडवर्ड सप्तम का भारत में राज्याभिषेक

1 जनवरी 1902 को एडवर्ड सप्तम का दिल्ली में राज्याभिषेक उत्सव हुआ। दीवान और कुछ सरदारों के साथ महाराज उम्मेदसिंह जी इसमें सम्मिलित हुए। दिल्ली के रेल्वे स्टेशन पर इनका विधिपूर्वक स्वागत किया गया। उत्सव के प्रत्येक मुख्य कार्य में ये सम्मिलित हुये और बीस दिन दिल्ली ठहर कर वापस कोटा आये। दिल्ली में ही इनको सूचना मिली कि सम्राट एडवर्ड ने इनको देवली फ़ौज में ऑनेरेरी मेजर का दर्जा प्रदान किया है। कोटा वापस आकर महाराज उम्मेदसिंह ने अपने राज्य में इस अवसर पर उपलक्ष्य में खुशियाँ मनाईं। एक सौ एक तोपें चलीं। एक सौ आठ कैदी छोड़े गये। दीनों को भोजन करवाया गया। पुण्यदान किया। आतिशबाजी चलाई गयी और शहरमें दीपावली की गयी। इस अवसर को चिरस्मरणीय बनाने के लिए सन् 1899 के अन्त तक जो भूमि कर बाकी था, वह सब छोड़ दिया गया। ऐसी बकाया रकम लगभग पचास लाख रुपये की थी। 26 जून, 1903 को दिल्ली दरबार के स्मारक स्वरूप सम्राट की ओर से महाराज उम्मेदसिंह को स्वर्णपदक तथा राय बहादुर चौबे रघुनाथदास दीवान, महाराजा माधोसिंह और कुँवर ओंकारसिंह पलायथा को रजत पट भेंट किये।'

— 'कोटा राज्य के इतिहास से' पृष्ठ 737

अकबर की बैर परम्परा

महाराणा प्रताप का देहान्त हुआ, उसी दिन उनका ज्येष्ठ पुत्र अमरसिंह 19 जनवरी, 1597 को उसकी गद्दी पर बैठा। अमरसिंह का जन्म 16 मार्च, 1559 को हुआ। इसलिए गद्दी पर बैठते समय उसकी अवस्था लगभग 38 वर्ष की थी। अमरसिंह को गद्दी पर बैठे हुए तीन वर्ष ही हुए थे कि अकबर ने 1600 में बहुत बड़ी तैयारी के साथ उस पर चढ़ाई करने का आयोजन किया। आक्रमणकारी सेना का नेतृत्व शाहजादा सलीम को दिया और मानसिंह आदि कई सरदारों को उसके साथ भेजा। मेवाड़ में घुसकर सलीम ने मांडलगढ़, मोही, नदारिया, कोसीथल, बागौर और ऊँटाला में शाही थाने स्थापित कर दिये और कई लडाइयाँ की। ऊँटाला के दुर्ग को अधीन करके कायम खाँ को वहाँ का दुर्गाध्यक्ष नियुक्त किया, तब महाराणा अमरसिंह ने ऊँटाले पर चढ़ाई की। इस समय वह प्रश्न उपस्थित हुआ कि सेना के अग्रभाग में चूड़ावत लड़ेंगे या शक्तावत। पहले यह गौरव चूड़ावत को दिया जाता था परन्तु अब इसको शक्तावत प्राप्त करना चाहते थे। दोनों के बल और साहस की परीक्षा करने के लिये महाराणा ने आदेश दिया कि जो ऊँटाले के गढ़ में पहिले प्रवेश करेंगे, सेनाग्र भाग या हरावल के नेतृत्व का गौरव भविष्य में उन्हीं को मिलेगा। इस आदेश की प्राप्ति पर चूड़ावत और शक्तावत दोनों अपनी सेना लेकर ऊँटाले की ओर चले। शक्तावत लोग पहले पहुँच गये और बल्लू शक्तावत दरवाजे पर पहले जा अड़ा। यह महाराणा प्रताप के भाई शक्तिसिंह का तीसरा पुत्र था। उसने महावत को हुक्म दिया कि हाथी से दरवाजा तुड़वाया जाय परन्तु हाथी दन्तहीन था, इसलिये दरवाजे के भालों पर टक्कर नहीं मार सका। तब बल्लू भालों पर खड़ा और गया और महावत से कहा कि हाथी से मेरे शरीर पर टक्कर लगाओ। महावत ने वैसा ही किया। इसी अर्से में चूड़ावत लोग भी आ पहुँचे। उनमें जैतसिंह (सलूम्बर) के सामन्तों का पूर्वज, सीढ़ी लगाकर दीवार पर चढ़ गया परन्तु गोली लगने से नीचे गिर पड़ा, तो उसने अपना सिर कटवाकर किले में फिकवा दिया और फिर अन्य चूड़ावत किले पर चढ़ गये। उधर दरवाज़ा टूट जाने पर शक्तावत लोग भी किले में प्रवेश कर चुके थे। क़िले के अन्दर घमासान युद्ध हुआ जिसमें कायम खाँ मारा गया। महाराणा ने हरावल का अधिकार चूड़ावत को ही दिया। इस युद्ध में रावत जैतसिंह, शक्तावत बल्लू और रावत तेजसिंह खंगारोत आदि बड़े-बड़े सरदारों ने वीर गति प्राप्त की। इस युद्ध के बाद महाराणाओं ने कई शाही थाने लूट लिये और वहाँ के अफ़सर भयभीत होकर भाग गये। शाहजादा सलीम निराश होकर बंगाल की ओर कूच कर गया। (राजप्रशस्ति महाकाव्य, सर्ग-5) इस युद्ध का वर्णन अबुल फ़ज़ल ने इस प्रकार किया है:-

''बादशाह ने शाहज़ादा सलीम को आदेश दिया कि राणा पर चढ़ाई करके उसे दंड दे परन्तु शाहज़ादा आरामपसन्द और मद्यप्रिय था और बुरी संगति में रहा करता था। आदेश के बाद भी वह कुछ दिन तक अजमेर में टिका रहा और फिर उदयपुर की ओर चला। महाराणा दूसरी दिशा से निकलकर मालपुरा की ओर चला गया और कई उपजाऊ इलाकों को उसने लूट लिया। तब शाहज़ादा सलीम ने माधोसिंह कछावा को आदेश दिया कि अपनी सेना के सहित उधर जावें परन्तु राणा ने माधोसिंह

का सामना नहीं किया और पहाड़ों में चला गया। जब शाही सेना लौट रही थी तो महाराणा ने उस पर आक्रमण किया। शाही सेना के नायकों ने दृढ़ता से उसका सामना किया जिसके कारण राणा वापस लौट गया तो भी शाहज़ादा सलीम को राणा का दमन करने में सफलता प्राप्त नहीं हुई। इसलिये वह पंजाब की ओर कूच करना चाहता था। इतने में उत्तर-पश्चिम में अफ़गानों का विद्रोह उठ खड़ा हुआ। इसलिये मानसिंह ने सलीम को सलाह दी कि उसको अफ़गानों के युद्ध में नहीं फँसना चाहिये। इसलिये शाहज़ादे ने उसकी सलाह स्वीकार करके बंगाल की ओर प्रस्थान किया। (अकबरनामा, जिल्द 6 पृ. 1155)।

जहाँगीर ने अपनी आत्मजीवनी में लिखा है कि, "मेरे पिता ने पिछले दिनों में दक्षिण पर चढ़ाई की और मुझे राणा के विरुद्ध कूच करने का आदेश दिया। मेरे साथ एक बड़ी सेना थी और कई विश्वासपात्र सरदार थे। परन्तु हम दोनों की ही चढ़ाइयाँ निष्फल रहीं। इसका कारण स्थानाभाववश में यहाँ नहीं बतला सकता" (तुजुक-ए-जहाँगीरी, जि. 1, पृ. 251)।

अकबर महाराणा का दमन करने पर तुला हुआ था। इसलिये उसने सलीम को फिर आदेश दिया कि मेवाड़ पर पुनः आक्रमण किया जाय। अबकी बार उसे और भी बड़ी सेना दी गई और उसके साथ जगन्नाथ कछावा, बीकानेर नरेश रायसिंह; माधोसिंह कछावा, राय दुर्गा, रायभोज और राय सिंह का पुत्र दलपतसिंह तथा विक्रमाजीत और दलपत आदि कई राजूपत सरदार भेजे गये। शाहज़ादे ने बादशाह की आज्ञा तो शिरोधार्य की परन्तु वह जानता था कि मेवाड़ पर चढ़ाई करना कितना दुष्कर है, इसलिये वह फतेहपुर के पास आकर ठहर गया और टालमटूल करने लगा और बादशाह को पत्र लिखा कि और अधिक सेना और धनरशि दी जाय, अन्यथा मुझे अपनी जागीर इलाहाबाद पर जाने की अनुमति प्रदान की जाय।

अकबर समझ गया कि सलीम में मेवाड़ पर चढ़ाई करने का साहस नहीं है। इसके बाद अकबर का विचार था कि शाहज़ादा खुसरो और राणा सगर को मेवाड़ पर चढ़ाई करने का आदेश दिया जाय परन्तु इतने में ही वह बीमार पड़ गया और सेना का प्रयाण स्थगित कर दिया गया।

15 अक्टूबर, 1605 को अकबर का आगरे में देहान्त हो गया और शाहज़ादा सलीम उसकी गद्दी पर बैठा। सिंहासन प्राप्त होते ही उसने मेवाड़ के विरुद्ध अपने पिता की नीति का अनुसरण किया और बीस हज़ार सेना देकर शाहज़ादा परवेज़ को मेवाड़ के विरुद्ध रवाना किया। उसके साथ कई बड़े-बड़े मुसलमान अमीरों को और जगन्नाथ कछावा, राणा सगर, माधोसिंह, रायसल शेखावत, महासिंह, मनोहरसिंह आदि राजपूत अफ़सरों को भी रवाना किया। जहाँगीर ने अपनी आत्मजीवनी में लिखा है कि "मैंने सोचा कि एक सेना शाहज़ादा परवेज़ की अध्यक्षता में राणा के विरुद्ध भेजूँ जिसकी हिन्दुस्तान के दुष्ट और कट्टर काफ़िरों में गणना है। मेरे पिता ने भी उस पर कई बार सेना भेजी परन्तु उस (राणा) ने हार नहीं मानी।" (जि. 1, पृ. 16)।

शाहज़ादा परवेज को आदेश दिया गया था कि यदि राणा या उसका ज्येष्ठ पुत्र कर्ण हाज़िर हो जाय और शाही सेवा स्वीकार कर ले तो मेवाड़ को बर्बाद नहीं किया जाय (तुजुक-ए-जहाँगीरी, जि. 1, पृ. 26)। इधर शाहजादा परवेज तो मेवाड़ पर कूच कर रहा था, उधर महाराणा ने दूसरी ओर से देसूरी, बदनौर, मांडल, मांडलगढ़ और चित्तौड़ की ओर से शाही सेना पर आक्रमण करना शुरु किया। कई लड़ाइयाँ हुई जिनमें अचलदास चूड़ावत और

जयमल सांगावत लड़ते हुए मारे गये। यह स्थिति देखकर शाहज़ादा अपनी समस्त सेना को एकत्र करके ऊँटाला और देबारी के बीच डट गया। महाराणा ने हज़ारों भीलों को आज्ञा दी कि शाहज़ादे की सेना की रसद लूटी जाये। फिर महाराणा अमरसिंह ने सलीम की सेना पर प्रबल आक्रमण किया जिसमें दोनों पक्षों को बड़ी क्षति हुई और शाहज़ादे को मांडलगढ़ की ओर हटना पड़ा। (वीर विनोद, भाग-2, पृ. 222-23)

जब जहाँगीर ने शाहज़ादा परवेज़ को मेवाड़ पर आक्रमण करने के लिये भेजा था तब उसने महाराणा प्रताप के भाई और अमरसिंह के चाचा सगर को राणा की उपाधि देकर चित्तौड़गढ़ का दुर्ग दे दिया था और मेवाड़ का जो प्रदेश शाही अधिकार में था, वह भी सगर के अधीन कर दिया था। बादशाह जहाँगीर का अभिप्राय था कि सगर और अमरसिंह में परस्पर युद्ध छिड़ जाये और मेवाड़ के सरदारों के दो दल हो जाय। (वीरविनोद, भाग-2, पृ. 222-223)परन्तु जहाँगीर की वह चाल सफ़ल नहीं हुई और सगर को राणा की पदवी छोड़नी पड़ी तथा चित्तौड़गढ़ के दुर्ग पर भी उसके अधिकार का अन्त हो गया।

शाहज़ादा परवेज़ की विफलता के बाद भी जहाँगीर चुप नहीं बैठा। अकबर की भाँति उसमें भी मेवाड़ को अपने अधीन करने की आकांक्षा बड़ी प्रबल थी। इसलिये 16 जुलाई, 1608 में उसने अपने सेनापति महावत खाँ को मेवाड़ की ओर रवाना किया। इस बार बड़ी सैनिक तैयारी की गई। महावत खाँ के साथ 12,000 सवार, 500 अहदी, 2,000 बन्दूकची, 60 हाथी और 80 तोपें थी, तथा उसके साथ सात-सात बड़े-बड़े मुसलमान अमीर और राजा वीरसिंह देव बुन्देला, नारायणदास कछावा और किशनसिंह राठौड़ आदि राजपूत सरदार थे। नारायणदास आम्बेर के राजा पृथ्वीराज के आठवें पुत्र जगमाल का पौत्र था। उसके पिता का नाम खंगार था और वह नरेना का जागीरदार था। किशनसिंह जोधपुर के राजा उदयसिंह का द्वितीय पुत्र था। उसी ने किशनगढ़ का राज्य स्थापित किया था। बादशाह ने हिन्दू और मुसलमान सरदारों को प्रोत्साहित करने के लिये विविध प्रकार के यथायोग्य खिल्लत, हाथी, घोड़े, जड़ाऊ तलवारें और झंडे आदि दिये। और महावत खाँ का मनसब बढ़ाकर 3,000 जात और 25,000 सवार कर दिया। महावत खाँ ने मेवाड़ में प्रवेश करके स्थान-स्थान पर शाही थाने स्थापित किये। फिर वह ऊँटाले पहुँचा। वहाँ से आगे बढ़कर वह महाराणा का पीछा करना चाहता था परन्तु आगे नहीं बढ़ सका।

महाराणा ने रावत मेघसिंह को महावत खाँ पर एकदम आक्रमण करने का आदेश दिया। ऐसी जनश्रुति है कि भैंसों पर आतिशबाजी का सामान लादकर शाही सेना में भेज दिया। सेना में प्रवेश करके मेघसिंह के आदमियों ने आतिशबाजी में जगह-जगह आग लगा दी जिससे महावत खाँ की सेना में त्रास उत्पन्न हो गया। ऐसी स्थिति उत्पन्न करके मेघसिंह ने 500 राजपूत सवारों सहित शाही सेना पर आक्रमण करके विजय पाई। रावत मेघसिंह चूड़ा की छठी पीढ़ी में था और कृष्णदास के छोटे भाई गोविन्ददास का पुत्र था। गोविन्ददास ने बेगूं का ठिकाना स्थापित किया था। शाही सेना के बहुत से सैनिक मारे गये और महावत खाँ सेना सहित भाग गया। फिर भी महावत खाँ धैर्य के साथ मेवाड़ में इधर-उधर घूमता रहा और उसने छोटी-बड़ी कई लड़ाइयाँ लड़ीं, परन्तु वह महाराणा का पीछा करने में सफ़ल नहीं हुआ। तब बादशाह ने उसको वापस बुला लिया और महाराणा के विरुद्ध लड़ने वाली शाही सेना का नेतृत्व अबदुल्ला खाँ को दे दिया (जून 1609)। रवाना करने से पहले अबदुल्ला खाँ को फिरोजजंग की उपाधि से सत्कृत

किया गया और बख्शी अब्दुर्रज्जाक के द्वारा सब प्रमुख मनसबदारों से कहलवाया गया कि अब्दुल्ला खाँ की आज्ञा का पूर्ण रूप से पालन करें। इन लोगों को यथायोग्य सहायता देनके लिये सौ घोड़े भी शाही तबेले से भेजे और तीन सौ सत्तर अहदी और रवाना किये। मेवाड़ से अब्दुल्ला खाँ ने बादशाह को पत्र लिखा जिसमें यह दावा किया गया कि महाराणा का पीछा किया जा रहा है और उसके बड़ी कठिनाइयाँ उत्पन्न करदी गई हैं। वह शीघ्र ही या तो मार दिया जायेगा या पकड़ लिया जायेगा। उसके कितने ही हाथी भी पकड़ लिये गये हैं। अब्दुल्ला खाँ ने कई सैनिक अफ़सरों के कार्य की भी प्रशंसा की। इससे प्रसन्न होकर बादशाह ने उसको पंजपजारी मनसबदार बना दिया और अन्य सैनिकों का भी मनसब बढ़ाया। इनमें सगर का पुत्र मानसिंह भी था।

इन्हीं दिनों महाराणा के पुत्र कर्णसिंह ने शाही कोष को लूटने का प्रयास किया जो ऊँटों पर लाद कर अहमदाबाद से आगरे को ले जाया जा रहा था। कर्णसिंह ने कई बड़े-बड़े राजपूत सरदारों के साथ उस पर आक्रमण करना चाहा परन्तु खजाना आगे निकल गया था, इसलिये उसे सफ़लता नहीं मिली।

अब्दुल्ला खाँ ने रणकपुर की घाटी के पास सन् 1610 में राणा की सेना पर आक्रमण किया तो बड़ा घमासान युद्ध हुआ। इस युद्ध में दूदा सांगावत, नारायणदास, सोनगरा सूरजमल, आसकरण, पूरणमल शक्तावत, हरिदास राठौड़, सादड़ी का झाला देव, केसरीदास कछावा, केशवदास चौहान और मुकुन्ददास राठौड़ आदि बड़े बड़े राजपूत सरदारों ने वीर गति प्राप्त की। परन्तु इसमें विजय मेवाड़ की हुई और गोड़वाड़ का परगना छीनकर महाराणा ने अपने अधिकार में कर लिया। फिर भी अब्दुल्ला खाँ मेवाड़ को इधर-उधर रौंधता हुआ फिरता रहा। एक दिन केवला गाँव के निकट उसकी सेना पर मनमनदास नामक एक सरदार ने आक्रमण किया जिसमें अब्दुल्ला खाँ के बहुत से आदमी मारे गये। इसकी खबर सुनकर बादशाह जहाँगीर को बड़ी निराशा हुई। इसलिये उसने अब्दुल्ला खाँ को गुजरात का सूबेदार नियुक्त करके मेवाड़ से उधर भेज दिया। (वीरविनोद, जि. 2, पृ. 200-27 और तुजुक-ए-जहाँगीरी जि. पृ. 251-52)।

इसके पश्चात् अब्दुल्ला खाँ के स्थान पर राजा बासु को नियुक्त किया गया। इसके लिये उसकी पद वृद्धि भी की गई। उसकी सहायता के लिये मिर्जा शाहरुख के पुत्र बदीउज्जमा और खान आज़म को भी भेजा गया। ऐसा मालूम होता है कि राजा बासु मेवाड़ में प्रवेश भी नहीं कर सका और सीमा पर पहुँचते ही शाहाबाद में उसकी मृत्यु हो गई। मआसिर उलउमरा ने लिखा है कि राजा बासु कुछ दिन मेवाड़ में लड़कर दक्षिण की ओर जाते हुए मर गया।

राजा बासु तँवर राजपूत था और पंजाब के मऊ और पठानकोट जिले उसके अधीन थे। उसकी राजधानी नूरपुर थी। अकबर के समय उसने विद्रोह किया था परन्तु टोडरमल के समझाने पर वह शाही दरबार में आ गया था। जब शाहज़ादा सलीम ने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह किया तो राजा बासु ने शाहजादे को सहायता दी थी। इसलिये गद्दी पर बैठने पर जहाँगीर ने उसको 3,500 का मनसबदार बना दिया था। महाराणा ने राजा वासु को मीरांबाई की पूजी हुई ब्रजराज स्वामी की एक मूर्ति भेंट की थी। इससे अनुमान हो सकता है कि राजा बासु महाराणा अमरसिंह से गुप्तरूपेण मिल गया हो। अब्दुल हमीद ने अपने बादशाहनामे में लिखा है कि राणा पर शाहज़ादा परवेज़, महावत खाँ और अब्दुल्लाखाँ ने बड़े धैर्य और दृढ़ता से आक्रमण किये पर उन्हें कोई सफलता प्राप्त नहीं हुई। इनमें से कोई भी मांडलगढ़ से आगे नहीं बढ़ा। इससे

स्पष्ट है कि हानि उठाकर सब वापिस चले गये। इसलिये अब जहाँगीर ने निश्चय किया कि स्वयं अजमेर जाकर महाराणा के विरुद्ध सेना का संचालन करना चाहिये।

इसके लिये बादशाह जहाँगीर ने बड़ी तैयारी की। ज्योतिषियों से मुहूर्त पूछकर 7 सितम्बर 1613 को आगरा से प्रस्थान करके 8 नवम्बर 1613 को वह अजमेर पहुँचा। उसने अपनी जीवनी में लिखा है "कि यह प्रयास मैंने दो उद्देश्यों से किया था। एक तो मैं ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती की ज़ियारत करना चाहता था और दूसरे बागी राणा को अधीन करना था। यह हिन्दुस्तान के मुख्य राजाओं में गिना जाता है। उसकी और उसके पूर्वजों की उत्तमता और नेतृत्व हिन्दुस्तान के सब राजा स्वीकार करते हैं।"

जहाँगीर स्वयं तो अजमेर में ठहरा और मेवाड़ में जो सेना पहले लड़ रही थी, उसको सहायता देने के लिये 12,000 सवार और भेजे, और इस सारी सेना का संचालन शाहज़ादा खुर्रम को जो शाहजहाँ के नाम से फिर बादशाह बना दिया गया। प्रयाण से पूर्व उसको खूब पुरस्कृत किया गया (तुजुक-ए-जहाँगीरी, जि. 1 पृ. 249-56)। उसके साथ 13 बड़े-बड़े मुसलमान अमीर और निम्नलिखित हिन्दू उमराव रवाना किये गये:-

1. सूरजसिंह	जोधपुर का राजा
2. कृष्णसिंह	किशनगढ़ का राजा
3. राणा सगर	महाराणा उदयसिंह का पुत्र और प्रताप का भाई और अमरसिंह का चाचा
4. राव रतन हाड़ा	बूँदी नरेश
5. सूरजमल तँवर	राजा बासू का ज्येष्ठ पुत्र
6. जगतसिंह	राजा बासु का दूसरा पुत्र। यह अपने बड़े भाई सूरजमल से झगड़ा करके बादशाह जहाँगीर का मनसबदार बन गया था और इसे राजा की पदवी दे दी गई।
7. विक्रमाजीत भदौरिया	यह चौहान राजपूत था और राजा मुकटमन भदौरिया का पुत्र और उत्तराधिकारी था।

शाहज़ादा खुर्रम की सहायता करने के लिये मालवा और गुजरात से भी बड़े-बड़े मनसबदारों को बुलाया गया था। शाहज़ादा परवेज़ के साथ दक्षिण की सेना से बड़े-बड़े मुसलमान मनसबदारों को शाहज़ादा खुर्रम की सहायता करने का आदेश दिया गया। इसके साथ वीरसिंह देव बुन्देल भी था। इस विशाल सेना के साथ 17 दिसम्बर 1613 को अजमेर से कूच करके शाहज़ादा खुर्रम माण्डलगढ़ पहुँचा। मेवाड़ में प्रवेश करके उसने उदयपुर तक रसद पहुँचाने का प्रबन्ध किया। इस हेतु मांडल, कपासन, ऊँटाला, नाहर मंगरा, डबोक और देबारी पर बड़े-बड़े अमीरों को सेना के साथ नियुक्त किया। जब खुर्रम उदयपुर पहुँचा तो उसकी ख़ान आज़म से जो मालवे से उसकी सहायता करने के लिये आया था, खटपट हो गई। तब खुर्रम ने उसको पहरे में रख दिया और अजमेर पहुँचा दिया। यह स्मरण रखने योग्य बात है कि ख़ान आज़म की लड़की का विवाह बादशाह के ज्येष्ठ पुत्र खुसरो के साथ हुआ था। इसलिये खुर्रम को यह डर था कि यदि मेवाड़ विजय का श्रेय ख़ान आज़म को मिला तो उसका पलड़ा भारी हो जायेगा और वह खुसरो की सहायता करके उसे गद्दी पर बिठा देगा। ख़ान आज़म पहिले भी खुर्रम के मार्ग में विघ्न डाला करता था।

ऐसी विशाल तैयारी के साथ खुर्रम ने मेवाड़ पर आक्रमण किया। मेवाड़ पिछले 37 वर्षों से अर्थात् 1576 से दिल्ली के बादशाह से लोहा ले रहा था और अपनी सीमित शक्ति और साधनों के बल पर भी अपनी स्वतंत्रता की रक्षा कर रहा था। परन्तु उसकी अधिकांश सैनिक शक्ति अब नष्ट हो चुकी थी। महाराणा अमरसिंह के समय में ही 4 लड़ाइयाँ हो चुकी थीं और वे भी दो बार स्वयं शाहज़ादा सलीम से और दो बार बड़े-बड़े शाही सेनापतियों से। फिर भी अमरसिंह का साहस भंग नहीं हुआ। उसने अपने बड़े-बड़े ग्यारह सरदारों को अपनी सेना के साथ बुलवाया जो बड़े उल्लास के साथ शाही सेना का सामना करने के लिये तैयार हो गये।

मेवाड़ में प्रवेश करके खुर्रम ने अपनी सेना के चार भाग बनाये और प्रत्येक भाग को आदेश दिया कि पहाड़ी इलाकों में घुसकर लूटमार करे, गाँव जलाए और लोगों को पकड़े। इधर महाराणा ने भी अपने आदमियों को आदेश दिया कि जहाँ अच्छा मौका लगे, लड़ाई की जाय और शाही रसद रोकी जाय। अब्दुल्ला खाँ के नेतृत्व में शाही सेना आगे बढ़कर चावंड में पहुँच गई जहाँ महाराणा का निवास था। महाराणा वहाँ से पहाड़ों में चला गया। उसके कई हाथी शाही सेना ने पकड़कर अजमेर पहुँचा दिये। इसके बाद महाराणा ने जो कुछ किया, उसका वृत्तान्त नैणसी से उद्धृत करने योग्य है, ''चावंड के लुटने का महाराणा को बड़ा दुःख हुआ। उसने अपने कुँवर भीम से कहा, उदयपुर लुट जाने का मुझे इतना दुःख नहीं है जितना चावंड के लुट जाने का है, इसलिये यदि अब्दुल्ला खाँ से लोहा नहीं लिया गया तो हमारी अपकीर्ति होगी।'' तब भीम ने प्रतिज्ञा की कि, ''मैं युद्ध करता हुआ अब्दुल्ला ख़ाँ के दरवाज़े तक पहुँच जाऊँगा।'' यह बात अब्दुल्ला खाँ के कानों तक पहुँच गई तो उसने ड्योढ़ी तक बहुत सी सेना और सरदारों को खड़ा कर दिया। मध्य रात्रि को भीम ने शाही सेना पर बड़ा प्रबल आक्रमण किया और सैनिकों को काटता हुआ वह अपने साथियों सहित ड्योढ़ी तक पहुँच गया। फिर युद्ध हुआ जिनमें दोनों सेनाओं की बड़ी टक्कर हुई। भीम के दो घाव लगे और उसका घोड़ा कटकर गिर पड़ा परन्तु अबदुल्ला खाँ की इतनी बड़ी क्षति हुई कि चार मास तक वह चुपचाप बैठा रहा और उसको लड़ने का साहस नहीं हुआ।

इसके बाद खुर्रम ने मेवाड़ में स्थान-स्थान पर अपने थाने बिठा दिये। कुम्भलगढ़, आजणां, गोगून्दा, बीजापुर, सादड़ी, झाड़ोल, पानरवा, ओगना, चावंड, जावर और केलड़ी, इस प्रकार उसने अपने अधीन कर लिये और इन सब स्थानों पर रसद पहुँचाने का भी समुचित प्रबन्ध कर दिया। अब महाराणा और उसके सरदार दक्षिण की पहाड़ी देश में सिकुड़ गये। शाही सेना लूटमार करती हुई प्रतिदिन आगे बढ़ने लगी और इसकी सूचना जहाँगीर को भेजी गई। उसने अपनी तुजुक-ए-जहाँगीरी में लिखा है कि, ''मेरे शाहजादे खुर्रम ने ऐसे स्थानों में बहुत से थाने नियत किये, जिनके विषय में लोग कहा करते थे कि वहाँ का जलवायु अच्छा नहीं और देश ऊजड़ है। धूप और अत्यन्त वृष्टि की परवाह न कर शाहज़ादा राणा का पीछा करने के लिये एक के बाद दूसरी शाही सेना पहुँचाता और वहाँ के निवासियों की स्त्रियों और बालबच्चों आदि को कैद करता रहा। अन्त में राणा के लिये ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई कि यदि ऐसी मारधाड़ जारी रहती तो अवश्य उसको या तो अपना देश छोड़ना या कैद होना पड़ता।''

मेवाड़ के राजपूतों के लिये यह विकट समय था। ये 47 वर्ष से निरन्तर लड़ रहे थे। किसी किसी की तो तीन पीढ़ियाँ युद्ध में समाप्त हो चुकी थीं। इसलिये सरदारों ने महाराणा अमरसिंह के पुत्र कुँवर करणसिंह को खुर्रम से संधि करने के लिये

तैयार कर लिया और राय सुन्दरदास को जो पंजहज़ारी ब्राह्मण था, मध्यस्थ बनाया गया। शाहज़ादे ने यह खबर बादशाह के पास पहुँचाई। बादशाह ने अपनी आत्मजीवनी में लिखा है कि ''मेरा मुख्य उद्देश्य यही था कि राणा अमरसिंह और उसके बापदादों ने अपने विकट पहाड़ों और सुदृढ़ स्थानों के गर्व से न तो हिन्दुस्तान के किसी बादशाह को देखा है और न उसकी सेवा की है। मेरे राज्य में उसकी वह बात न रहे। इसी उद्देश्य से मैंने शाहज़ादे की प्रार्थना से राणा के अपराध क्षमा कर दिये और उसकी शांति के लिये अपनी हथेली की छाप लगाकर फ़रमान भी भेजा। साथ में खुर्रम को इस आशय की सूचना दी कि यदि तुम राणा के साथ का मामला तय कर सको तो मुझे बड़ी खुशी होगी। जहाँगीर ने राणा के नाम फ़रमान भेजा जो इस समय उदयपुर में मौजूद है। यह करणसिंह ने कुछ सरदारों के साथ महाराणा के सामने प्रस्तुत किया। महाराणा ने बड़े दु:ख और संताप के साथ फरमान ग्रहण किया। 5 फरवरी, 1615 को महाराणा अमरसिंह अपने दो भाइयों और तीन पुत्रों के सहित गोगून्दा में शाहज़ादे से मिला। उसके स्वागत के लिये खुर्रम ने अब्दुल्ला ख़ाँ, राजा सूरसिंह, राजा वीरसिंह बुन्देला, सैयद सेफ़ख़ाँ बारहा आदि को भेजा जो उसे सम्मानपूर्वक शाहज़ादे के पास ले गये। शाहज़ादे ने महाराणा को छाती से लगाया और यथायोग्य भेंटें दी। अन्त में निम्नलिखित संधि हुई:-

- महाराणा बादशाह के दरबार में कभी उपस्थित नहीं होगा।
- महाराणा का ज्येष्ठ पुत्र कुँवर शाही दरबार में उपस्थित होगा।
- शाही सेना में महाराणा 1,000 सवार रखेगा।
- चित्तौड़गढ़ के क़िले की मरम्मत न की जायेगी।

इस प्रकार मुग़लों और मेवाड़ के 47 वर्ष के निरन्तर संघर्ष का अन्त हुआ।

---

1. चौहान राव बल्लू: बेदले वालों का पूर्वज।
2. चौहान रावत पृथ्वीराज: कोठारियों का पूर्वज।
3. रावत भाण : कानोड़ वालों का सारिंगदेवोत पूर्वज।
4. राठौड़ मनमनदास
5. झाला हरीदास: ठिकाना सादड़ी का।
6. पँवार शुभकरण: ठिकाना बिजोलिया का।
7. रावत मेघसिंह चूड़ावत: बेगों वालों का पूर्वज।
8. रावत मानसिंह चूड़ावत: ठिकाना सलूम्बर का।
9. झाला कल्याण: देलवाड़े का झाला मानसिंह का द्वितीय पुत्र।
10. सोलंकी वीरमदेव: रूपनगर वालों का पूर्वज।
11. डाडिया जयसिंह: सरदारगढ़ लावा का।

❑

अवध की बेग़मात्

वॉरेन हेस्टिंग्ज़ गवर्नर जनरल ने अनेक अन्याय और क्रूरताएँ की थीं। परन्तु अवध की बेग़मों के साथ की हुई उसकी कठोरताओं के कारण वह बड़ा कुख्यात हुआ और पार्लियामेन्ट में उसकी घोर निन्दा की गई।

वॉरेन हेस्टिंग्ज़ एक निर्धन परिवार में 1732 में पैदा हुआ था। 18 वर्ष की आयु में, वह बंगाल का गवर्नर बन गया। यह पद ग्रहण करने पर, उसके सामने अनेक आर्थिक समस्याएँ उपस्थित हुईं। इनके निवारण के लिए उसने बड़े अनुचित कार्य किये।

सन् 1773 में भारत के शासन के ढाँचे को सुधारने के लिये पार्लियामेंन्ट ने रेग्यूलेटिंग एक्ट पास किया। उसके अनुसार कलकत्ते का गवर्नर, भारत में अँग्रेज़ी राज्य का, सर्वोपरि शासक बन गया। इससे पूर्व बम्बई, मद्रास तथा बंगाल के गवर्नर परस्पर स्वतंत्र थे। अब बंगाल का गवर्नर बड़ा माना जाने लगा और भारत का गवर्नर जनरल कहलाने लगा। यह घोषणा कर दी गई कि बंगाल का गवर्नर बम्बई और मद्रास के गवर्नरों के ऊपर है।

गवर्नर जनरल हेस्टिंग्ज़ के समय ब्रिटिश सरकार को फ्रांस, स्पेन, हॉलैण्ड और अमेरिका से युद्ध करना पड़ा। हेस्टिंग्ज़ को मराठों और हैदरअली से युद्ध करना था। इसके लिये उसको इंग्लैंड से कोई आर्थिक सहायता प्राप्त नहीं हो सकती थी। परन्तु धन की बड़ी ही आवश्यकता थी। उसने काशी नरेश, राजा चेतसिंह से इसके लिये 50,000 पौण्ड अर्थात् साढ़े सात लाख रुपये माँगे, जो उसने दे दिये। फिर अगले दो वर्ष में भी इतनी ही बड़ी राशियाँ माँगी और उनके अतिरिक्त एक हज़ार घुड़सवारों की भी माँग की। चेतसिंह ने कुछ ढील और टालमटूल की तो हेस्टिंग्ज़ ने उस पर पचास लाख रुपये का जुर्माना किया तब चेतसिंह में और कम्पनी सरकार में युद्ध छिड़ गया, जिसमें सरकार की सेना हार कर काशी से भाग गई। इसके विषय में काशी में अब तक यह कहावत चली आ रही है कि "घोड़े पर हौदा और हाथी पर जीन, सटपट भागे वॉरेन हस्तीन" परन्तु अन्त में चेतसिंह हार गया और उसको गद्दी से उतार कर दूसरे व्यक्ति को राजा बना दिया।

चेतसिंह पर यह भी आरोप लगाया था कि वह अवध की बेग़मों से मिला हुआ है, परन्तु यह निर्मूल बात थी और अपने अनौचित्य पर पर्दा डालने के लिये गढ़ी गई थी। इसके बाद वॉरेन हेस्टिंग्ज़ ने अवध की वृद्धा और असहाय बेग़मों से 76 लाख रुपये लूटे। अवध का नवाब वज़ीर, कम्पनी सरकार को कई लाख रुपये प्रतिवर्ष खिराज दिया करता था। जो कभी भी पूरा नहीं चुकाया जाता था। अब वॉरेन हेस्टिंग्ज़ इस बकाया को वसूल करना चाहता था। मराठों, बनारस और कर्नाटक के युद्धों के कारण कम्पनी का राजकोष खाली हो चुका था, अत: गवर्नर जनरल ने आसुफ़द्दौला को बड़ी धनराशि देने के लिये तंग किया। उसके पास रुपया नहीं था और ऐसा ख़्याल किया जाता था कि उसकी माताओं के पास बहुत रुपया है। उनको 1775 की संधि के अनुसार बड़ी धनराशि मिली थी। उनको अवध की आय में से कुछ नहीं मिलता था। परन्तु वॉरेन हेस्टिंग्ज़ तो छल या बल से उनसे रुपया

छीनना ही चाहता था। उसने यह आरोप रचा कि चेतसिंह के विद्रोह में बेग़मों का हाथ था। इसलिये 1775 में जो बेग़मों के पास रुपया छोड़ दिया गया था उस पर इनका अधिकार नहीं रहा। बेग़मों से 76 लाख रुपये माँगे गये और इसकी प्राप्ति के लिये मिस्टर मिडिलटन को, जो कम्पनी सरकार की ओर से अवध में रेज़ीडेंट था, नियुक्त किया गया। उसने अनेक राजनीतिक युक्तियों का तथा झूठे वादों का और नाना प्रकार के कपटों का उपयोग किया, परन्तु वह बेग़मों से रुपया प्राप्त न कर सका।

तब वॉरेन हेस्टिंग्ज़ को बड़ा क्रोध आया और उसने मिडिलटन की बड़ी भर्त्सना की। हेस्टिंग्ज़ कहता था कि वृद्ध बेग़में कम्पनी के राज्य को नष्ट करना चाहती थीं और इसमें वे सफ़ल होने ही वाली थीं। इसलिये इनको खूब कसा जाये और इनसे 76 लाख रुपये वसूल किये जाएँ। यह हेस्टिंग्ज का खुली क्रूरता का आयोजन था। बेग़में फैज़ाबाद में रहतीं थीं। वहाँ उनके महल पर सैनिकों ने अधिकार कर लिया। उनको अनेक प्रकार के कष्ट दिये। परन्तु गवर्नर जनरल का कहना था, कि उनको शारीरिक यातनायें नहीं दी गईं। यह कोरी कहने की झूठी बात थी। यातनाएँ दी गईं थीं। उस समय ऐसा कहा जाता था कि उनके नाख़ूनों में सुइयाँ चुभाई गईं थीं। बेग़मों का कोष स्वयं उनके पास नहीं था। यह दो विश्वसनीय ख़्वाजा सर्रों के पास था। वे ही कोष का दरवाज़ा खोल सकते थे और बन्द कर सकते थे। इन दोनों को गिरफ़्तार कर लिया और कितने ही दिन तक उन्हें भर पेट भोजन नहीं दिया। फिर उनके बेड़ियाँ डाल दी गईं और उन्हें नित्य प्रति 2-3 बार मारा पीटा जाने लगा। इस प्रकार ख्वाजासरे अध मरे हो गये और बेग़में भी कठोरता और क्रूरता के कारण अत्यन्त त्रस्त और व्याकुल हो गईं। क्या-क्या क्रूरतायें की गई इसका विवरण लिखित रूप में तो कहीं नहीं मिलता, परन्तु इतना निश्चित है कि अँग्रेज़ों ने उनको बहुत सताया और अन्त में 76 लाख रुपये लूट कर उनका कोष खाली कर दिया।

पार्लियामेन्ट में जब हेस्टिंग्ज़ पर आरोप लगाया गया और एडमण्ड वर्क नामक प्रसिद्ध वकील ने यह करूण कहानी प्रभावीशाली भाषा में सुनाई तो श्रोतागण और विशेषकर महिलाएँ द्रवित होकर फूट-फूट कर रोने लगीं। मुक़दमा सुनने वाले जज़ों में से 2-3 इतने दया-द्रवित हो गये कि पीछे के कमरे में वे जाकर चुपचाप बैठ गये। हेस्टिंग्ज़ का यह कहना था कि 1775 की संधि में उसके विरोधी कौंसलरों का हाथ था। इसलिये बेग़मों के पास इतनी बड़ी धनराशि छोड़ दी गई थी। वास्तव में यह दलीलें हेस्टिंग्ज़ के धन हरण और क्रूरताओं के बाद रची थीं। वास्तविकता तो यह थी कि वह जैसे तैसे रुपया चाहता था। इसलिये उसने सारे अनुचित उपायों का उपयोग किया था। इसी प्रकार की दलीलें उसने चेतसिंह के विषय में दीं थी परन्तु यह खुली लूट थी।

वॉरेन हेस्टिंग्ज़ वास्तव में ब्रिटिश राज्य का विस्तार करना चाहता था। इसके लिये धनहरण, भूमिहरण और यंत्रणाओं को वह अपना कर्त्तव्य मानता था। यह कहना भी कोई बड़ा अनौचित्य न होगा कि वॉरेन हेस्टिंग्ज़ एक लुटेरा शासक था। उसने जहाँ भी युद्ध किया वहाँ खूब धन निचोड़ा, जनता को बर्बाद किया और जघन्य से जघन्य क्रूरतायें करने से भी वह पीछे नहीं हटा। उसकी अनेक क्रूरताओं में अवध की बेग़मात के साथ की हुई कठोरताएँ बड़ी पाशविक थीं। यह बड़ा निन्दनीय कार्य था। विशेष इसलिये कि अन्याय और ज़ुल्म करके वृद्धा स्त्रियों से यह धन छीना गया था।

❑

हमारा साहित्य और संस्कृति

महाकवि कालिदास ने रघुवंश महाकाव्य के आरम्भ में एक अमर वाक्य कहा है। उन्होंने लिखा है कि पार्वती और परमेश्वर या प्रकृति और पुरुष इस प्रकार सम्प्रक्त हैं जैसे वाक् और अर्थ अर्थात वाक् बिना अर्थ का और अर्थ बिना वाक् का कोई अस्तित्व नहीं हैं। दोनों परस्पर संश्लिष्ट हैं। भाषा, संस्कृति और सभ्यता की वाहन है। भाषा को जनसंस्कृति का दर्पण कहना चाहिए। वाङ्मय देश की संस्कृति का आत्मचरित है, अत: अतीत काल से अब तक भारतवर्ष ने विविध क्षेत्रों में क्या उन्नति की और संसार को क्या देन दी, इसका इतिहास ऋग्वेद से लेकर अद्यतन संस्कृत साहित्य में निहित है।

परम्परा से हम लोग वेद को अपौरुषेय मानते आये हैं। आधुनिक शोधकारों में डॉ. अविनाशचन्द्र दास ने ऋग्वेद को ईसा से साठ हजार वर्ष प्राचीन माना है। बालगंगाधर तिलक और जेकोबी भी इसको अब से कम से कम अष्ट सहस्त्र वर्ष प्राचीन मानते हैं। मैक्समूलर का यह मन्तव्य था कि ऋग्वेद ईसा से 1200 वर्ष से पूर्व से इधर का नहीं हो सकता परन्तु इसका आरम्भ कब हुआ यह नहीं कहा जा सकता। लगभग 45 वर्ष पूर्व जब हड़प्पा और मोहनजोदाड़ों के प्राचीन भूमिगत नगर खोदने से प्रगट हुये और उनकी संस्कृति और सभ्यता का अध्ययन किया तो विदित हुआ कि यह ईसा से 3500 वर्ष पुराने होने चाहिए, और यह भी माना गया कि भारतवर्ष में आर्यों के आगमन के पश्चात हड़प्पा नगर नष्ट किया गया होगा। इसलिए डॉ. आर. सी. मजूमदार और डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी ऋग्वेद को ईसा से लगभग 2000 वर्ष पूर्व का मानने लगे।

ऋग्वेद का काल कुछ भी माना जाय, इसको साठ हजार वर्ष पुराना मानने के विरुद्ध भी कोई अकाट्य प्रमाण नहीं हैं और ईसा से दो हजार वर्ष पूर्व का मान लेना भी तर्कशून्य नहीं है, परन्तु यह निर्विवाद है कि ऋग्वेद संसार के साहित्य में सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ हैं। इसकी भाषा विशुद्ध छन्दोबद्ध तथा नैसर्गिक और सुन्दर है जो भगवती भागीरथी को धारा के समान विलास और कल्लोल के साथ उछलती हुई चलती है। ऋग्वेद में विश्व वैचित्र्य का अद्‌भुत वर्णन है। सूर्य उदय होता है, अन्धकार को निरस्त करता है, अस्त होता है और पुन: पूर्ववत् उदय होता है। यह ऋतु अथवा शाश्वत और चिरन्तन व्यवस्था ऋषियों ने उस काल में समझ ली थी। प्रकृति के इन विराट वैभव के पीछे उन्होंने ईश्वर की सत्ता और स्वरूप का अनुभव किया था। वे कहते थे :

सदाधार पृथिवीम् द्यामुतेमाम् ।

ऋषियों ने विविध स्वरूपों में ईश्वर के दर्शन किये। उन्होंने उसको अग्निस्वरूप माना और कहा अग्ने नय सुपथा। उन्होंने उसे वरुण माना और कहा – वरुण ये सहस्त्रं यज्ञिय पासा वितता महान्त: तेभि र्नो अद्य सवितोत विष्णुर्विश्वे मुञ्चन्तु। उन्होंने उसको प्रजापति रूप में देखा, सोम के रूप में देखा और सूर्य के रूप में देखा और उसकी नाना प्रकार से प्रार्थना की। परन्तु वह जानते थे कि –

एकम् सद विप्रा बहुधा वदन्ति

अग्निं मित्रं मातरिश्वानभाहुः ।

गृहस्थ जीवन की बड़ी सुन्दर, स्थिर और सुखद व्यवस्था बनाई थी। विवाह के समय वर वधू से कहता है—

ओ३म्यदेतद् हृदयं तव तदस्तु हृदयं मम।

यदिदं हृदयं मम तदस्तु हृदयं तव॥

आदर्श यह था कि वधू का हृदय पतिमय और पति का हृदय वधूमय होना चाहिए। एक विवाह मंत्र में पति कहता है –

सम्राज्ञो श्वशुरे भव, सम्राज्ञी श्व-श्र्वां भव
ननान्दरी सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु।

अर्थात् तू श्वसुर, सास, ननद और देवर आदि घरवालों पर सम्राज्ञी की भाँति शासन करने का अधिकार रखती है। परिवार की शान्ति और सुख के विषय में अर्थववेद में मंत्र है कि-

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः
जाया पत्ये मधुमतीं वाच वदतु शान्तिवाम्।
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा
सभ्यंचः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥

अर्थात पुत्र माता और पिता के मन को देख कर काम करे। पत्नी और पति परस्पर मधुर व्यवहार करें। भाई भाई से द्वेष न करें और बहन बहन से द्वेष न रखे । सब समान व्रत और गुण वाले बनें।

ऋग्वेद में मानव समाज को चार भागों में विभक्त किया गया है। यह अलंकारिक वर्णन है और इसको आधार मान कर गृहस्थ सूत्रों में और स्मृतियों में तथा गीता में चारों वर्णो के धर्मों का प्रतिपादन किया है। यह वर्ण विभाग शाश्वत् और सार्वभौम है। किसी न किसी रूप में यह सर्वत्र प्रचलित है। स्मृतियों में यह भी लिखा है कि गुण-कर्मानुसार ब्राह्मण बन जाता है और शूद्र ब्राह्मणत्व प्राप्त कर सकता है। भारतवर्ष के इतिहास में इसके प्रमाण हैं कि ब्राह्मण क्षत्री बन गये और क्षत्री ब्राह्मण बन गये हैं, शूद्रों ने भी राज्य किया और वैश्यों के हाथ में भी राज्य सत्ता रही है।

स्पर्शास्पर्श वैदिक काल में नहीं था। अथर्ववेद में यह मंत्र है-

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने
योक्त्रे सह वो युनज्मि

सभ्यंचो-ऽग्निं सपर्यतारा नाभिभिवाभितः

अर्थात् मनुष्यों का जलपान, स्नानादि का स्थान एकसा हो। खानपान साथ हुआ करे। एकसे वाहनों में सब चलें और धर्मादि व्यवहार में इस प्रकार एक रहें जैसे चक्र के आरे चारों ओर से नाभि में लगे रहते हैं।

एक दूसरा मंत्र है-

ससमिद्यु वसे वृषन्नग्ने विश्विान्यर्य आ
इल-स्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर
सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह
चित्त मेषाम समानं मंत्र मभिमन्त्रये वः समानेन
वो हविषा जुहोभि
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः
समान मस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति

ऋग्वेद के दशवें मण्डल (10-178) के सूक्त से और अथर्ववेद (6-87-88) के भी एक सूक्त से ऐसा विदित होता है कि राजा का निर्वाचन हुआ करता था। अंश यह है—

विशस्त्वा सर्वा वाछन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि
भ्रशत् ध्रुवो राजा विशामयम्

सर्वादिशः संमनसः सध्रीची ध्रुवायते
समितिः समितिः कल्पतामिह

त्वांदिशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः
प्रदिशः पंच देवीः

वर्षमन् राष्ट्रस्य ककुदि यस्व ततो न उग्रो
विभजा वसूनि

राज्य कार्य में परामर्श देने के लिए वैदिक काल में सभा और समिति थीं। यह दोनों संगठन अति प्राचीन थे। इसलिए इनको अथर्ववेद में प्रजापति की पुत्रियाँ (प्रजापतिर्दुहितरी संविदाने) कहा गया है। इसके सदस्य वाग्मी और प्रगल्भ होते थे और राष्ट्र यह चाहता था कि इन दोनों संगठनों में मतभेद न हो।

ऋग्वेदकालीन शिक्षा का आदर्श बहुत ऊँचा था। विद्यार्थीकाल, ब्रह्मचर्यकाल कहलाता था और इसका आरम्भ उपनयन से होता था, जिसका समय आठवाँ वर्ष निश्चित था। जब बालक को गुरु के सुपुर्द किया जाता था तो वह उसको ब्रह्मचारी का वेष पहना कर कहता था-

ओ३म् येनेन्द्राय बृहस्पतिर्वासः पर्यदधादमृतम्
तेन त्वा परिधयाम्यायुषे दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चसे

इससे स्पष्ट है कि छात्र की आयु वृद्धि, बल वृद्धि और ओज वृद्धि को गुरु अपना ध्येय मानता था। गुरु और विद्यार्थी का परस्पर एकचित होना आवश्यक समझा जाता था। विद्यार्थी गुरु के वचन को एक मन होकर सुनता था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए परमात्मा से प्रार्थना की जाती थी। गुरु विद्यार्थी से कहता था कि-

ओ३म् मम ते व्रते हृदयंमम चित्तमनुचितं ते
अस्तु

मम वाचमेकमना जुषम्व बृहस्पतिष्ट्वा
नियुनक्तु मह्यम्

विद्यार्थी के लिए निम्नलिखित नियमों का पालन करना आवश्यक माना जाता था।

आचार्याधीनो भवा-न्यत्राधर्माचरणात्
क्रोधानृते वर्जय।

उपरि शय्यां वर्जय।
कौशीलवगन्धांजनानि वर्जय। अत्यन्तं

स्नानं भोजनं निद्रां जागरणं निन्दां
लोभमोह भय शोकान् वर्जय।

प्रतिदिन रात्रेः पश्चिमे-यामे चात्यावश्यकं
कृत्वा दन्तधावन

स्नान-सन्ध्योपासनेश्वर-स्तुति
प्रार्थनोपासनायोगाभ्यासान्नित्यमाचर।

क्षुर क्रियां वर्जव। मांसरूक्षा हारं
मद्यादिपानं च वर्जय।

गवाश्वहस्त्युष्ट्रादियानं वर्जय।
अन्तर्ग्रामनिवासोपानच्छत्र

धारण वर्जय। वीर्यं शरीरे संरक्ष्योर्ध्वरेताः
सततं भव।

तैलाभ्यगमर्दनात्यम्लातितिक्तकषायाहाररेचन
द्रव्याणि मा

सेवस्व नित्यं युक्ताहार-विहारवान्
विद्योपार्जने च यत्नवान् भव।

सुशीलो मितभाषी सोम्यो
भवाचार्याप्रियाचरणप्रातः सायमभिवाद

न विद्या सचयजितेंद्रियत्वादीन्ये तेते
नित्यधर्माः।

ब्रह्मचारी आचार्य के सान्निध्य में ऐसी भक्ति प्रीति और श्रद्धा के साथ रहता था मानो उसके पेट में बैठा हुआ हो तभी उसके ज्ञान और तेज़ से ब्रह्मचारी का पोषण हुआ करता था और समाज के विद्वान् लोग विद्या प्राप्ति के पश्चात् उन ब्रह्मचारियों

को देख कर प्रसन्न होते थे, अतः विद्यारम्भ करते समय यह मंत्र बोला जाता था–

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भ मन्तः

तं रात्रीस्तिस्त्र उदरे बिभर्ति त जातं द्रुष्टुमभिसंयन्ति देवाः

आर्य प्रार्थना का सर्वोत्तम मंत्र गायत्री मंत्र है। विद्यार्थी को शिक्षा दी जाती थी, वह जगत सृष्टा देवाधिदेव ईश्वर के प्रकाश को अपने मस्तिष्क और अन्तःकरण में धारण करता था और प्रार्थना करता था कि ईश्वर उसकी बुद्धि को सदैव प्रेरित करता रहे। प्रायः ब्रह्मचर्य व्रत 25 वर्ष तक की आयु तक धारण किया जाता था परन्तु विशेष अवस्थों में चालीस वर्ष तक भी युवक ज्ञान प्राप्ति में लगा रहता था। सुश्रुत के सूत्र स्थान अध्याय 35 में लिखा है कि–

चतत्रोऽवस्थाः शरीरस्य वृद्धि यौवनं
सम्पूर्णता किंचित् परिहाणिश्चेति
आपोडशाद्वृद्धिराचतुर्विशते
यौं वनमाचत्वारि शतः सम्पूर्णता श्चेति।

इसके अनुसार जीवन के कर्त्तव्य निश्चित किये जाते थे।

विद्या प्राप्ति के पश्चात् जब ब्रह्मचारी अपने घर लौटने की गुरु से आज्ञा लेता था उस समय उसको निम्नलिखित उपदेश दिया जाता–

मातृ देवो भव, पितृ देवो भव, अतिथि देवो भव, स्वाध्यान्मा प्रभदितव्यम्

यानि असमाकं सुचरितानि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि आदि

वेद सब सत्य विद्याओं का ग्रन्थ है। इसका पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सबका परम धर्म हैं और वेद का ज्ञान संस्कृत के अध्ययन से ही हो सकता है। मैक्समूलर ने लिखा है कि जिस प्रकार हिमालय से अनेक नद और नदियाँ निकल कर भारत वसुन्धरा का सेचन करती हुई आगे बढ़ती हैं उसी प्रकार भारतवर्ष के षड्दर्शन और वर्णाश्रम धर्म तथा नानाविध विचार वेद में से निकले हैं। हमारी संस्कृति का बीज वेद में है। वही आगे चल कर महावृक्ष बन गया है जिसके फलों में और जिसकी छाया में भारतवर्ष अनादिकाल से पुष्टि प्राप्त कर रहा है।

उपनिषदों में वेदों के आध्यात्मिक ज्ञान की पराकाष्ठा या पर्यवसान है। आत्मा और ब्रह्म के स्वरूप का चिन्तन जैसा उपनिषदों में है वैसा संसार के अन्य किसी साहित्य में प्राप्त नहीं होता। उपनिषदों में कहा गया है कि ब्रह्म विद्या में ही अन्य समस्त विद्यायें निविष्ट हैं और ब्रह्म तत्व को इस जीवन में पहचान लिया तब तो श्रेय है अन्यथा महती विनष्टि है। इस तत्व का चिन्तन करने से ही महापुरुष अमरत्व को अर्थात मोक्ष को प्राप्त करते हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य ने परम विदुषी और आध्यात्मवादिनी गार्गी से कहा था कि–

यो वै गार्गि तद-क्षरं ब्रह्म ज्ञात्वा इह प्रेति सः ब्राह्मणः

यौ वैगार्गि तद-क्षरं ब्रह्मा-ज्ञात्वा इह प्रेति सः कृपणः।

उपनिषदों में यज्ञ और कर्मकांड को गौण माना गया है और शुद्ध निष्फल ब्रह्मज्ञान को महत्व दिया गया है।

17वीं शताब्दी तक बाह्य संसार को इस आध्यात्मिक निधि का कुछ भी ज्ञान नहीं था। सर्वप्रथम शाहजहाँ के ज्येष्ठ पुत्र द्वारा शिकोह का ध्यान इन ग्रन्थों की ओर आकर्षित हुआ। अपार विलास और वैभव में कल्लोल करते हुए भी दारा ने

उपनिषदों के महत्व को समझा और कुछ उपनिषदों का अनुवाद फ़ारसी भाषा में करवाया। 18वीं शताब्दी में यह अनुवाद एक योरोपीय सैनिक अफ़सर ने दक्षिण भारत में जहाँ वह फ्रेंच ईस्ट इंडिया कम्पनी की सेवा में था, देखा और उसने फ़ारसी से लैटिन भाषा में इसका अनुवाद किया। इस लैटिन अनुवाद को पढ़कर जर्मनी का प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् शोपनहॉवर उछल पड़ा और उसने आत्मविभोर होकर कहा "उपनिषदों से मुझे अपने जीवन में शान्ति प्राप्त हुई है और इन्हीं से मुझे अपनी अन्तिम घड़ियों में शान्ति प्राप्त होगी"। अब उपनिषदों का अनुवाद संसार की समस्त सम्पन्न भाषाओं में हो चुका है और देशी और विदेशी उच्च श्रेणी के विद्वानों ने उपनिषदों के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की है।

ऋग्वेद काल से उपनिषद् युग तक भारत सारे संसार में अग्रणी था। ब्रह्मज्ञान पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। पारिवारिक जीवन सुख सम्पन्न था और समाज सुसंगठित था। राज्य शासन पर जनता का नियंत्रण था। शिक्षा पद्धति बड़े ऊँचे उद्देश्य की परिचायक थी। विविध कला कौशल और विज्ञान में पदार्पण हो चुका था। मानव जीवन में बड़ी सुखद मर्यादा थी और इस सारी उन्नति का वाहन संस्कृत भाषा थी। इस अतीत काल के सौख्य समृद्धि का जिन्होंने अध्ययन किया है वे सब इस पर मुग्ध हुये हैं। मैक्समूलर ने आज से लगभग 100 वर्ष पहले वैदिक साहित्य का अध्ययन करने के पश्चात् लिखा था –

'If I were asked under what sky the human mind has most fully developed some of its choicest gifts, has most deeply pondered on the greatest problems of life, and has found solutions of some of them, which well deserves the attention even of those who have studied Plato and Kant—I should point to India. And if I were to ask myself from what literature we, here in Europe, we who have been nurtured almost exclusively on the thoughts of Greeks and Romans, and of one Semitic race, the Jewish, may draw that corrective which is most wanted in order to make our inner life more perfect, more comprehensive, more universal, in fact more truly human, a life, not for this life only, but a trasfigured and eternal life—again I should point to India.'

इसका अभिप्राय है कि यदि मुझसे पूछा जाये कि ईश्वर की देन का सबसे अधिक विकास किस देश ने किया है और जीवन के महान प्रश्नों पर किस देश ने गहराई से चिन्तन किया है और किस देश ने इनके ऐसे हल उपस्थित किये हैं जिस पर प्लेटो और कान्ट के दर्शन का अध्ययन करने वालों को भी ध्यान देना चाहिए तो मैं कहूँगा कि वह देश भारतवर्ष है। यदि मैं स्वयं अपने से ही यह प्रश्न करूँ कि हम यूरोप निवासियों को जिन्होंने यूनान और रोम के विचारों से ही मानसिक पुष्टि प्राप्त की या यहूदी लोगों से विचार ग्रहण किये हैं वे अपने विचारों को और अपने आन्तरिक जीवन को किस प्रकार और अधिक सुधार सकते हैं या संशोधित कर सकते हैं जिससे उन के विचार अधिक व्यापक और अधिक मानवीय बन सके और ऐहिक और पारलौकिक जीवन अधिक सुन्दर बन सके, तो मैं फिर भी भारतवर्ष की ओर ही संकेत करूँगा।

इस उन्नति का माध्यम संस्कृत भाषा थी। यह वास्तव में विश्व के समस्त विद्वानों की श्रद्धा की पात्र है और इस दृष्टि से संस्कृत भाषा समस्त भाषाओं की शिरोमणि मानी जानी चाहिए।

अवैदिक धर्म :

ईसा से 600 वर्ष पूर्व भारतवर्ष में एक अद्भुत धार्मिक हलचल पैदा हुई। भारत में ही क्या समस्त

ऐशिया महाद्वीप में यह हलचल थी। उस समय तीन ऐसी विचारधाराएँ प्रगट हुईं जो अवैदिक कही जाती हैं। किसी न किसी रूप में इन तीनों के बीज ऋग्वेद में विद्यमान थे, परन्तु इसका विकास उपनिषद् के युग के पश्चात हुआ। उपनिषद्काल में अनेक प्रश्नों पर विचार किया जाने लगा और मानव मस्तिष्क गतानुगत नहीं रहा। इस समय लोकायत सम्प्रदाय का उदय हुआ। ऐसा माना जाता है कि बुद्ध के जन्म से पूर्व ही यह विचारधारा चल पड़ी थी। महाभारत के शान्तिपर्व और शल्यपर्व में तथा विष्णुपुराण और मनुस्मृति में नास्तिकों का उल्लेख है। इस विषय का प्रामाणिक ग्रन्थ बृहस्पतिसूत्र था, परन्तु उसका लोप हो गया है। इस समय इस सम्प्रदाय का वर्णन सर्वदर्शन संग्रह, सर्वसिद्धान्तसार-संग्रह और प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक में मिलता है। इन लोगों का मुख्य सिद्धान्त यह था कि-

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।

भस्मी-भूत-शरीरस्य, पुनरागमनं कुतः ॥

लोकायत के अनुयायी वेद, यज्ञ, श्राद्ध पुनर्जन्म आदि को नहीं मानते थे।

लगभग इसी युग में जैन धर्म का प्रचार हुआ। ऐसे तो जैन मतावलम्बी अपने धर्म को अनादि मानते हैं परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से इसका प्रचार और विस्तार ईसा से छठी शताब्दी पूर्व हुआ है। महावीर स्वामी का जन्म ईसा से 599 वर्ष पूर्व और देहान्त 517 वर्ष पूर्व माना जाता है। इनसे पूर्व 23 तीर्थङ्कर और हो चुके थे। जैन धर्म का प्रारम्भिक साहित्य अर्द्ध मागधी में है जिसमें 41 सूत्र, 12 निर्युक्तियाँ, एक महाभाष्य और कितने ही प्रकीर्णक माने जाते हैं, परन्तु ईसा के पश्चात् जैन विद्वान् भी अपने ग्रन्थों की रचना संस्कृत में करने लगे। अतः उपरोक्त सूत्रों के अतिरिक्त प्रायः समस्त ग्रन्थ संस्कृत में लिखे गये हैं। श्वेताम्बर जैन साहित्य में उमास्वाति का तत्वार्थाधिगम सूत्र तीसरी शताब्दी में लिखा गया था। इस पर कई विद्वानों ने टीकाऐं लिखी हैं और यह ग्रन्थ श्ववेताम्बरों में बहुत लोकप्रिय है। इसके पश्चात् पाँचवी शताब्दी में सिद्धसेन दिवाकर ने न्यायावतार लिखा और फिर नवीं शताब्दी में हरिभद्र ने षड्दर्शन समुच्चय की रचना की। चतुर्दश शताब्दी में मेरुतुंग ने षड्दर्शनविचार लिखा और लगभग, उसी समय नवतत्व नामक ग्रन्थ की रचना हुई। दिगम्बर सम्प्रदाय का दर्शन साहित्य भी संस्कृत भाषा में बहुत है। कुन्द कुन्दाचार्य का पंचास्तिकायसार बहुत प्रसिद्ध ग्रन्थ है। कुन्द कुन्दाचार्य एलाचार्य के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। आठवीं शताब्दी में विद्यानन्द ने जैन-श्लोक-वार्तिक लिखा और नवीं शताब्दी में गुणभद्र ने आत्मानुशासन नामक ग्रन्थ की रचना की। इसी शताब्दी ने अमितचन्द्र पे तत्वार्थसार और और पुरुषार्थसिद्धदुपाय लिखे। फिर दसवीं शताब्दी में नेमिचन्द्र ने द्रव्य संग्रह की रचना की। गौमटसार नामक दिगम्बर ग्रन्थ में बन्ध के पाँच कारणों का अर्थात बन्ध, बन्ध्यमान, बन्ध स्वामी, बन्धहेतु और बन्धभेद का बड़ा अच्छा दार्शनिक वर्णन है। इसी प्रकार लब्धिसार, क्षमणसार, त्रिलोकसार और प्रलोकसार भी प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी में सकलकीर्ति ने तत्वार्थसारदीपिका की रचना की। इससे पूर्व मल्ली सैन स्याद्वाद मंजरी की और देवसूरिप्रमाण-नय-तत्वा-लोलोकालंकार की रचना कर चुके थे।

विद्वानों की मान्यता है कि जैनदर्शन, सांख्यदर्शन से मिलता जुलता है। दोनों के द्वैतवाद में प्रत्यक्ष समानता है। न्याय वैशेसिक से भी जैनदर्शन की समानता है। जैन लोग पाँच प्रकार का ज्ञान मानते हैं 1. मति ज्ञान 2. श्रुति ज्ञान 3. अवधि ज्ञान 4. मनः पर्याय ज्ञान 5. केवल ज्ञान। इनमें प्रथम तीन ज्ञान

दूषित हो सकते हैं परन्तु अन्तिम दो ज्ञान निर्दोष हैं। मति और श्रुति परोक्ष ज्ञान हैं और शेष तीन प्रत्यक्ष ज्ञान माने जाते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान के भी दो भेद किये गये हैं। समव्यावहारिक और परमार्थिक और इसी प्रकार परोक्ष के पाँच भेद किये गये हैं 1. स्मृत 2. प्रत्यभिज्ञा 3. तर्क 4. अनुमान और 5. आगम। जैनदर्शन में सर्वाधिक महत्व स्याद्वाद या सप्त भंगी का है। इसके अनुसार प्रत्येक पदार्थ या उसके गुणों को सात दृष्टियों से या सात विधियों से देखा जा सकता है अर्थात स्याद अस्ति, स्याद नास्ति, स्याद अस्ति नास्ति, स्याद् अवक्तव्य, स्याद् अस्ति अवक्तव्य, स्याद् नास्ति अवक्तव्य, स्याद् अस्ति नास्ति अवक्तव्यश्च। इन सप्त भंगियों में प्रथम दो मुख्य हैं। स्याद् अस्ति का अर्थ है कि पदार्थ स्वरूप, स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र और स्वकाल में स्थित है और दूसरे भंगी का अभिप्राय यह है कि पदार्थ की स्थिति इससे विपरीत भी है। वास्तव में प्रत्येक पदार्थ को सदपदात्पकं माना गया है। शंकर और रामानुज ने सप्त भंगी की आलोचना की है। उनका कहना है कि पदार्थ को स्वरूपेणसंत्वात और पर रूपेण असत्वात् कहा जा सकता है। एक ही पदार्थ में दो विरोधी गुणों का अर्थात सत् और असत् का अध्याहार नहीं किया जा सकता।

बौद्ध साहित्य :

बुद्ध का जन्म ईसा से पूर्व 567 में हुआ था। बौद्ध धर्म का प्रारम्भिक साहित्य पाली भाषा में है जिनमें मुख्य पिटक हैं। इनका संकलन ईसा से पूर्व 241 में हुआ था। पिटक तीन हैं। अभिधम्म पिटक, विनय पिटक और सुत्त पिटक। अभिधम्म पिटक कश्यप ने लिखे थे। विनय पिटक उपाली ने और सुत्त पिटक आनन्द ने, अपनी स्मृति के आधार पर लिखवाये थे। अभिधम्म पिटक में बौद्ध धर्म के सिद्धान्त हैं। विनय पिटक में संघ के संगठन और संचालन तथा भिक्षुओं के लिए अनुशासन है। सुत्त पिटक में बुद्ध के भाषण हैं। सबसे अधिक महत्व इसी पिटक को माना जाता है। संस्कृतज्ञों के लिए पाली भाषा दुर्गम नहीं है। यह संस्कृत का ही अपभ्रंश है।

बुद्ध ने चतवारि आर्य सत्यानि और आर्य अष्टांग मार्ग का उपदेश दिया था। विद्वानों का मत है कि बुद्ध की शिक्षा उपनिषदों के मूलभूत सिद्धान्तों पर आश्रित है। बौद्ध साहित्य में मलिन्द-पनहा या मलिन्द प्रश्नाः नामक ग्रन्थ का भी उच्च स्थान है। इस ग्रन्थ में नागसेन नामक बौद्ध पंडित ने मिनेनडर नामक यवन राजा को अनात्मवाद या क्षणिकवाद के सिद्धान्त समझाये हैं।

बौद्ध धर्म के दो मुख्य सम्प्रदाय हैं-एक हीनयान और दूसरा महायान। हीनयान के ग्रन्थ मुख्यतः पाली भाषा में हैं और महायान की पुस्तकें अधिकांश संस्कृत में हैं। महायान सम्प्रदाय के नव ग्रन्थ मुख्य माने जाते हैं अर्थात 1. अष्टसाहसस्त्रिका प्रज्ञापारमिता 2. गण्डव्यूह 3. दश भूमीश्वर 4. समाधिराज 5. लंकावतार 6. सद्धर्मपुण्डरीक 7. तथागतकुहयक 8. ललितविस्तर 9. सुवर्ण प्रभासा। प्रज्ञापारमिता ईसा से दो सौ वर्ष बाद लिखा गया था। इसमें बोधिसत्व के गुणों का वर्णन है जिसमें प्रज्ञा अर्थात शून्य सिद्धान्त का ज्ञान सर्वोपरि माना गया है। नागार्जुन ने इस ग्रन्थ को संक्षिप्त करके महायान सूत्र नामक ग्रन्थ लिखा था। इस विद्वान् के माध्यमिक सूत्र इसी ग्रन्थ पर आश्रित है। गण्डव्यूह में बोधिसत्व मंजुश्री की स्तुति है। और शून्यता तथा धर्मकाय के सिद्धान्तों का वर्णन है। दशभूमीश्वर चतुर्थ शताब्दी में लिखा गया था। इसमें उन दस सोपानों का वर्णन है जिनके पार करने पर बोधिसत्व बनता है। समाधिराज में संवाद के रूप में ध्यान की विविध सीढ़ियाँ बतलाई हैं जिनके द्वारा बोधिसत्व को बड़ा ज्ञान प्राप्त होता है। लंकावतार सूत्र भी चतुर्थ शताब्दी की रचना है और इसमें योगाचार

सिद्धान्तों का विवेचन है। सद्धर्मपुण्डरीक में बुद्ध को देवाधिदेव कहा गया है और उसी को अजर और अमर बतलाया है और कहा गया है कि जिस मनुष्य ने बुद्ध के उपदेश सुने और सुकार्य किये हैं वह भी बुद्ध बन सकता है। ललित विस्तर में बुद्ध की लीला का वर्णन है जो विष्णु के अवतार की लीला से मिलता जुलता है। सुवर्ण प्रभाषा में कुछ अंश दार्शनिक हैं और कुछ पौराणिक है। इसमें तांत्रिक क्रियाओं का भी वर्णन है। इनके अतिरिक्त सुखावतिव्यूह और अमितार्याध्यीन सूत्र तथा वज्रछेदिका भी महायान के मुख्य ग्रन्थ माने जाते हैं। इनके अनुवाद जापान में लोकप्रिय हैं। सुखावतिव्यूह में महायान के स्वर्गलोक का वर्णन है। गण्डव्यूह में अवलोकितेश्वर की स्तुति है। यह ग्रन्थ हिन्दू पुराणों से मिलता जुलता है। अवलोकितेश्वर संसार के जीवों पर दया दृष्टि रखता है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त महावस्तु, वज्र सूची, शिक्षा समुच्चय, वोधिचर्यावतार भी महायान धर्म के उपादेय ग्रन्थ माने जाते हैं।

महाभारत पुराण :

इतिहासवेत्ता महाभारत का समय ईसा से 1200 या 1100 वर्ष पूर्व का मानते हैं और इसकी रचना बौद्ध धर्म से पहिले की मानी जाती है। वाल्मीकि रामायण ऐतिहासिक ग्रन्थ है। राम का समय महाभारत से भी पहले का है परन्तु इस ग्रन्थ की रचना महाभारत से बाद की समझी जाती है। इस संक्षिप्त लेख में इस विवाद के लिए स्थान नहीं है। यहाँ केवल इतना बतला देना पर्याप्त होगा कि महाभारत और रामायण भारत के साहित्य में देदीप्यमान रत्न हैं। महाभारत भारत की संस्कृति और सभ्यता का विश्वकोष है। हमारे देश से सम्बन्धित ऐसा कोई विषय नहीं है जिसका महाभारत में उल्लेख नहीं हो। इसलिए इस ग्रन्थ को पाँचवा वेद माना गया है। इसमें वैदिक धर्म के विविध पक्षों का वैष्णव और शाक्त धर्म के विविध स्वरूपों का और अवैदिक सम्प्रदायों का उल्लेख है और गृहस्थ धर्म, समाज धर्म तथा राज धर्म का बड़ा सूक्ष्म वर्णन है। वाल्मीकि रामायण मर्यादा ग्रन्थ है। भगवान रामचन्द्र और सीता का ही नहीं दशरथ, भरत, तत्कालीन ऋषि और मुनि, यहाँ तक कि रावण का चरित्र भी मर्यादा सूचक है। इस ग्रन्थों के आधार पर संस्कृत के कितने ही नाटकों की और अन्य कई ग्रन्थों की वर्तमान भारतीय भाषाओं में रचना हुई है। गीता महाभारत का अंग है। कुछ विद्वान् इसको महाभारत के बाद की रचना मानते हैं जो महाभारत में प्रविष्ट करदी गई हैं परन्तु यह मत सर्वमान्य नहीं है। गीता में विविध धार्मिक विचारों का सुन्दर समन्वय करके निष्काम कर्म का उपदेश दिया गया है जिसकी इस युग के महापुरुषों ने बड़ी स्तुति की है। लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी, अरविन्द घोष, राजगोपालाचार्य, डॉ. ऐनीबेसेन्ट और तैलंग ने गीता के भाष्य या अनुवाद किये हैं और महात्मा गाँधी ने इसके अनुवाद की भूमिका में लिखा है कि मैं पंडित नहीं हूँ परन्तु गत चालीस वर्ष से मैं गीता के सिद्धान्तों पर चलने का प्रयत्न कर रहा हूँ। अपनी आत्मजीवनी में गाँधी जी ने लिखा है कि गीता को मैं अपने आचरण की डिक्सनरी मानता हूँ। जब कोई विपत्ति मेरे सम्मुख उपस्थित होती है तो मैं गीता के पृष्ठ उलटता हूँ और मुझे तत्काल उसका हल मिल जाता है। यह संस्कृत भाषा का सौभाग्य और गौरव है कि उसमें ऐसे विश्ववंद्य और सर्वमान्य ग्रन्थ की रचना हुआ।

सूत्र साहित्यः

संस्कृत भाषा में सूत्र साहित्य अनुपम रचना है। यह ऐसी शैली है जो संस्कृत में ही मिलती है। श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, अष्टध्यायी और षड्दर्शन इसी शैली में लिखे गये हैं। इस शैली के निर्माता संक्षेप को इतना महत्व देते थे कि एक अक्षर भी यदि न्यून

किया जा सके तो उसको पुत्र जन्म के समान लाभप्रद समझते थे। पूर्वमीमांसा और उत्तर मीमांसा, सांख्य और योग, न्याय और वैशेषिक ये षड्दर्शन माने जाते हैं। इनमें भारतवर्ष के ही नहीं समस्त संसार के दार्शनिक विचारों का समावेश हो जाता है। उत्तर मीमांसा का शंकर भाष्य गहन पांडित्य का विषय है। सांख्य को आस्तिक और नास्तिक दोनों मानते हैं। योग दर्शन प्राय: सारे संसार में लोकप्रिय बन गया है और न्याय वैशेषिक के महत्व को भी सब विद्वान् स्वीकार करते हैं।

धर्म सूत्रों में गृहस्थ धर्म, शिक्षा और राजनीति के सिद्धान्त वेदों की अपेक्षा कुछ अधिक विस्तृत रूप से प्रतिपादित किये गये हैं। इन्हीं को फिर मनुस्मृति में और अन्य स्मृतियों में अधिक विस्तार से लिया गया है।

अब तक इस लेख में संक्षेपत: यह बतलाया गया है कि धर्म, दर्शन, तत्वज्ञान, राजनीति, शिक्षा और समाजशास्त्र पर संस्कृत में क्या साहित्य है। अब राजनीति के विविध पक्षों पर संस्कृत में क्या साहित्य है इसका थोड़ा उल्लेख करना आवश्यक है।

शिक्षा :

ऋग्वेद के समय से ही शिक्षा का बहुत बड़ा महत्व था। शिक्षा के बिना मनुष्य जीवन व्यर्थ माना जाता था। उपनिषद्काल में व्याकरण, भाषा-विज्ञान, छन्द शास्त्र, तत्व ज्ञान तथा विविध प्रकार के व्यवसायों की शिक्षा आवश्यक मानी जाती थी। उस समय तक्षशिला का विश्वविद्यालय समस्त एशिया महाद्वीप में प्रसिद्ध था। वहाँ आयुर्वेद, अथर्ववेद, ज्योतिष, संगीत नृत्य आदि की शिक्षा दी जाती थी और साथ ही भाषा व्याकरण और कम से कम एक वेद का ज्ञान आवश्यक माना जाता था। स्त्री शिक्षा की भी उपेक्षा नहीं थी। गार्गी, उपाला और मैत्रेयी तत्व ज्ञान की पंडितायें थीं। सुलभो, बड़वा, प्राचतंई, आदि ऐसी विदुषियाँ थीं जो बड़े बड़े विद्वानों से शास्त्रार्थ करती थीं। जो छात्र वेदों का विशेष अध्ययन करते थे उनके लिये ही पाठ, जटा पाठ और धन पाठ भी आवश्यक माना जाता था। उस समय विद्यार्थियों की स्मृति बड़ी ही आश्चर्यजनक थी। इतसिंग नामक चीनी यात्री ने सातवीं शताब्दी में भारत के विद्यार्थियों को देखा था। उसने लिखा है कि कितने ही विद्यार्थियों को गुरुमुख से केवल एक बार सुनने पर ही पाठ कंठाग्र हो जाता था।

आयुर्वेद को शिक्षा सब वर्ग के लोगों के लिए प्राप्य थी। इसके विविध विषयों में छात्र विशेषज्ञता भी प्राप्त करते थे। शल्यक्रिया मृतक मनुष्यों पर और पशुओं पर सिखाई जाती थी। तक्षशिला के चिकित्सालयों में विद्यार्थियों को निदान और प्रयोग करना सिखाया जाता था। आयुर्वेद का ज्ञान इतना उन्नत था कि आठवीं शताब्दी में अब्बासी खलीफ़ों ने भारतवर्ष से वैद्यों को बुलवा कर अपने राज्य में चिकित्सालय खुलवाये थे।

पाँचवी और छठी शताब्दी में बौद्ध मठ शिक्षा के केन्द्र थे और आठवीं शताब्दी में दक्षिण में लगभग बारह ऐसे मन्दिर थे जिनमें सैंकड़ों विद्यार्थियों को उच्चशिक्षा दी जाती थी वहीं विद्यार्थियों को भोजन मिलता था और उनके निवास का प्रबन्ध था। नालन्दा और विक्रमशिला में ऐसे विश्वविद्यालय थे जिनकी समस्त ऐशिया में ख्याति थी। यहाँ पूर्व और मध्य एशिया से विद्यार्थी अध्ययनार्थ आया करते थे। ह्यनच्यांग नामक चीनी यात्री ने भारत में कई शिक्षा केन्द्र देखे थे और नालन्दा विश्वविद्यालय में रह कर उसने अध्ययन किया था। वहाँ पर उस समय लगभग दस हजार विद्यार्थी थे। विद्यार्थियों का जीवन सादा था। सबको अध्ययन की स्वतंत्रता थी। अध्यापक विद्यार्थियों पर व्यक्तिगत ध्यान देते थे। गुरुकुल प्रथा

प्रचलित थी। शिक्षा संस्थायें नगरों से दूरी पर स्थित थीं। आज इन्हीं सिद्धान्तों की पूर्ति के लिए प्रयत्न किया जा रहा है।

राजनीति :

वेदों में राजा के कर्त्तव्यों का और सभा तथा समिति नामक दो राजनीतिक संस्थाओं का उल्लेख है। यह पहले ही बतला दिया गया है। राजनीति पर संस्कृति में प्रचुर साहित्य है। इसमें ऐतरेय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण, धर्मसूत्र, महाभारत का शान्तिपर्व और अनुशासन पर्व, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, कामन्दक का नीति सार और शुक्रनीति आदि ग्रन्थ विशेष उल्लेख के योग्य हैं। इनमें राजनीति के आधुनिक समस्त सिद्धान्तों का समावेश है। ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि 'देवासुरा वा एषु लोकेषुस मयतंत .... तांस्ततो सुरा अजयन .... देवा अव्रवुन्नराजतया वै नो जयंति राजानं करवा मह इति तथेति।' इसी प्रकार अथर्ववेद के एक सूत्र से प्रगट होता है कि राजा को जनता निर्वाचित करती थी या जनता की इच्छा से ही राजा का राज्य टिकता था। राजा का राज्याभिषेक भी एक प्रकार का निर्वाचन ही था। ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि 'एतेनैन्द्रेण महाभिषेकेण क्षत्रियं शापपित्वा अभिपिचेत सवूयात् सह श्रद्धया यांच रात्रीमनायेहंयांच प्रेतास्मि तदुभयमन्तरेणोष्टापूर्त्त में लोकं सुकृत, मायु प्रजां वृंजीथा ते द्रुह्यमिति। इसी ब्रह्मण में राज्याभिषेक के समय की एक क्रिया का उल्लेख है। पुरोहित राजा की पीठ पर हल्के से डंडा मारता था जो इस बात का लाक्षणिक संकेत था कि राजा को भी न्याय पक्ष से विचलित होने पर दंड दिया जा सकता है। शतपथ का वाक्य यह है 'अथेनं पृष्ठस्तूष्णीमेव दण्डैर्ध्नन्ति। दण्डैर्ध्नन्तो दण्डवधमति नयन्ति तस्माद्राजा दण्डया यदेन दण्डवधमति नयन्ति, ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार कोई राजा एक पीढ़ी के लिए, कोई दो पीढ़ी के लिए और कोई तीन पीढ़ी के लिये अभिषित्त किया जाता था और किसी का वंशानुगत अभिषेक होता था।

अभिषेक के समय राजा प्रजापालन की प्रतिज्ञा करता था। वह निरंकुश होकर कोई काम नहीं कर सकता था। शांतिपर्व में इसका उल्लेख इस प्रकार किया गया है।

प्रतिज्ञा-मधिरोहस्व मनसा कर्म्मणागिरा।
पालयिषाम्यहं भौम ब्रह्मत्येव चासकृत॥
यश्चात्र धर्म नीत्युक्तों दण्डेनीतिव्यपाश्रयः।
तमशकं करिष्यामि स्ववशो न कदाचन॥

यदि राजा राज्य की रक्षा न कर सके और अपनी प्रतिज्ञा का पालन न कर सके तो जनता उसका उन्मत्त कुत्ते की भाँति वध कर सकती थी। महाभारत के अनुशासन पर्व में लिखा है कि-

अरक्षितारं हर्त्तारं विलोप्तारमनायकम्।
तं वै राजकलिंहन्युः प्रजाः सन्नह्य निर्धृणम॥
अहं वो रक्षितेत्युक्तवा यो न रक्षति भूमिपः।
स संहत्य निहन्तव्यः श्वेव सोन्मादातुरः॥

राजा को दण्ड देते समय और कर लगाते समय बड़ी सावधानी बरतनी पड़ती थी। अर्थशास्त्र में लिखा है कि जो राजा लोगों को दण्ड से और अत्यधिक कर से उत्पीड़ित करता है वह गुण हीन राजा है-

न चास्य कश्चित गुणों दृश्यते यः पौर जान
पदान्दण्ड कराभ्यां पीड़ियति

चोरी या डकैती हो जाने पर राजा अपने कोष से धन देता था। याज्ञवल्क्य ने लिखा है कि देयं चौर हतं द्रव्यम्।

शुक्रनीति सार का वचन है कि राजा चाहे

समस्त विद्याओं में कुशल हो तो भी मंत्रियों की सलाह के बिना कोई कार्य न करे क्योंकि ऐसा न करने से राज्य की हानि होती है और प्रजा असंतुष्ट होती है।

सर्वदा स्याननृपः प्राज्ञः स्वमते न कदाचन्।

भिन्न राष्ट्रो भवेत्सद्यां भिन्न कृतिरेवच॥

राजा जनता से कर ग्रहण करता था, इसलिए वह प्रजा का दास माना जाता था। वह स्वामी केवल इस दृष्टि से था कि वह प्रजा का पालन करता था। शुक्र नीति में लिखा है कि-

स्वभागमृत्या दास्यत्वे प्रजानां च नृपः कृतः।

ब्रह्मणा स्वामिरूपस्तु पालनार्थहि सर्वदा॥

महाभारत में कहा है कि जो राजा अपने राज्य को कर द्वारा चूसता है उसका राज्य नष्ट हो जाता है और जनता उससे द्वेष करती है।

प्रद्विषन्ति परिख्यातं राजानभतिखादिनम्।

शासन प्रणाली चाहे जनतंत्रात्मक हो चाहे राजतंत्रात्मक हो, मूल सिद्धान्त सबके एक हैं परन्तु यह बात नहीं है कि भारत में केवल राजतंत्र प्रणाली ही थी।

पाणिनि का समय ईसा से आठसौ वर्ष के पूर्व माना जाता है। उसकी अष्ठाधायी में कई गुणों और संघों का उल्लेख है। इसी प्रकार बौद्ध साहित्य में भी जनतंत्रों का उल्लेख आया है। अर्थशास्त्र में सात जनतंत्रों के नाम लिखे हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में कई प्रकार के संविधानों का उल्लेख है। महाभारत में बत्तीस श्लोकों में बतलाया है कि गणों का पतन कैसे होता है और एक दूसरे प्रकरण में गणराज्यों की कठिनाइयों का वर्णन किया है। भारतवर्ष के विभिन्न भागों में सब मिलाकर 81 गणतंत्र ईसा से पहले हो चुके थे।

यूरोपीय विद्वानों ने यह भ्रांति फैला रखी है कि प्राचीन भारत के लोगों का ध्यान विज्ञान की ओर नहीं गया और संसार में सर्वप्रथम छठी शताब्दी में यूनानी लोगों ने प्रकृति के रहस्यों पर विचार करना शुरु किया। वास्तव में विज्ञान की और ऋग्वेद के युग में ही ऋषियों का ध्यान आकर्षित हो चुका था। यह प्रश्न उपस्थित था कि संसार की सृष्टि किस प्रकार हुई? आरम्भ में क्या था, किसका कौन रक्षक था? उस समय न मृत्यु थी और न मोक्ष था, न आकाश था, न पृथ्वी थी और न दिन था न रात थी। शायद केवल अगाध शून्य था। उसमें एक बीज था जो सहसा फटा और सृष्टि का उदय हुआ। उस समय कोई एक अद्वितीय शक्ति थी। देव भी नहीं थे।

इसके पश्चात क्षिति, अष्प, तेज, मरुत और व्योम पाँच आदि तत्व माने जाने लगे और यह सिद्धान्त स्थिर हुआ कि इन्हीं से सृष्टि हुई है। कणाद सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणुओं से ब्रह्माण्ड की सृष्टि मानता है जो यूनानी विद्वान् ल्युसीपस और डिमोक्रिटस से मिलती जुलती है। कणाद ने ध्वनि की उत्पत्ति भी उर्मिक्रम में बतलाई है। इस पर आज के विद्वान् चकित हुये बिना नहीं रह सकते। यह भी उस समय विदित था कि प्रकाश और गर्मी एक ही तत्व के दो रूप है। हरकुलिस ने यंत्रों की सहायता के बिना ही वर्तमान भौतिक विज्ञान के कई सिद्धान्तों का पता लगा लिया था परन्तु उससे भी पहिले कणाद और कपिल इन्हीं सिद्धान्तों की खोज कर चुके थे। उस प्राचीन काल में आर्यों ने सूर्य, चन्द्र और तारों का सूक्ष्म अध्ययन कर लिया था। सूर्य की राशियों का उनको ज्ञान था। ऋतु परिवर्तन के कारणों को खोज करली गई थी और प्रति तीसरे वर्ष अधिक मान की गणना हो चुकी थी। छठी शताब्दी के आरम्भ में आर्यभट्ट ने आर्यभटीयम् नामक ग्रन्थ लिखा था।

उसने वर्ष का परिमाण निश्चित किया। पृथ्वी अपनी कीली पर घूमती है, इसका पता लगाया। सूर्य ग्रहण और चन्द्र ग्रहण क्यों होता है इसको समझाया और पृथ्वी अपनी परिधि पर सूर्य की परिक्रमा किस गति से करती है उसका अर्थात Epicyclic सिद्धान्त निश्चित किया।

मूल सर्वास्तिवादि बौद्ध सम्प्रदाय के एक विद्वान् ने विनयवस्तु नामक ग्रंथ की संस्कृत में रचना की। उसमें अनेक रोगों के लक्षण और उनकी चिकित्सा के साधन दिये हुये है। आगे चल कर सुश्रुत और चरक जैसे अमर ग्रन्थों की रचना हुई। सुश्रुत में ऐसी शल्य क्रियाओं का वर्णन है जिनका आज से 100 वर्ष पहिले तक यूरोप को ज्ञान नहीं था। इन ग्रन्थों का आठवीं शताब्दी में खलीफ़ों ने अरबी में अनुवाद कराया। पराशर ने वृक्षायुर्वेद् लिखा है जिसमें पौधों और वृक्षों की रचना का वर्णन है। एक दूसरा ग्रन्थ उपवन-विनोद नाम का है जिसमें उपयुक्त भूमि, पौधों के भेद, उनकी उत्पत्ति के उपाय, उसके पालन की क्रियाऐं और उनके रोगों की चिकित्सा का वर्णन है। वराहमिहिर ईसा से छठी शताब्दी पूर्व बहुत बड़ा ज्योतिषी और गणतिज्ञ हुआ था। उसने भी वृक्षारोपण, वृक्षरोग, वृक्ष चिकित्सा, बीजोन्नति और पुष्पोन्नति तथा उनके रंग, सुगन्ध और अन्य गुणों का वर्णन किया है। एक बौद्ध विद्वान् उदयन ने लिखा है कि पौधों में जीवन है। वे सोते हैं, जगते हैं, मरते हैं, उनमें रोग उत्पन्न होता है। उनकी चिकित्सा की जा सकती है। आर्य भट्ट ने गणित के अनेक सिद्धान्तों का पता लगाकर इसे विज्ञान में बड़ी उन्नति की। युकलिड से पहिले ही आर्यभट्ट ने ज्योमैट्री और ट्रिक्नोमेट्री के सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर दिया था। अंकगणित और बीजगणित में अपने समय में यूनानियों से हिन्दू लोग बहुत आगे बढ़ हुये थे। धातु विद्या और खनिज विद्या में भारत चौथी शताब्दी से पहले ही बड़ी उन्नति कर चुका था। दिल्ली के कुतुबमीनार के पास एक लौह स्तम्भ है जो 24 फुट ऊँचा है और जिसका भार साढ़े छ: टन अर्थात एक सौ पिचेहत्तर मन से कुछ ऊपर है। यह ढला हुआ है और नीचे ऊपर की ओर इसकी गोलाई क्रमश: कम होती जाती है। यह 1500 वर्ष पूर्व से खड़ा है परन्तु इस पर काठ नहीं लगता। आज से 200 वर्ष पहले तक इस प्रकार का लौह स्तम्भ संसार के किसी भी कारखाने में नहीं बन सकता था। प्राणी शास्त्र का भी आर्यों को बड़ा अच्छा ज्ञान था। एक हस्तायुर्वेद नामक ग्रन्थ है जो बहुत पुराना माना जाता है। इसमें हाथियों की चिकित्सा के उपाय दिये हैं। वराहमिहिर की वृहतसंहिता में गउओं, घोड़ों, बकरियों तथा कुकुक्टों की चिकित्सा के साधन दिये हुये हैं।

अनेक ऐतिहासिक उथल पुथल के कारण भारत का प्राचीन ज्ञान अधिकांश लुप्त हो गया है। यह 12वीं शताब्दी के अन्त तक का चित्र है। उस समय जब मुसलमानों के आक्रमण हुये तो नालन्दा के विश्वविद्यालय के दस हजार से अधिक छात्रों का और एक हजार से ऊपर बड़े बड़े विद्वानों का वध किया गया और कई लाख ग्रन्थों को भस्मीभूत कर दिया गया। ऐसे प्रलयंकर विनाश के आगे क्या कोई ग्रन्थ बच सकता था, फिर भी यत्र तत्र लोगों के पास जो भी ग्रन्थ बच गये, जो अभी विद्यमान हैं। उन्हीं के आधार पर संस्कृत और संस्कृति का यह छोटा सा वृतान्त तैयार किया गया है। ❑

तीसरी सदी से 1857 तक

राजस्थान का सांस्कृतिक परिदृश्य

धार्मिक :

ईसा से 300 वर्ष पश्चात् तक के शिलालेखों से और यज्ञस्तूपों से प्रगट होता है कि उस समय तक इस भूखंड में वैदिक यज्ञों का प्रचार था। उसके पश्चात् या शायद साथ-साथ ही शैव मत भी प्रचलित हो रहा था। यह पूर्वी राजस्थान, मेवाड़ शेखावाटी और जैसलमेर के इलाके में लोकप्रिय धर्म था। कोटा, बूँदी और मेवाड़ में उस समय के शैव मन्दिर अभी विद्यमान हैं। मेवाड़ नरेश मुख्यत: शैव थे। जनता भी उन्हीं का अनुकरण करती होगी। भील, गिरासिया और सहरिया शिव की पूजा करते थे परन्तु इनके शिव उच्चवर्ण के लोगों के शिव से कुछ रूपान्तरित हो गये थे। शैव धर्म के साथ-साथ शक्ति धर्म भी प्रचलित था। गंगधार की एक दो प्रतिमाओं से जयपुर के रामगढ़ के मंदिर से और शेखावाटी के एकान्त स्थान की प्रतिमाओं से तथा जैसलमेर राज्य की बीजासन देवी की प्रतिमा से यह प्रमाणित होता है। देवियाँ कई प्रकार की थीं इनमें कुछ शाकाहारी और अधिकांश मांसाहारी थीं। इनके लिये भैसों और बकरों का बलिदान किया जाता था। शिव के रूपान्तर कई प्रकार के भैरव, काला गोरा आदि थे। शक्ति मन्दिरों में भूत-प्रेत, डाकिन, चुड़ैल आदि से ग्रस्त लोगों को मुक्त किया जाता था। साथ ही वैष्णव धर्म भी चल रहा था, परन्तु अभी वैष्णव धर्म के सम्प्रदायों की सृष्टि नहीं हुई थी। विष्णु की सवारी गरुड़ मानी जाती थी। विष्णु के कई अवतार माने जाने लगे थे। मारवाड़ के दक्षिणी इलाके में चौहटन नामक गाँव में एक शिव मन्दिर है। किराडू में भी वैसा ही एक बड़ा शिव मन्दिर है। किराडू के मन्दिर के शिव की इस समय भी पूजा होती है। चौहटन के निज मन्दिर के द्वार के ऊपर विष्णु के कई अवतार उत्कीर्ण हैं परन्तु इनके कार्य या लीलाएँ नहीं दिखाई गई हैं। फिर 11वीं शताब्दी तक विष्णु के अवतारों की प्रतिमाएँ बनती रहीं और उनकी पूजा भी होती रही। वराहावतार और कृष्णावतार की कितनी ही प्राचीन प्रतिमाएँ हैं जो उस युग में पूजी जाती थी। फिर 13वीं शताब्दी में दक्षिणात्य ब्राह्मण पंडित रामानुजाचार्य ने वैष्णव धर्म को निश्चित रूप देकर प्रचलित किया। उनका सम्प्रदाय विशिष्टाद्वैत कहलाता है। उनसे पहले श्री शंकराचार्य अपने अद्वैत का प्रचार कर चुके थे। उन्होंने ही बद्रीनारायण, जगदीश, द्वारिकाधीश और रामेश्वरम् की प्रतिमाओं की स्थापना की थी। लगभग उसी समय श्रीमद्भागवत् की रचना हुई। जिससे कृष्ण की विभिन्न लीलाओं का प्रचार हुआ और उनकी प्रतिमाएँ बनने लगीं। रामानुजाचार्य ने शंकर की भाँति वेदान्त सूत्रों का भाष्य किया। उन्होंने भी अद्वैत सिद्धान्त तो माना परन्तु उसमें हेर-फेर करके उसका नाम विशिष्टाद्वैत किया। इस सम्प्रदाय का प्रचार राजस्थान में मुख्यत: पुष्कर में हुआ। उदयपुर, जयपुर, बूँदी कोटा में रामानुज मत विशेष रूप से प्रचलित हुआ और इस सम्प्रदाय के मन्दिर भी बनें। उनको माफ़ी की जमीनें भी दी गई। उनके पुजारी दक्षिण से ही आये और राजस्थान में बस गये।

रामानुज के बाद बल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतवाद का प्रचार हुआ। यह भी अद्वैत ही था परन्तु इसमें शुद्ध शब्द जोड़ कर इसका बिल्कुल रूपान्तर कर दिया गया। इस सम्प्रदाय के मन्दिरों में पूजा बड़े

आडम्बर के साथ की जाती है। वल्लभाचार्य ने भी वेदान्त सूत्रों का अनुवाद किया था जो इस समय प्रचलित हैं। उन्होंने श्रीमद्भागवत् की संस्कृत में टीका लिखी थी इस मत का राजस्थान की सब राजधानियों में और बड़े-बड़े कस्बों में स्वागत हुआ। पुजारियों को मन्दिरों के निर्वाह के लिये जागीरें दी गईं। राजस्थान में इस सम्प्रदाय का प्रचार औरंगज़ेब के समय से हुआ था। उस समय विष्णु के सात स्वरूप ब्रज से राजस्थान में मँगवाये गये थे। उनको यहाँ स्थापित किया गया था। नाथद्वारा काँकरोली और कोटा में इनके मन्दिर अभी भी हैं। वल्लभ सम्प्रदाय के साथ अनेक अन्य विश्वास जुड़ गये हैं। शायद इनको वल्लभ के उत्तराधिकारियों ने ही चलाया होगा। कोटा में मथुराधीश का मंदिर इसी सम्प्रदाय का है। कहा जाता है कि मथुराधीश एक बालक के रूप में रात में प्रसाद बेचने वाले की दुकान पर आकर प्रसाद ले जाया करते थे। कारण यह था कि पुजारी सोते समय उनकी गोद में लड्डू रखना भूल जाता था। यह भी कहा जाता है कि एक दिन इस मन्दिर के पुजारी रणछोड़जी महाराज पालकी में बैठे जा रहे थे तो सामने एक मरी हुई गाय पड़ी थी। पालकी रुकी तो उन्होंने गाय के हाथ लगाया तो वह खड़ी हो गई।

वास्तव में हिन्दू धर्म में ऐसा कोई सम्प्रदाय नहीं है जिसमें अन्धविश्वास एवं चमत्कार का अभाव हो। इनके द्वारा ही अशिक्षित लोगों में धर्म फैलता है। शैव, शक्ति धर्म में भी इसका बड़ा स्थान है।

सामाजिक :

भारतवर्ष के अन्य प्रान्तों के समान राजस्थान में भी मुख्यत: समाज में चार वर्ण माने जाते थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। प्रत्येक वर्ण में कई जातियाँ थीं, इनका परस्पर खानपान बहुत कम था। राजपूतों में ऐसा नहीं था, परन्तु वैश्यों की कई जातियाँ थीं जिनमें परस्पर विवाह नहीं होता था। कुछ जातियाँ तो केवल राजस्थान में ही थी अन्यत्र नहीं। शूद्रों की असंख्य जातियाँ थीं। वैश्यों में खंडेलवाल, पोरवाल, ओसवाल आदि राजस्थान की विशेष जातियाँ थीं। शूद्रों में मीणा, धाकड़, कराड़, बाबरी, ढोली, कालबेलिये, सकलीघर, नट, भील, गिरासिये, लुहारिये, बसेड़ा, सहरिये, कंजर आदि थे। यह लोग अपना-अपना व्यवसाय करके परस्पर खाते-पीते नहीं थे, न इनमें परस्पर विवाह होते थे। वैवाहिक सम्बन्ध अपनी-अपनी जातियों में ही था। एक विशेष-जाति दरोगा कहलाते थे इनकी उत्पत्ति राजपूतों के अवैध सम्बन्धों से होती थी। यह लोग दासों की भाँति राजपूतों के यहाँ काम करते थे। इनकी स्त्रियाँ दासियाँ कहलाती थीं। इनको राजकुमारियों या जागीरदार ठाकुरों की लड़कियों के विवाह के समय दहेज में दे दिया जाता था। शूद्रों की उपजातियाँ अलग-अलग व्यवसाय करती थी। उनका यहाँ विस्तार रूप से उल्लेख नहीं किया जा सकता। संक्षेपत: इतना ही कहा जा सकता है कि मीणा, धाकड़, कराड़, माली (कृषि प्रधान) लुहार, खाती अपना-अपना व्यवसाय करते थे। प्रथम चार उपजातियाँ कृषि कार्य करती थीं। धाकड़ लोग कोटा, बूँदी और बूँदी से लगे हुए मेवाड़ के इलाकों में बसे हुए थे। मीणा सर्वत्र फैले हुए थे। इनमें कोटा और बूँदी में ये लोग कृषि कार्य करते थे और करते हैं। मेवाड़ के कुछ इलाकों के मीणा चोरियाँ और डकैतियाँ करते हैं। अजमेर के इलाके के मीणे चौकीदारी करते थे और सेना में भी भरती हो जाया करते थे। अँग्रेज़ों ने 19वीं शताब्दी में एक मीणा कोर नामक सैनिक टुकड़ी बनाई थी। जो देवली में रखी गई थी। इसके बड़े अफ़सर अँग्रेज़ थे। छोटे-छोटे अफ़सर दूसरी जाति के थे परन्तु उनमें कुछ

मीणे भी थे। देवली के पास जहाजपुर और उसके पास के इलाकों के मीणें जरायम पेशा माने जाते थे। अभी भी ये लोग यह काम करते हैं। कंजर लोग भी चोरी और डकैती किया करते हैं। अभी तक यह लोग स्थायी रूप से शान्त व्यवसायों में नहीं लगाये गये हैं। इन लोगों के चोरी व डकैतियों के ढंग विविध प्रकार के हैं। कंजर लोग दौड़ने में निपुण हैं। निरन्तर दौड़ते हुए पन्द्रह मील तक चले जाते हैं। इसी प्रकार साँसिया जाति के लोग पशुओं की चोरी करते हैं। साँसिया चुराये हुए पशुओं को अदल-बदल करते हैं। ढोली लोग त्यौहारों विवाह आदि पर और जन्म-मरण के समय विशिष्ट दिनों पर ढोल बजाते हैं। नट लोग खेल दिखाते हैं जो एक प्रकार का सरकस है। भील लोग राजस्थान के आदि निवासी है। इसी प्रकार बाबरी लोग हैं जो गाना सुनाकर या पशुओं की चोरी करके अपना निर्वाह करते हैं। वास्तव में राजस्थान की इस प्रकार की विशेष जातियों का वृत्तान्त संक्षेप में लिखने से अधूरा और चौथाई भी नहीं हैं। यहाँ केवल संकेत मात्र किया गया है। उपरोक्त जातियों के अतिरिक्त और भी अनेक जातियाँ हैं जो विशेषत: राजस्थान में ही मिलती हैं। इनमें रेगर, बेला, मोची, रेबारी आदि थे। ब्राह्मणों में दो तीन उपजातियाँ ऐसी है जो अन्यत्र नहीं मिलती। यह हराण्या गौड़, मेराण्या गौड़ हैं। इनकी संख्या बहुत कम है परन्तु यह न तो शिक्षित हैं न इनमें कोई ब्राह्मण का कर्म करते हैं। यह प्राय: किसान हैं। इनमें कुछ किसानों के यहाँ हाली व ग्वाल का कार्य भी करते हैं। परन्तु कुछ लोग सम्पन्न भी हैं। ये लोग अपने को त्यागी ब्राह्मणों की एक शाखा कहलाने लगे हैं। परन्तु त्यागी लोग इनको स्वीकार नहींकरते। कारण यह है कि त्यागी लोग स्वयं पश्चिमी उत्तर प्रदेश से आकर पूर्वी राजस्थान में बसे हैं। एक शूद्र जाति लोधा कहलाती है। ये लोग सन बोने और उतारने का काम करते हैं और रस्से बनाते हैं। राजपूतों का खान-पान एक है परन्तु इनकी एक ही जाति में परस्पर विवाह नहीं होते। चौहान, राठौड़, कछावा, भाटी, दूसरी जातियों के राजपूतों में विवाह करते हैं परन्तु सब सैनिक हैं।

व्यवसाय :

ब्राह्मणों का व्यवसाय सेवा पूजा, कर्मकाण्ड, कथा-वाचन, शिक्षा, राजसेवा थी परन्तु कुछ लोग लेन-देन और कृषि कार्य भी करते थे। ब्राह्मण लोग स्वयं हल बहुत कम चलाते थे, इसके लिये वे लोग नौकर रखते थे और अभी भी रखते हैं जो हाली या ग्वाल कहलाते हैं। प्रत्येक गाँव में या दो-चार गाँव में मिलकर एक ब्राह्मण गाँव गुरु होता है। जो विवाह करवाता है। टेवे या जन्मपत्री बनाता है और जन्म-मरण के समय आवश्यक कृत्य करवाता है। गाँव में घूम कर प्रत्येक मकान के दरवाज़े के ऊपर जो गणेश प्रतिमा रखी जाती है उसकी पूजा करता है। यही गाँव के मन्दिर का पुजारी होता है। इसको खरीफ़ और रबी की फसल पर कृषक लोग कुछ बिना कुटा हुआ अन्न दे देते हैं। बड़े-बड़े गाँवों, कस्बों और नगरों में ब्राह्मण लोग स्वाधीनता प्राप्ति से पहले अपनी-अपनी पाठशालाएँ चलाते थे। बच्चों के माता-पिता ऐसे ब्राह्मणों को निर्वाह के लिये प्रतिमास, वर्ष या त्यौहारों व अवसरों पर अन्न या नकद दे दिया करते थे। अब यह प्रथा बन्द हो गई है, क्योंकि पाठशालाओं का संचालन सरकार ने अपने हाथ में ले लिया है।

राजपूत लोग सेना में भरती होते हैं या जागीरदारों के यहाँ चौकीदारी और दूसरा काम करते हैं। जहाँ जागीरदार जाते हैं उनके साथ यह घोड़े की सवारी करते हैं। जागीरदारों के शिष्ट मंडलों में यही लोग जाते हैं शिकार में भी यह लोग नरेशों के साथ रहते थे। इनके साथ सम्मानपूर्वक

व्यवहार किया जाता था। जागीरदारों के बालक इनको काका, दादा या बाबा कहकर पुकारते थे।

वैश्य लोगों का समाज में ऊँचा स्थान था और अब भी है। यह लोग ब्याज पर रुपया उधार देते थे और बाढ़ी पर अन्न उधार देते थे। कभी नरेश लोग भी इनसे ब्याज पर रुपया उधार लेते थे। उसको चुकाने के लिये गाँवों का मुकाता दे दिया करते थे। ब्याज की दर बड़ी ऊँची थी। कभी-कभी 24 रु. प्रतिवर्ष, 100 रु. पर ब्याज लिया जाता था। 12 रु. प्रतिवर्ष प्रति 100 रु. तो साहूकारी ब्याज माना जाता था। साधारण कोटि के वैश्य गाँव में अपनी छोटी सी दूकान लगाया करते थे। जहाँ प्रतिदिन की आवश्यकताओं की खाने-पीने की चीजें अन्न, दाल, नमक, मिर्च, हल्दी और लोंग सौंठ, पीपल आदि साधारण दवाइयाँ बेचा करते थे।

शूद्रों के व्यवसाय अगणित थे। कृषकों का उल्लेख किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त प्रत्येक गाँव में उसके आकार के अनुसार एक या दो बढ़ई, लुहार रहते थे जो कृषि सम्बन्धी औजार बनाते थे या उनकी मरम्मत किया करते थे। भेड़ और बकरियाँ पालने और बेचने वालों की अनेक जातियाँ थी- भेड़ों का व्यवसाय करने वाले गडरियाँ और गूजर कहलाते थे। यह लोग दूध और घी बेचते थे। बकरों को बलि देने के लिये बेचते थे। बकरे व भेड़ों की चराई पर नाममात्र का सरकार टैक्स लेती थी।

भील लोग चौकीदारी और यात्रियों की रक्षा का कार्य करते थे। एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने वाले यात्रियों की जंगल में होकर जाते समय कुछ मजदूरी पर उनकी रक्षा करते थे। यात्रियों को लूटने वाले और परेशान करने वाले भी प्राय: भील ही होते थे। कुछ भील नाम मात्र की खेती भी करते थे जो पाही की काश्तकारी कहलाती थी। इससे इनका निर्वाह नहीं होता था। भील लोग अलग-अलग झुंड नहीं रखते थे इनकी बस्तियाँ पाल कहलाती थीं। यह लोग शिव-पार्वती, भैरव- भवानी की पूजा करते थे। परन्तु इन देवी-देवताओं की पूजा विधि भी विशेष प्रकार की थी जो अन्य ब्राह्मण पूजा विधियों से भिन्न थी। इसी प्रकार गिरासिये और सहरिये भी खेती करते थे और चोरी, लूटमार और डकैतियो से निर्वाह करते थे।

इसी प्रकार चमार, बसेड़े, बाले, महत्तर, रैगर अपना-अपना व्यवसाय करते थे अब इनमें से कुछ शिक्षित हो गये है और निर्वाहन में रुचि लेते है कुछ लोगों को उच्च पद भी प्राप्त हो गये हैं।

कलाल शराब बनाते थे। कोली, जुलाहे खादी बनाने और बेचने का काम करते। नाई हजामत बनाते थे तथा शादी ब्याह के अवसर पर महत्वपूर्ण योग देते थे।

आभूषण तथा पहनावा :

राजस्थान में आभूषण बड़े प्रचलित थे। पुरुष और स्त्रियाँ दोनों सिर से पैर तक आभूषण पहना करते थे। नरेश, जागीरदार और सेठ-साहूकार कान,गले, बाँह पोंची और अँगुलियों के तथा कमर और टखनों के अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार आभूषण पहना करते थे। यह प्रचार सभी प्रान्तों के शासकों में था। कहीं कम था कहीं अधिक था। पानीपत की तीसरी लड़ाई में घोर नरसंहार के बाद सदाशिवराव भाऊ रणभूमि में संतप्त होकर जब घूम रहा था तो उसके आभूषणों से ही पहचाना गया था कि वह कोई बहुत बड़ा मराठा सरदार है। राजस्थान की स्त्रियों को चाहे वे उच्चवर्ण की हो चाहे निम्न की, सबको आभूषणों में बड़ी रुचि थी। पुत्री के विवाह में दहेज का परिमाण आभूषणों से ही किया जाता था। आभूषण सोने-चाँदी दोनों के बनते थे।

परन्तु पैरों में सोने के आभूषण या तो रानियाँ पहनती थीं या जिनको विशेष कृपा के कारण नरेश द्वारा सोने के आभूषण पहनने की अनुमति दे दी जाती थी, वे ही पहनती थी। सेठ साहूकारों की स्त्रियों को कभी-कभी पैरों में सुवर्ण आभूषण प्रतिष्ठासूचक के रूप में दिये जाते थे। जागीरदार और साहूकार पुरुषों को भी पैरों में सोना पहनने की अनुमति दी जाती थी। यह बड़ी प्रतिष्ठा की बात मानी जाती थी। सब स्थिति और वर्ग की स्त्रियों को आभूषणों का चाव था। निम्न वर्ग की स्त्रियाँ पीतल और मूंगों के आभूषण पहना करती थी। मीणियों के हाथों में 15,20 सेर के पीतल के आभूषण देखे जाते थे। ऐसी प्रथा गूज़रों चमारों, रेगरों, गड़रियों और अन्य जातियों में प्रचलित थी। स्त्रियों में ही नहीं पुरुषों में भी यह प्रथा अभी तक चली आ रही थी इस समय भी कहीं-कहीं पुरुष आभूषण पहने हुए मिल सकते हैं। स्त्रियाँ तो आभूषण पहनती ही हैं। हाँ अब चोरी डकैती लूट और सोने की पाबन्दी तथा सोने चाँदी की मँहगाई के कारण नये आभूषण शायद ही कोई बनवाते होंगे। यदि वर्तमान शताब्दी से पहले के आभूषण किसी अजायबघर में रखे जावेतो अच्छा संग्रह सिद्ध होगा। पुरुषों और स्त्रियाँ की बात तो अलग, सोने-चाँदी के आभूषण घोड़े, हाथी व ऊँटों को भी पहनायें जाते थे। तलवार की मूठों पर सोना चढ़ाया जाता था खाने के बरतन भी चाँदी के ही नहीं, सम्पन्न घरानों में सोने के भी बनाये जाते थे।

राजस्थान में आज से पचास वर्ष पूर्व तक पुरुष सिर पर पगड़ी बाँधते थे। इसकी शैली उदयपुर, मारवाड़, जयपुर, बूँदी, कोटा आदि राज्यों में अलग-अलग थी। विवाह, टीका और गद्दीनशीनी के समय पूरी पोशाक के साथ पगड़ी दी जाती थी। पगड़ी प्राय: लाल रंग की होती थी, परन्तु रुचि के अनुसार दूसरे रंग की भी पहनी जाती थी। शरीर पर अंगरखी पहनी जाती थी। उनके नीचे बनियान या कोई और कपड़ा कम लोग पहनते थे। अंगरखी गले से कमर तक की होती थी। लम्बी अंगरखी घुटनों तक बनती थी। अधोवस्त्र-धोती प्रचलित था। परन्तु फिर पाज़ामें की भी प्रथा चल पड़ी। पाजामा चूड़ीदार होता था, ढीला नहीं। ढीला पाजामा गत चालीस वर्ष से चला है। कन्धे पर अंगोछा डाला जाता था, जो चुंदीदार या पल्लेदार होता था। राजदरबार में जाने वाले पुरुष कमरबन्धा बाँधते थे और उसके ऊपर पड़तला डालते थे। स्त्रियों की पोशाक में प्राय: तीन कपड़े होते थे। लहंगा, ओढ़नी और चोली या कांचली। राजपूत स्त्रियाँ और ओसवाल स्त्रियाँ चोली के ऊपर कुर्ती पहनती थी। जो इस प्रकार बनी होती थी कि चोली स्पष्ट दिखाई देती रहे। बालकों के कपड़े एक प्रकार से पुरुषों या स्त्रियों के कपड़ों की नकल होती थी। छोटे बालकों की टोपी साधारण या गोटेदार पहनाई जाती थी।

भोज :

विवाह के समय भोज अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार बड़ी धूमधाम से दिया जाता था। किसी समय 10, 12 हज़ार की ज्यौनार निरन्तर तीन, चार दिन तक हुआ करती थी और मिठाइयाँ अति उदारता से परोसी जाती थी। विवाह के बाद मित्र लोग वर और वधू दोनों को निमंत्रित करते थे। उनके साथ प्राय: डेढ़-दो सौ व्यक्तियों को बुलाया करते थे। माता या पिता की मृत्यु के बाद नुकता या मृत्यु भोज किया जाता था, जिसमें पुत्र अपनी स्थिति के अनुसार अधिक से अधिक खर्च करके अधिक से अधिक लोगों को बुलाया करता था। फिर वाल्टर क्रत कमेटी ने मृत्युभोज बन्द कर दिया उसने तो विवाह का खर्च भी कम कर दिया था। यह प्रथा काँग्रेस सरकार ने भी जारी रखी। अब कोई

विशेष प्रतिबन्ध नहीं है परन्तु मँहगाई के कारण पूर्ववत् धूमधाम और जनसमूह नहीं होता। जब किसी बच्चे को गोद लिया जाता है तब भी अच्छा बड़ा भोज दिया जाता था। एक से दो हज़ार व्यक्तियों का भोज तो मामूली बात थी। ऐसे भोज के बाद ही गोदनशीनी वैध मानी जाती है।

मन्दिर, कुँआ, बावड़ी, धर्मशाला आदि के निर्माण के बाद भी उनके उद्घाटन के लिये भोज दिया जाता था। कोई-कोई लोग अपने निज के रहने के मकान का भी उद्घाटन इसी प्रकार करवाते थे। इनमें प्राय: प्रमुखता ब्राह्मणों एवं प्रतिष्ठित लोगों की होती थी। बात यह है कि उस समय खिलाने-पिलाने की प्रथा प्रचलित थी और भोजन करने वालों की संख्या व मिठाइयों की संख्या से ही भोज देने वाले की उदारता व सम्पन्नता का अनुमान किया जाता था। एक रियासत में राजकुमार के विवाह पर लगभग एक लाख आदमियों को भोजन करवाया गया था। दूसरी रियासत में दीवान की मृत्यु पर इतने ही लोगों को जिमाया गया था।

राजपूतों के अन्त:पुर :

राजपूतों के अन्त:पुर का जीवन अपने ही ढंग का था। ऐसा कोई भी नरेश नहीं था जिसके एक ही रानी हो। तीन-चार रानियाँ तो बहुत ही साधारण बात समझी जाती थीं। वैध व अवैध स्त्रियों से महल भरा रहता था। जयपुर के महाराजा माधोसिंह जी के अन्त:पुर में बारह सौ स्त्रियाँ बतलाई जाती थीं। डेढ़-दो सौ स्त्रियाँ तो सभी रियासतों के नरेशों के यहाँ थीं। इनमें कुछ वैध और अवैध होती थीं। इन स्त्रियों में परस्पर ईर्ष्या व द्वेष रहता था। यदि रानी के पुत्रोत्पत्ति हो जाती थी तो उसकी प्रतिष्ठा बढ़ जाती थी क्योंकि वह भावी राजमाता बन जाती थी। यदि दो वैध पत्नियों के पुत्र होते थे तो आपसी जलन उग्र हो जाती थी। यह भय रहता था कि सम्भवत: बड़े पुत्र का वध कर दिया जावे या करवा दिया जावे। यदि रानी के पुत्री होती थी तो उसका जीवन दुखमय बन जाता था। अवैध स्त्रियों में दासियाँ, कृपापात्रियाँ, ख़वासिनें, पर्दायतें आदि वर्ग थे। इनकी अलग-अलग प्रतिष्ठा थी और सबको नरेश की इच्छा और कृपानुसार निर्वाह के लिये मासिक या वार्षिक रुपया दिया जाता था। जागीरदारों के यहाँ भी इसी प्रकार का रिवाज था। अन्त:पुर वास्तव में रागद्वेष, छल, कपट, षड्यंत्र और परस्पर शत्रुता के रंगमंच थे।

चित्रकला :

चित्रकला भारत की प्राचीन कला थी। बौद्ध काल में यह बड़ी लोकप्रिय और उन्नत हो गई थी। जैन ग्रन्थ चित्रकला से अलंकृत किये जाते थे। जैन साधुओं के नाम जो निमंत्रण भेजे जाते थे, उनमें निमंत्रण स्थल के नगर के प्रधान स्थानों, बाज़ारों, हवेलियों और राजमहलों के चित्र बनाये जाते थे। विवाह के समय वर को विशेष रूप से चित्रित किया जाता था, इसमें शृंगारिक व धार्मिक दोनों प्रकार के चित्र बनाये जाते थे। जनता के लोग भी अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार अपने मकानों को चित्रित करते थे और आदर प्रगट करने के लिये अपने सम्बन्धियों के मकानों को भी चित्रित कर दिया करते थे।

राजस्थान के राज्यों में चित्रों की शैली अलग-अलग थी। नाथद्वारा, उदयपुर, जोधपुर, कोटा, बूँदी, अलवर, किशनगढ़ आदि प्रत्येक शैली की विशेषता थी। सबसे अधिक मधुर शैली जयपुर की थी। जयपुर के शासकों में कई कला प्रेमी थे। उनसे चित्र शैली को प्रोत्साहन मिलता था। जयपुर शैली पर मुग़ल शैली का भी विशेष प्रभाव था। इस शैली ने मुगल चित्रकला की कई विशेषताएँ ग्रहण की थीं। चित्रों में धार्मिक, सामाजिक शिकार, युद्ध,

मल्ल युद्ध आदि दिखाये जाते थे। राग रागिनियों के चित्र भी बनाये जाते थे जो शास्त्रीय थे। चित्रों द्वारा नायिका भेद भी बताया जाता था। कामसूत्र के आधार पर कितने ही चित्र बने थे। महाराजा बनैसिंहजी ने दिल्ली से सुन्दर-सुन्दर चित्रकला को अलवर में बड़ा प्रश्रय दिया था। नर्तकियों को बुलाकर उनकी विभिन्न मुद्राओं के हाव-भाव व पोशाक के चित्र बनवाये थे।

राजस्थान में चित्रकला अत्यन्त प्राचीन थी। कोटा राज्य के दक्षिण में, आलनिया नदी के निकास के पास एक गाँव है वहाँ एक छोटे से पहाड़ की गुफ़ाओं में छीनी और हथोड़े से खोदे हुए चित्र बनाये हैं। यह लगभग दस-बारह हज़ार वर्ष पुराने हैं इनमें सजीवता तद्रूपता और यथा तथ्य है और यह भक्ति चित्र के राजस्थान में प्राचीनतम उदाहरण हैं।

संगीत :

संगीत विद्या और संगीत कला को भी राजस्थान के नरेशों से बड़ा प्रश्रय मिला। राजस्थान का कलात्मक संगीत तो शास्त्रीय है। दिल्ली के पतन काल में कितने ही संगीतकार राजस्थान में आ गये थे। उन्होंने यहाँ के लोगों को उच्च संगीत की शिक्षा दी थी। राजस्थान में भी कलाविदों का अभाव नहीं था। संगीत हृदय की अलग स्फूर्ति की अभिव्यक्ति है, यह दूसरों को प्रसन्न करने के लिये भी गाया जाता है। संगीत का स्वरूप संगीतकार और इसकी परिस्थिति तथा समाज की स्थिति से निर्मित होता है। राजस्थान में शास्त्रीय संगीत कई स्थानों पर प्रचलित था। इसको सबसे अधिक प्रोत्साहन अलवर में मिला था। वहाँ एक मुसलमान गायिका महाराजा की अवैध पत्नी बन गई थी, उसके पुत्र ने संगीत को बहुत उभारा। शास्त्रीय संगीत का पोषण किया। ऐसा संगीत कम या अधिक मात्रा में प्रत्येक राज्य में प्रचलित था। राजस्थान का विशेष संगीत दो, तीन प्रकार का था। सोरठ मांड राग कलापूर्वक गाया जाता था। राजदरबारों में भी यह प्रचलित था। इसके अतिरिक्त कई वीर गाथाएँ, युद्धों का वर्णन, दुख और हर्ष के गीत तथा मौसम के गाने सर्वत्र गाये जाते थे। वीर कहानियों के गाने वाले विशेष जाति के लोग होते थे उन्हें शायद बाबरी कहा जाता था। वीर गाथाएँ पुरुष और स्त्री मिलकर गाते थे। पुरुष संगीत के पद को उठाता था। स्त्री उसको दोहराती थी। इस शैली का नाम झेला था। पाबूजी की कहानी डूंगजी की कहानी, पृथ्वीराज रासो इस प्रकार के संगीत थे। गूज़र, मीणों, धाकड़, चमारों में स्त्रियाँ अपने हाथ की पीतल की चूड़ियों को बजाकर गाना गाती थीं। इसमें कोई कला नहीं होती थी। परन्तु थोड़ी लय अवश्य होती थी। रामरसायन राजस्थान की विशेष धार्मिक वीर गाथा है। उसके लिये कोई वाद्य नहीं होता। दो डंडों से तान तोड़ी जाती है। इसका निर्माण बूँदी के एक ब्राह्मण ने हरिद्वार में बैठकर किया था। यह कहानी दोहों छन्द में लिखी गई है परन्तु इसे विशेष प्रकार से गाते हैं। भीलों का गाना उच्चवर्ग के लोगों के गाने से भिन्न है। भील स्त्रियाँ केवल संगीत पर आश्रित नहीं रहती वह साथ ही बाजा भी बजाती हैं, कुछ नाचती भी हैं।

नाटक एवं नृत्य :

राजस्थान के गाँवों में लगभग साठ-सत्तर वर्ष पहले तक ग्रामीण नाटक खेले जाते थे इनमें कोई व्यवस्था नहीं होती थी। विभिन्न पात्र दोहों में बात करते थे। गद्य का प्रयोग नहीं होता था। ढोलक या नगाड़े वाद्य के रूप में बजाये जाते थे। ऐसे खेलों में खैमरा, सालंगा, रांझाहीर, राजा गोपीचंद और भर्तृहरि, मोरध्वज आदि लोकप्रिय और प्रसिद्ध थे। गाँव के किसी खुले स्थान पर रंगीन कपड़े लपेट कर एक छोटी सी अट्टालिका बना दी जाती थी।

उसी में पात्र बिठा दिये जाते थे। अच्छे नाचने गाने वाले और बजाने वाले दूसरे गाँवों से भी बुलाये जाते थे। जिनको स्थानीय लोग कुछ पारिश्रमिक दिया करते थे। शाक्त गाने अपने ही ढंग के थे। ये भैरव, देवी, पाबूजी और हीरामनजी और तेजाजी के चबूतरों के आगे गाये जाते थे। इनका वाद्य भी विशेष प्रकार का होता था। प्रायः थाली और गुरगुड़ी बजाई जाती थी। वह भी विशेष प्रकार से जिससे भय और उत्तेजना उत्पन्न होती थी। मंदिरों के गाने शास्त्रीय थे। इसके लिये प्रत्येक शुद्धाद्वैत मंदिर में ब्राह्मण नौकर रखे जाते थे। जो कीर्तिनिया चलाते थे, इनको प्रतिष्ठित माना जाता था।

स्थापत्य कला :

राजस्थान की स्थापत्य कला अनोखी है। इनमें नरेशों के महल उनके बनवाये मंदिर, कुँए, बावड़ियाँ तथा दुर्ग उच्च कला के नमूने हैं। प्राचीन महल केवल चित्तौड़गढ़ में है। अन्य स्थानों के महल जीर्ण हो गये। फिर भी बूँदी बीकानेर, जैसलमेर और जोधपुर के महल तथा उदयपुर के राजप्रसाद विशेष उल्लेख के योग्य हैं। महल सब ओर से ऊँची प्राचीर से घिरे हुए हैं। इस प्राचीर पर जगह-जगह बुर्जे बनी हैं। प्रत्येक बुर्ज पर तोपें रहा करती थी, उनके लिए आवश्यक मात्रा में बारूद और गोले बुर्ज पर ही रखे जाते थे। तोप को चलाने के लिये प्राचीर में दो-तीन प्रवेश द्वार बनाये जाते थे, परन्तु उपयोग प्रायः एक का ही होता था दूसरे द्वारों का उपयोग संकट के समय किया जाता था। प्राचीर के अन्दर समुचित स्थानों पर बारूद और गोलों के तहखाने बनाये जाते थे। इनमें बारूद भरी रहती थी। प्राचीर के अन्दर जनाने मर्दाने महल बनाये जाते थे। महल के प्रथम द्वार से मर्दाने महल में प्रवेश होता था। आगे चलकर भीतर के दरवाज़े से जनाने में जाया जाता था। इनका नक्शा बड़े प्राचीन समय से चला आ रहा था। आमने-सामने दो कमरे बीच में तिबारी उसके आगे कुछ खुला स्थान। इस प्रकार के कक्ष बनाये जाते थे। एक कक्ष राजा के लिये होता था। जनाने में से रानियाँ वहीं उसके पास आती थीं। महलों में स्नान के लिये कोई स्थान नहीं बनता था। आने-जाने का रास्ता बन्द करके बरामदे की छत के सामने खुले में पाटे पर बैठा कर रानियों को दासियाँ स्नान करवाती थीं। इसी प्रकार मर्दाने महल में होता था। दासियों, पात्रियों एवं खवासिनों के लिये महल में अलग स्थान होता था। प्रत्येक महल में उपास्य देव या देवता का मन्दिर होता था। जहाँ नरेश दर्शनार्थ जाते थे। पर्दे का प्रबन्ध करके रानियाँ या पर्देदार महिलाएँ वहाँ जातीं थीं। राजधानी की इमारतों का जागीरदारों की हवेलियों का और छोटे-छोटे गाँव के गढ़ों का स्थापत्य भी इसी ढंग का होता था। परन्तु छोटे पैमाने पर होता था। साहूकारों की हवेली भी जनाने व मर्दाने में विभक्त होती थी। इनके चारों ओर कोई प्राचीर नहीं बनाई जाती थी।

मन्दिरों का निर्माण सोलहवीं शताब्दी तक विशेष प्रकार का था। प्रत्येक मन्दिर में तीन भाग होते थे। एक गर्भ गृह, एक मंडप, तीसरा तोरण। इसी ढंग के मन्दिर सर्वत्र बने हैं। मंडप के अंदर की छत पर विविध प्रकार की मूर्तियाँ, खम्भों पर अलंकरण बनाये जाते थे। गर्भगृह में प्रधान प्रतिमा स्थापित की जाती थी। मंडप में दर्शक खड़े होते थे। तोरण मंदिर का प्रवेश द्वार था। शाक्त देवताओं के भी कहीं-कहीं मन्दिर हैं परन्तु विशेषकर चबूतरों से ही काम लिया जाता था।

❑

इतिहासज्ञ की निर्णायक दृष्टि

मुझे यूनिवर्सिटी से निवृत्त हुये अनेक वर्ष हो गये और इस अर्से में यूनिवर्सिटी ने भी अँग्रेज़ी छोड़ दी और मैं अँग्रेज़ी भूल गया, तो मैं यह उचित समझता हूँ कि मैं हिन्दी में ही बोलूँ यदि आप आदेश दें कि मैं अँग्रेज़ी में बोलूँ तो यह दूसरी बात है, जहाँ विद्वानों का इतना बड़ा समूह हो और जिनमें भारत के गणमान्य विद्वान् बैठे हों, डॉ. हीरालाल जैसे प्रेसिडेण्ट, जैसे-उस सभा का उद्घाटन करते हुये मुझे कुछ क्या कहना चाहिये नर्वसनेस सी हो रही है। मुझे उद्घाटन करने के लिये आदेश दिया है उसका एक मात्र कारण में समझता हूँ कि मेरी आयु 80 वर्ष की हो गई है। इसमें कोई ज्ञान का, विद्या का, पांडित्य का कोई सम्बन्ध नहीं है। वृद्धों की इच्छा से या अनिच्छा से कुछ सत्कार करने की प्रथा भारतवर्ष में है तो यह आपने मेरी जीवित अवस्था में एक श्राद्ध किया है और जीवित अवस्था में श्राद्ध करना अधिक अच्छा है। ऐसा नहीं होना चाहिये कि जिस पिता से दगम्-दंगा, मेरे पिता पहुँचाये गंगा। मुझे आपकी इस पांडित्यपूर्ण विद्यमानता से अधिक प्रेम व स्नेह से, ऐसा स्नेह जिसके कारण और बातों को भूलकर मुझे आपने बुलाया, प्रेरणा मिल रही है। इसलिये मैं आपसे दो चार शब्द ही निवेदन करूँगा। इतिहास के क्षेत्र में आजकल बड़ा विवाद है कहना चाहिये कि बड़े विवाद हैं, यह कहा जाता है भारतवर्ष के इतिहास के लिये कि हमारा इतिहास विदेशियों ने लिखा है, पहले मुसलमानों ने, और फिर साहब लोगों ने और इन दोनों ने ही एक पक्ष ही उपस्थित किया है दूसरे पक्ष की उपेक्षा की है और एक पक्ष जो उन्होंने प्रस्तुत किया है वह भी सर्वांशत: सत्य नहीं है और उपेक्षा जो की है उसमें घृणा भी है और कुछ तुच्छता भी है, यह कहा जाता है कि हमारा इतिहास दुबारा लिखा जाना चाहिये। इसके हिमायती दो प्रकार के लोग हैं एक तो कहते हैं कि हमारा राष्ट्रीय इतिहास होना चाहिये, अर्थात उसमें यह बतलाना चाहिये कि हमी सब कुछ हैं - दूसरा इतिहास यह है कि धार्मिक विवादों का कहीं उल्लेख नहीं होना चाहिये-अर्थात इस्लाम का कभी उदय हुआ ही नहीं और हुआ तो उसमें कुछ किया ही नहीं, तीसरा एक मत है कि इतिहास का आरम्भ किसी विशेष तिथि से होना चाहिये जो काल अतीत हो गया और अति अतीत के गर्भ में समाविष्ट हो गया। अब उसका उल्लेख करके और गड़े मुर्दों को उखाड़कर क्या करना है? कुछ वर्ष पहले की बात है कॉन्स्टीट्यूशन हाउस में मैं खाना खा रहा था, वहाँ एक पॉलीटिशियन महिला मुझे मिलीं वह भी उसी मेज़ पर आ बैठी, कहा क्या कर रहे हो? बोले दरबार की नौकरी कर रहे हैं; और क्या कर रहे हो, लिखने के लिये। मैंने कहा मैं कोटा राज्य का इतिहास लिख रहा हूँ उन्होंने कहा कि अब इतिहास को भुला देना चाहिये-हम नये युग में आ गये हैं-पिछले झगड़े पिछला द्वेष, वैमनस्य को भूलकर यह बात करें कि आवश्यकता है कि समस्त मानव समाज एक है और किसी में कुछ भेद नहीं है। मैंने उनको प्रणाम किया मैंने सोचा किसी महिला के साथ विवाद में नहीं उतरना चाहिये और उतरे तो कोई जीत भी नहीं सकता, परन्तु इतिहासज्ञ एक प्रकार का निर्णायक होना चाहिये यह मेरा स्वयं का विचार है, उसको निर्णय करना चाहिये कि एक विषय के कितने पक्ष हैं-कौन सा पक्ष इनमें उत्तम है, किन्तु हमारे पूर्वजों ने इसका नाम रखा है इति-

ह–आस। इतिहास – अर्थात ऐसा ही हुआ था एक फ़र्क है ऐसा ही हुआ था यह तो किसी को मालूम नहीं लेकिन सम्भवत: ऐसा ही हुआ होगा, यहाँ तक हम पहुँच सकते हैं।

मैं बन्दी बना दिया था इतिहास से उनका बड़ा अनुराग था उन्होंने बाहर कुछ शोर सुना, दो–तीन लोगों को भेजा क्या हो रहा है–एक ने कहा 'यह हो रहा है'–दूसरे ने कहा 'यह नहीं, ऐसा हुआ था', तीसरे ने कहा, 'नहीं नहीं ये दोनों ग़लत कहते हैं, ऐसा हुआ था।'

उन्होंने कहा में तो इस बन्दीगृह की दीवार के बाहर का ही इतिहास नहीं लिख सकता और यह सजीव प्राणी जो मेरे सामने खड़े हैं यही यथा सत्य नहीं कह रहे हैं किसी को क्या दिखाई दिया और किसी को क्या दिखाई दिया तो जब हम इतिहास लिखें जो विभिन्न प्रकार की सामग्री हमारे पास उपस्थित होती है, लिखित सामग्री शिलालेखों में लिखी हुई सामग्री, सिक्के, उस समय के भवन, महल, मंदिर आदि–मंदिर भी नहीं बोलते, शिलालेख बहुत मुश्किल से बोलते हैं, जब उन्हें बुलाते हैं।

ज़ालिमसिंह जी छल बल और कौशल में अत्यन्त निपुण थे और अबुल फ़ज़ल से अधिक चाटुकार थे–लेकिन दरबार की एक भी बात नहीं मानते थे–जब उनके समय के काग़ज़ात देखे तो उनसे पता ही नहीं लगता कि उनका क्या उद्देश्य था? शासन किस प्रकार से चलाते थे? तो उसमें सूक्ष्मदृष्टि से देखना पड़ता है कि इनका अभिप्राय क्या था, उद्देश्य क्या था, स्वार्थ क्या था और उसमें सत्य कितना था और जब संसार का इतिहास कोई लिखे उसका मस्तिष्क भ्रान्त हुये बिना नहीं रह सकता अधिक भ्रान्त ही या कम भ्रान्त, यह दूसरी बात है, यह तो रही संसार के इतिहास की या भारतवर्ष के इतिहास की बात, कि मुसलमान इतिहासज्ञों के लिखे गये इतिहासों से हमें पूरे सत्य का पता नहीं लगता, अँग्रेज़ों के लिखे हुये इतिहास से जो बहुत पुराना नहीं है हमें ठीक पता नहीं लगता उसमें अधिक गोता लगाना पड़ता है फिर भी हम उसके अन्तरतल तक नहीं पहुँचते लेकिन सत्य के किसी अंश तक पहुँच सकते हैं–हमारे राजस्थान का इतिहास टॉड साहब ने लिखा, कर्नल टॉड राजपूतों की वीरता, उनकी योग्यता, उनकी धार्मिकता, उनकी पुण्यशीलता पर इतने मुग्ध हो गये कि उन्होंने चारणों को भी मात कर दिया।

ओझा साहब ने इतिहास लिखा–ओझा साहब पत्रों में इतने फँस गये कि और चीज देखी ही नहीं, शिलालेख ही शिलालेख देखे और केवल स्पर्श मात्र किया है। हमारे मध्य में ही बैठे हुये हैं उनके पिताजी उन्होंने भी इतिहास लिखा है तो केवल मारवाड़ का इतिहास लिखा उन्होंने सब प्रकार की सामग्रियों का अध्ययन किया कि अब अध्ययन कर रहे हैं हम लोग तो नई सामग्री को टटोलते हैं। तो बहुत से ऐसे तथ्य जो उनके सम्मुख उपस्थित नहीं हो सके उनका पता लगता है। अभी राजस्थान के सभी शिलालेखों का अध्ययन नहीं किया गया है, केवल कोटा राज्य में ही लगभग दो सौ शिलालेख ऐसे हैं जो कि नहीं पढ़े गये, मेरे प्रिय मित्र डॉ. भार्गव इसका संग्रह कर रहे हैं, मैंने ऐसा सुना है, जब मैं इतिहास लिख रहा था कोटा का तो मैंने नाज़िम लोगों से निवेदन करके प्रत्येक निज़ामत के लेखों का संग्रह करवाया था, वह इतने बड़े रजिस्टर में है, सारी सामग्री का अध्ययन करके इतिहास लिखा जाता तो अब पूरा होता, वह जो मैंने 33 वर्ष की अवस्था में कर दिया था फिर भी उसमें कुछ कमी रह जाती, प्रत्येक राज्य में राजस्थान के मध्यकालीन दस्तावेज़ात हैं काग़ज़ात है, हिसाबी काग़ज़ात भी है, राजवंश के उत्सवों से सम्बन्ध रखने वाले पत्र हैं, नरेशों में जो परस्पर पत्र व्यवहार

होता था उससे सम्बन्ध रखने वाले पत्र भी हैं, उस समय भूमि के कितने विभाग थे, कृषकों से क्या लिया जाता था, जकात कैसी थी, उन सब से सम्बन्ध रखने वाले पत्र ज्यों के त्यों तो नहीं मिलते लेकिन इतने मिलते हैं कि तत्कालीन परिस्थिति का कुछ अनुमान किया जा सकता है। ताम्रपत्र तो इतने हैं, कितनी ही संदूकें भर जायें पर ताम्रपत्रों में भारी झूठें हैं। ताम्रपत्र इतने हैं कि उनको पढ़नेवाला चकरा जाये, उनका जागीरदारों के पास भी संग्रह है उस समय के पत्रों का बड़ों के पास भी और छोटों के पास भी वहाँ पर अभी कोई पहुँचा नहीं और डाइरेक्टर साहब आरकाइव्ज़ जो यहाँ मौजूद हैं वो भी इस बात को जानते हैं, और उससे पहले के जो थे वो भी यहाँ मौजूद हैं वो भी यह जानते हैं और उनसे पहले में था मैं भी यह जानता हूँ, बस विभिन्न प्रकार की सब सामग्री का सूक्ष्म अध्ययन करने की बड़ी आवश्यकता है-लेकिन टॉड साहब ने जैसा इतिहास लिखा वैसा इतिहास काव्य लिखना हो तो ठीक है-इतिहास लिखना ठीक नहीं है, टॉड साहब मुग्ध हो गये थे राजपूतों पर, मेरे हृदय में राजपूतों के प्रति आदर है लेकिन मैं मुग्ध नहीं हूँ, इतिहास का विद्यार्थी होने के कारण-जैसे कोई मनुष्य निर्दोष नहीं हो सकता वैसे कोई जाति भी निर्दोष नहीं हो सकती कोई कौम निर्दोष नहीं हो सकती, देश निर्दोष नहीं हो सकता; और तो क्या जो निर्दोष है वह भी निर्दोष नहीं हो सकता। उसमें भी कहीं न कहीं कुछ मिल जाता है तो राजपूतों के राज्य में गड़बड़ें थीं , कहीं अन्याय भी था, कहीं कहीं अव्यवस्था भी थीं, अन्त: कलह था, द्वेष था और यह बातें नहीं होती तो औरंगजेब के अत्याचार जो हुये जोधपुर पर और उदयपुर पर और दक्षिण भर वह नहीं हो सकते थे, औरंगज़ेब के समय में तमाम राज्यों के पास मिलकर ढाई लाख सेना थी और लगभग 200 तोपें थीं और यदि ढाई लाख सेना और 200 तोपें झोंक दी जातीं एक स्थान पर तो क्या होता उसका परिणाम? सक्सेना साहब प्रश्न करेंगे अगर मैं परिणाम बतला दूँ-लेकिन यह तो कह सकते हैं ना कि उनको फूँक मार कर औरंगज़ेब जो पीर साहब बन गये थे, वह भी उसको नष्ट नहीं कर सकते थे।

राजस्थान के नरेशों ने विद्या को प्रोत्साहित किया, प्रत्येक राज्य में उस समय धुरन्धर पंडित थे, नये साहित्य की सृष्टि हुई थी, धार्मिक साहित्य की, वैदिक साहित्य की और शुद्ध साहित्य की, उनके समय में ऐसे मंदिरों का, भवनों का, दुर्गों का निर्माण हुआ था जिनको देख कर आज भी आँखें चकित हो जाती हैं। इस बात था प्रयत्न किया था एक नरेश ने उस समय के धार्मिक नेताओं को बुलाकर हिन्दू धर्म की रक्षा किस प्रकार की जाय, जब इसके ऊपर प्रहार हो रहे हैं, गुप्त सभा थी लेकिन फिर उसका पता लग जाता लेकिन उसमें ऐसे पक्ष भी हैं जो अभिनंदनीय हैं और बहुत हैं और ऐसे पक्ष भी हैं जिनकी प्रशंसा नहीं की जा सकती, एक तो यही था कि राजपूतों के जनाने रानियों से ठसाठस भरे हुये थे, जयपुर में मुझे एक नाज़िर मिश्रा बहुत वृद्ध, अभी उसकी मृत्यु हुई है अन्त:पुर में वह जाया करता था। वहाँ उसका प्रवेश था, अन्त:पुर के जीवन के बारे में मैंने उससे कुछ बातें पूछीं और प्रसंगवश मैंने उससे पूछा कि जहाँ इतनी रानियाँ हों, वहाँ कैसे होता था, इतनी रानियाँ अच्छी नहीं हैं। एक रानी के पुत्र न हो तो दूसरी। यहाँ तक तो ठीक है, दूसरी के न हो तीसरी, यह भी ठीक है परन्तु महलों में 1200, 1400, 1500 रानियाँ क्या करें? तो नाज़िर जी कहने लगे-कि अतनो बड़ो बाग ऊं में काई बाकरयां बागे-राजा हा कोई मंशी या हाकम है कि एक ही लुगाई राखे। तो उस समय का जो वायुमंडल था और उस समय का संसार था बहुविवाह की इज़ाज़त देता था। इस समय का

संसार इसकी इज़ाज़त नहीं देता। संसार भी नहीं देता और सरकार भी नहीं देती। तो इतिहास का जब हम अध्ययन करें तब हमें यह देखना चाहिये। उस समय का वायुमंडल क्या था? उस वायुमंडल के अनुकूल शासन हो रहा था कि नहीं हो रहा था, पाशविक दंड दिये जाते थे, बहुत ही बुरे, ज़ालिमसिंह जी के समय में हमारे यहाँ गीध भराई कही जाती है।

अब आजकल वर्तमान इतिहासकार वर्तमान जज इस बात को पसंद नहीं करते कि जिसको फाँसी का हुक्म दिया हो उसको दो साल तक लटकाये रखो और वह यही सोचता रहे कब मारा जायेगा, कब फाँसी लगेगी, तब उसको मारोगे अगर वह बीमार पड़ जावे तो उसको स्वस्थ करो, फिर मारो, फिर समय के अनुकूल शासन का ढंग, शासन की शैली, लोगों के विचार बदलते जाते हैं तो राजस्थान के इतिहास में एक विशेषता है और वह विशेषता यह है कि वह मुग़लों से पुराना था। पठानों से भी पुराना तो यहाँ के नरेशों की शासन शैली का पठानों पर असर पड़ा था नहीं पड़ा? यहाँ की शासन शैली का मुगलों पर असर पड़ा या नहीं पड़ा? दूसरे मुगलों की शासन शैली का यहाँ पर असर पड़ा या नहीं पड़ा यह भी एक पक्ष है (मेरी तुच्छ सम्मति में; तुच्छातितुच्छ सम्मति में अकबर के समय का टोडरमल भूमि प्रबन्ध है वह पुराने हिन्दू प्रबन्ध पर आधारित था, यह तुर्किस्तान से नहीं आया था यदि यह मान भी लिया जाये तो क्या यहाँ भूमि प्रबन्ध ही नहीं था? नहीं था तो कर संग्रह कैसे होता था? और संग्रह उपज के अनुसार होता था या अन्धाधुन्ध होता था? यहाँ क्या उस समय सेना नहीं थी, लाठियों से ही लड़ते थे, शस्त्र क्या थे, उनका कैसा प्रयोग होता था, सेना का इन्तज़ाम कैसा होता था, इन पक्षों का अध्ययन नहीं किया गया है।

कोटा राज्य का इतिहास यह तो हमको मालूम है वहीं से शुरु होता है जब वर्तमान राजवंश यहाँ स्थापित हुआ। राव रतन के समय से उनके मंझले पुत्र यहाँ के प्रथम नरेश बने तब से परन्तु कोटे से पुराने कितने ही गाँव हैं। कोटा राज्य में यहाँ कई गाँव ऐसे हैं जो तीन हजार वर्ष पुराने हैं। 2000 वर्ष पुराने गाँव तो सैकड़ों हैं, और डेढ़ हज़ार वर्ष पुराने गाँव मेरे ख्याल से डेढ़ हज़ार-दो हज़ार तो होंगे। उसका अध्ययन अब तक नहीं किया गया है। कोटे की भाषा में बहुत से शब्द ऐसे हैं जो न अरबी के हैं न फ़ारसी के हैं, न प्राकृत के हैं वो शब्द यहाँ कहाँ से आये, मैंने एक दो से कहा तो बोले, कि साहब ऐसा मजमून बनवा दीजिये कि दो साल में डॉक्टोरेट मिल जाये क्योंकि दो साल के बाद तिकड़म में ही कई साल खर्च होते हैं। अच्छी सी नौकरी मिल जाय। कई जो कठिन विषय हैं उनका अध्ययन विद्यार्थी प्रायः नहीं करते।

वर्तमान राजवंश के हाथ में शासन सूत्र आया उससे पहले दूसरे राजपूत थे। वह थे गौड़ राजपूत और गौड़ों से पहले चम्बल से पूर्व का हिस्सा भीलों के हाथ में था। चम्बल से पश्चिम का हिस्सा मीणों के हाथ में था, ये आदिवासी थे। यहाँ अकेलगढ़ का एक स्थान है, दुर्ग है, पुराना भीलों के समय का वह दिखाया जाता तो अधिक अच्छा था, वहाँ कोई देखने के लायक चीज़ नहीं है परन्तु स्मरण आता है एक अतीत का जिसको हम भूल गये हैं विस्मृत हो गया है जिस मंदिर को देखने आप बाड़ोली जा रहे हैं, मेरा विचार है वह भी किसी हूण राजा का बनाया हुआ है। हूण लोग शैव थे। हूणों के राजा के लिये कहा गया है कि शिवाजी के अतिरिक्त किसी के सामने उसका सिर नहीं झुकता था वैसे झुका भी और मारा भी गया वह। पर उसने यही लिखा कि शिवाजी के अतिरिक्त किसी के सामने उसका सिर नहीं झुकता था। यहाँ से आप चले बारां

की तरफ़ तो सबसे पहले पलायथा आता है, तो पलायथा आप के ही वंश के एक पूर्वज ने गौड़ों को हरा कर लिया था। वहाँ से आगे चले तो बारां, गौड़ों के हाथ में था और उनके गढ़ के भग्नावशेष अब तक विद्यमान हैं। वहाँ से आगे जाएँ केलवाड़ा में एक दुर्ग है वह भी गौड़ों का है, वहाँ से उत्तर की ओर जाएँ बारां से बड़ा, वहाँ भी एक दुर्ग है गौड़ों का है। उसके पास श्रीनगर है उसका नाम ही भूल गये लोग-बाग। रामगढ़ कहने लग गये वहाँ अब तक महलों के अवशेष हैं वह गौड़ों के महल हैं और परम्परा से जानने लग गये कि गौड़ हैं। ज्यों ज्यों इटावे की ओर जाते हैं आपकी गौड़ों के राज्य मिलते हैं। कहानियाँ मिलती हैं और अधिक जायें तो गौड़ों का ठिकाना भी मिल जाता है। यहाँ से थोड़े मील के अन्तर पर एक स्थान चार चौमां है। वहाँ बड़े हजूर के समय में हम चूरमा बाटी खाने गये थे। वहाँ के शिव मन्दिर में प्रतिमा के ऊपर खुदा हुआ लेख है, मैं जब वहाँ पर पहुँचा तो अँधेरा होने लग गया था। लालटेन जलाई लेकिन शिवजी की कृपा नहीं हुई इसलिये अक्षर नहीं दिखे। लेकिन उस पर शिलालेख है वह अब तक पूरा नहीं पढ़ा गया है। उस मंदिर के बाहर भी एक शिलालेख है वह भी पूरा नहीं पढ़ा गया। जितना मैंने पढ़ा लेकिन अर्थ नहीं निकलता था- ठीक, उस मंदिर के पास ही एक टीला है, जिसके ऊपर ऐसे स्तम्भों के खंड मिलते हैं। अशोक के स्तम्भों से मिलते जुलते। बारां आप जाओ, बारां के आसपास ऐसे खंडहर मिलते हैं जो हज़ार वर्ष से कम पुराने नहीं हैं। इधर गंगधार के पास जाओ। वहाँ पर गुप्तवंश के राजा के समय के लेख मिलते हैं। चार चौमां में भी गुप्तवंशीय लिपि है। बड़वा में दूसरी शताब्दी की लिपि या तीसरी शताब्दी की लिपि में स्तम्भ मिले हैं। चार वह स्थान तोरण कहलाते हैं। मुझे वहाँ के पटवारी जी ने लिखा कि यहाँ अँग्रेज़ी में लिखे हुये शिलालेख हैं। उस समय का प बिलकुल अँग्रेज़ी के शब्द 'टी' की भाँति लिखा जाता था उसने समझा यह कोई अँग्रेज़ी शिलालेख हैं, मैं यहाँ से गया। वह आधे मील से दिखाई देते थे। वो थे स्तूप। यह बंधश्च यज्ञ करते समय पशु को बाँध दिया जाता था उसके तिलक करते थे उसकी पूजा करते थे फिर उसको मारते थे। अब भी ऐसा ही होता है , देवी के यहाँ जिस बकरे का वध करते हैं कभी कभी उसके भी तिलक करते हैं। वैसे आपने मेरा तिलक किया, वह भी पशुवध है। वहाँ के तीन स्तम्भ तो मौजूद हैं यहाँ कोटे में म्यूज़ियम में। मौखरी राजा थे जो महाराज हर्ष के मामा थे। मौसाल में थे। मौखरी उनका वंश था। उन मामाओं से पहले का उनका राज्य था बड़वा में। बड़वा यहाँ से 34-35 मील है। महाराज कुँवर साहब तो स्थान भी बतला सकते हैं जहाँ वो खड़े थे, दो शिलालेख मुझे मिले, मेरे दो शब्द समझ में आये। केवल मोखरे और गाँव दक्षिण-दक्षिण इसलिये समझ में आ गई कि मैं ब्राह्मण हूँ और मोखरे राजाओं का वह शिलालेख था ही, गौरीशंकर ओझा के पास में लेकर गया, इसकी प्रतिलिपि लम्बी करके मैंने बतलाई तो उन्होंने ऐसे पढ़ा जैसे किसी मित्र के पत्र को पढ़ते हैं। टाइप किये हुये को। वह था 'मोखरे क्षत्री पुत्रस्य घनुप्रातस्य धीमत: अष्ठो यामो कृतो यज्ञो सहस्त्रों ग्राम दक्षिण।' कहने लगे मथुरालाल जी इसकी संस्कृत अशुद्ध है ना, मैंने कहा साहब अशुद्ध तो है पर उस समय के ब्राह्मण थे उनकी क्या गलती बतलावें। तृतीय शताब्दी के दूसरी शताब्दी के, पाँचवी के, छठी के, सातवीं, आठवीं, नौवीं, दसवीं तक तो शिलालेख हैं। कोटा राज्य में और कई शिलालेख ऐसे हैं जो शायद एक स्थान से हटाकर दूसरे स्थान पर रख दिये गये हैं। यहाँ पास ही तीन मील पर ही कुटिला लिपि में लिखा हुआ बहुत सुन्दर अक्षरों में एक शिलालेख है और मौर्यों का शिलालेख है। मौर्य तो न मालूम कब हो गये थे। अशोक और उसके बाबा परन्तु उनके उत्तराधिकारियों में से बच गये होंगे। उनका

शिलालेख है।

सुन्दर अक्षर, सुन्दर संस्कृत और अलंकृत अक्षर हैं। ऐसे ही शेरगढ़ में मैंने 2-3 शिलालेख देखे। वो स्थानीय कौन कौन राजा थे? वहाँ उनका राज्य था, उसका विस्तार कितना था, उस समय की संस्कृति क्या थी? यह एक अलग विषय है। हाड़ौती के सम्बन्ध रखने वाला। अटरू एक स्थान है यहाँ पर महाराज भोज के समय के शिलालेख हैं। परमार राजाओं का राज्य यहाँ तक फैला हुआ था और उसमें एक गाँव का नाम है भैसड़ा। वह गाँव अब तक मौजूद है और यह बात है ग्यारहवीं शताब्दी की।

दान तो हमारे ही पूर्वजों को मिलता था। प्रेसिडेण्ट साहब के पूर्वजों को नहीं मिलता था, ये तो शासन करते थे तो कोटा राज्य का इतिहास माधोसिंह जी से पहले का अभी तक नहीं लिखा गया। इस पर कार्य करने की आवश्यकता है। यहाँ बहुत से विद्वान् एकत्र हुये हैं और कोटे में ही एकत्र हुये हैं। जिस जिस सामग्री का मैंने उल्लेख किया उसका कुछ कुछ अवलोकन तो आप कर ही सकते हैं और यहाँ के निवासी अब जो काम कर रहे हैं और जिनमें काम करने की सामर्थ्य है, शक्ति है, जीवन है। मेरे परम मित्र, विद्वान् मित्र डॉ. गोपीनाथ जी ने इस क्षेत्र में काम किया है उनसे परामर्श करें और एक मंडल बनाएँ।

(1976 में आयोजित राजस्थान इतिहास काँग्रेस के उद्घाटन के अवसर पर दिए गए भाषण का सार।)

❏

विलास नगर में दसवीं शताब्दी की सुन्दर प्रतिमायें

'विलास गाँव में एक खुले अहाते के अन्दर इस भवन हिन्दू मन्दिरों की प्रतिमायें एकत्र की हुई हैं। ये सब प्रतिमायें अलंकारिक प्रतिमायें हैं। शिव, विष्णु, देवी, सरस्वती, ब्रह्मा, नृसिंह आदि देवों की प्रतिमाओं के अतिरिक्त यक्ष, दक्षिणी, द्वारपाल, नर्तकी, नायिका, पशु, विचित्र पक्षी आदि की भी अनेक प्रतिमायें हैं। कला की दृष्टि से ये सब प्रतिमायें उच्चकोटि की हैं। विलास में अब तक कोई शिलालेख तो नहीं मिला परन्तु दुर्ग और नगर तथा मन्दिर के खंडहरों से तथा प्रतिमाओं के निर्माण से प्रतीत होता है कि विलास नगर दसवीं या ग्यारहवीं शताब्दी में नष्ट हुआ होगा।'

- 'कोटा राज्य का इतिहास से' पृष्ठ 31

इतिहास मनीषी डॉ. मथुरालाल शर्मा के रचना संसार के आलोक में

कालजयी कृति 'पेशवाओं का इतिहास'

- डॉ. हरि महर्षि

रचनाकार के यशस्वी जीवन की मील स्तम्भ उसकी अपनी रचनाएँ ही होती हैं जो सृजनशीलता के आकाश में भी अपनी यश: पताका फहराती रहती हैं। शौर्य और पराक्रम की धरती, वीरत्व और त्याग की भूमि, संतों और शूरों की धरती, भक्ति और शक्ति की धरित्री, राजस्थान की पावन मिट्टी में ही डॉ. मथुरालाल शर्मा का जन्म आषाढ़ कृष्णा 3 संवत् 1952 में संस्कृत भाषा और श्रीमद्भागवत पुराण के लोकप्रिय मनीषी पंडित कन्हैयालाल शर्मा के घर, हाड़ौती अंचल की बारां तहसील, अब जिला, के छोटे से गाँव समसपुर में हुआ। ग्रामीण परिवेश में खिले इस पुष्प की सौरभ उसके व्यक्तित्व, अध्ययनशीलता, अनथक परिश्रम, वैदुष्य, इतिहास मर्मज्ञता, अध्यापन, प्रशासनिक कौशल, दक्षता के कारण दिक्-दिगन्त को सुरभित-सुवासित करने में समर्थ हुई।

यों तो डॉ. मथुरालाल शर्मा की रचनाओं का विशद और व्यापक फलक है- फिर भी स्मृतिशेष डॉ. शर्मा की मौलिक और अनूदित कृतियों में कई अपने वैशिष्ट्य, प्रामाणिकता, शैली, अभिव्यक्ति और सत्यनिष्ठ वैज्ञानिक विश्लेषण के कारण रचना संसार में मील स्तम्भ बनी हुई हैं। उनकी मौलिक कृतियों में- जयपुर राज्य का इतिहास, कोटा राज्य का इतिहास, भारतीय संस्कृति का इतिहास अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्ध- (तीन भाग), वर्ल्ड इन टेंन्सन, यूरोप का इतिहास, मराठों का इतिहास, पेशवाओं का इतिहास, मुग़ल साम्राज्य का उदय और वैभव, राजस्थान-एन इन्ट्रोडक्शन, मुग़ल साम्राज्य का पतन, प्राचीन भारत आदि उल्लेखनीय हैं।

उनकी लेखनी से प्रसूत रचनाओं का फलक प्राचीन भारत से आधुनिक भारत और विश्व इतिहास को रेखांकित करने वाला है। उनकी रचनाओं की प्रामाणिकता, वैज्ञानिकता, इतिहासदृष्टि एक लम्बे समय से पाठकों के बीच उन्हें लोकप्रिय बनाती रही है।

डॉ. मथुरालाल शर्मा की अध्ययनशीलता, परिश्रम और लेखन में उनके बहुभाषाज्ञान ने मणिकांचन संयोग की प्रस्तुति की। यही कारण था कि उनका लेखन विविध आयामी और पैनी इतिहासदृष्टि के कारण बहुप्रज्ञात्मक लेखन पक्षधरता निर्वाहित कर सका। डॉ शर्मा अँग्रेजी, हिन्दी, अरबी, फ़ारसी, संस्कृत, उर्दू के अतिरिक्त नेपाली, मराठी, गुजराती, गुरुमुखी, डिंगल, बंगला, अवधी, मगही, ब्रजभाषा और राजस्थान की हाड़ौती, मारवाड़ी, मेवाड़ी, ढूँढाड़ी आदि भाषाओं के अधिकृत विद्वान थे। ब्राह्मीलिपि में लिखे शिला-लेख वे बहुत आसानी से पढ़ लेते थे। उनकी अनूदित कृतियों में— **शाहनामा, हिस्ट्री ऑफ़ यूरोप** (लिप्सन), **तुजुक-ए-बाबरी; अकबरनामा** (अबुल फ़ज़ल) **तुजुक-ए-जहाँगीरी, लेटर मुग़ल्स** (यदुनाथ सरकार) **स्टोरी एज़ टोल्ड बाई हिस्टोरियन्स** (इलियट) बहिंरग योग, हिस्ट्री

ऑफ़ मोडर्न इंडिया (ताराचन्द) विशेष उल्लेखनीय हैं।

यद्यपि डॉ. शर्मा का रचना संसार विशद व्यापक, बहुआयामी, वैविध्यपूर्ण और इतिहास-दृष्टि, वैदुष्य और प्रामाणिकता के कारण विद्वानों और प्रेमी पाठकों के बीच पर्याप्त लोकप्रिय रहा है। मेरी अपनी मान्यता है कि व्यक्ति के आकलन की महत्वपूर्ण कसौटी उसकी रचनाएँ ही होती हैं जो रचनाकार को यशस्वी, लोकप्रिय और कालजयी बनाती हैं। इस आलेख में हम डॉ. शर्मा की यशस्वी कृति "पेशवाओं का इतिहास" पर ही अपनी दृष्टि परिसीमित कर रहे हैं। उनकी अधिकांश पुस्तकें सामान्य आवरण के साथ प्रकाशित हुई हैं— किन्तु आलोच्य कृति का प्रकाशन कैलाश पुस्तक सदन ग्वालियर से 1978 में हुआ जब डॉ. शर्मा **"राजस्थान इन्स्टीट्यूट ऑफ़ हिस्टोरीकल रिसर्च"** के निदेशक पद पर कार्यरत थे। 306 पृष्ठों की इस पुस्तक में मराठा साम्राज्यान्तर्गत पेशवाओं के वैभव, पराक्रम, शौर्य, आतंक और सत्ता संघर्ष को प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत किया गया। यही एक ऐसी पुस्तक लगी जिसका आवरण और रंगसज्जा भी कलात्मकता लिये हुए हैं।

बालाजी विश्वनाथ, मराठा राज्य का प्रथम पेशवा था जिसकी नियुक्ति 17 नवम्बर, 1712 में हुई थी। उसके हाथ में साहू ने अपनी सारी सत्ता सौंप दी थी। पेशवा के नवीन पद का सृजन साहू ने किया था। उसके पेशवा बनने पर मराठा शासन और प्रशासन का सारा स्वरूप ही बदल गया था — कालान्तर में छत्रपति महाराज द्वारा स्थापित शक्ति क्षीण और निर्बल होती गई। जब बालाजी विश्वनाथ कोल्हापुर के संभाजी को कई बार हराने के बाद पुरन्दरे परिवार के साथ सासवाड़ में ठहरा हुआ था तो अक्समात 2 अप्रैल, 1720 में उसका देहान्त हो गया उस समय उसकी आयु 60 वर्ष से कुछ अधिक ही थी।

पेशवा इतिहास की श्रृंखला बालाजी विश्वनाथ से प्रारम्भ होकर अंतिम पेशवा, पेशवा बाजीराव द्वितीय पर जाकर समाप्त हुई। पेशवाओं का शासन (1712-1720), पेशवा बाजीराव का शासन (1720-1740), पेशवा बालाजी राव का शासन (1740-1761), पेशवा माधवराव का शासन (1761-1772), पेशवा नारायण का शासन (1772-1773), बालक पेशवा माधवराव नारायण (1774-1795), और पेशवा बाजीराव द्वितीय का शासन काल (1803 से 1818), तक रहा। अंतिम पेशवा से पहले कुछ समय तक चिमनाजी (1796) पेशवा रहे। पेशवाओं का सम्पूर्ण शासनकाल लगभग 105 वर्ष तक रहा।

डॉ. मथुरालाल शर्मा ने अपनी कृति को अधिकाधिक प्रामाणिक, साशयपूर्ण और दस्तावेज़ी बनाने के लिए जिन कृतियों, संदर्भों, सूत्रों, आलेखों का विवरण दिया है- उनमें मराठों का नवीन इतिहास (गोविन्द सखाराम सर देसाई) इन्हीं का (न्यूमेरेशन वाल्यूम मराठी सेक्शन), मिलिट्री सिस्टम ऑफ़ मराठाज़ (डॉ. सुरेन्द्रनाथ सेन) ओरियन्टल एक्सपीरियन्स, हिंगणे दफ़्तर जिल्द, लाइफ़ ऑफ़ साहू (चिटनीस), पेशवा दफ़्तर साहू राज्युसी, रजवाड़े (जिल्द-3), डाउन फॉल ऑफ़ दी मुग़ल एम्पायर (यदुनाथ सरकार) लेटर मुग़ल्स (इरविन), वंशभास्कर, शिंदेशाही (फाल्के), हिस्ट्री ऑफ दी मराठा पीपुल (किंगकेड) पारसकीच संग्रह (अप्रकाशित), ऐतिहासिक पत्र आदि के हवाले प्रमुख हैं।

पुस्तक की भूमिका में डॉ. मथुरालाल शर्मा ने उल्लेख किया है— "औरंगज़ेब के बाद उसके ज्येष्ठ पुत्र बहादुरशाह ने (1707-1712) मुग़ल साम्राज्य के लुंजपुंज शासन को किसी तरह निभाया उसके बाद साम्राज्य का बड़ी शीघ्रता से पतन होने लगा

और मराठे शक्तिशाली होते चले गये। ...

पेशवों के इतिहास का आरम्भ (1712) यद्यपि आशाजनक था- फिर उनकी शक्ति का बड़ा अभ्युदय हुआ और राज्य ने साम्राज्य का रूप धारण कर लिया। फिर भारतवर्ष के अन्य साम्राज्यों की भाँति उनमें गृह-कलह से फूट पड़ गई जिसका अँग्रेज़ों ने पूरा लाभ उठाया और पेशवाओं के राज्य का 1818 में अन्त हो गया ..... ।'

पुस्तक के विषय में डॉ. शर्मा ने इस कृति की विशिष्टताओं, परिसीमाओं, मर्यादाओं, दस्तावेज़ों, घटनाओं के विषय में इस प्रकार अपनी राय इस प्रकार की हैं— ''यह पुस्तक समकालीन और प्रामाणिक ग्रंथों के आधार पर तैयार की गई है- इसमें सबका निचोड़ है परन्तु यह शोधग्रंथ नहीं है- यह विद्यार्थियों, अध्यापकों, पाठकों के लिए उपयोगी होगी। इसमें हमने किसी ऐसी बात का उल्लेख नहीं किया है जो विवादास्पद हो और प्रामाणिक न हो। विवाद में हमने कहीं प्रवेश नहीं किया- फिर भी पुस्तक को सुपाठ्य उपयोगी तथा तथ्यपुष्ट बनाने का प्रयत्न किया है।''

भूमिका की ये पंक्तियाँ लेखक की स्पष्ट-वादिता, प्रामाणिक दृष्टि, तथ्यप्रियता, लेखन फलक की विराटता की स्वत: अभिव्यंजना है। लगभग 105 वर्ष के पेशवा साम्राज्य के उत्थान-पतन की कहानी डॉ. शर्मा की लेखनी से प्रसूत इस रचना में पूर्ण मार्मिकता, दस्तावेज़ी प्रमाणों, रोचक विवरणों, शासकों के सत्ता संघर्ष, अँग्रेज़ों की कूटनीति, गृह कलह, अन्तर्कलह, शौर्य-पराक्रम, आक्रमण और संधियों के विवरणों और तथ्यपुष्ट प्रमाणों से समन्वित हैं।

पेशवा शासकों के संदर्भ में की गई डॉ. मथुरालाल शर्मा की अपनी टिप्पणियाँ, विवरण और शैलीगत रोचकता भी इस कृति को कालजयी बनाने में महत्वपूर्ण रही हैं उनमें से कतिपय दृष्टव्य हैं-

1. '' ... बालाजी विश्वनाथ सर्वथा स्वशिक्षित पुरुष था। नाना प्रकार की समस्याओं विभिन्न प्रकार की प्रकृति वाले पुरुषों का उसे अनुभव था। उसी ने भावी मराठा नीति का मार्ग प्रशस्त किया था ... वह अपने समस्त उत्तराधिकारियों की अपेक्षा बहुत कुछ एक आदर्श ब्राह्मण था।''

2. '' .... बाजीराव भी मराठा राज्य का सर्वेसर्वा था ... वह चाहता तो दिल्ली के आस-पास की लूट और नादिरशाही आक्रमणों के बाद 'साहू' को दिल्ली के तख्त पर बिठा सकता था- किन्तु स्वयं 'साहू' ऐसा नहीं चाहता था। उसने उत्तर भारत में राजनीतिक आधिपत्य की स्थापना का प्रयास किया था ... ।''

3. '' .... क्षय से बालाजी बाजीराव की शक्ति क्षीण हो गई। उस पर राज्य कार्य की चिन्ता सवार थी, सरकार का दिवाला निकल चुका था, पारिवारिक कलह से उसका स्वभाव चिड़चिड़ा हो गया था ... परन्तु वह चाहता था कि समस्त स्वामी भक्तों को साथ लेकर विदेशी शासकों को भारत से निकाल बहार करे ... ।''

4. '' .... माधवराव 16 वर्ष की आयु में पेशवा बना था- प्रत्यक्ष में उसका शरीर पुष्ट एवं स्वस्थ जान पड़ता था- किन्तु उसे आंतों का क्षय रोग शनै: शनै: उग्र होता चला गया। इसका उसे बहुत संताप था। जयपुर नरेश प्रतापसिंह ने भी पेशवा की चिकित्सा के लिए गंगा विष्णु नामक चिकित्सक भेजा था .. ।''

5. '' ... पेशवा नारायण राव 17 वर्ष की आयु में नवम्बर 1772 में अपने भाई की गद्दी पर बैठा। बालाजी बाजीराव के पुत्रों में नारायण राव सबसे छोटा था ... संस्कृत का उसे साधारण ज्ञान था वह

अच्छी घुड़ सवारी कर सकता था– परन्तु उसके स्वभाव में छिछोपरन और चिड़चिड़ापन था ... ।''

6. ''... पेशवा बाजीराव द्वितीय ने न कोई शिक्षा प्राप्त की थी और न ही उसका अनुभव विशद था। उसका अधिकतर समय कैद में बीता था यह भाग्य का ही खेल था कि यह पेशवा बन गया। उसको अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा— वह अपने घनिष्ठ मित्रों पर भी पर भी संदेह करता था।''

राधाबाई की तीर्थ यात्रा : एक मार्मिक प्रसंग

यों तो यह भी कदम संयोग ही है कि अजमेर निवासी डॉ. ईश्वरी प्रसाद की पुत्री राधाबाई से डॉ. मथुरालाल शर्मा का विवाह जब वे मैट्रिक में पढ़ते थे तभी हो गया था। **मथुरा** और **राधा** का ग्रंथिबन्धन ब्रज साहित्य की अमूल्य निधि भी है। यह विधि संयोग ही कहा जा सकता है पेशवा बाजीराव की माता का नाम भी राधाबाई ही था और उनकी तीर्थ यात्रा ने अनेक राजपरिवारों में सौहार्द और मुग़ल साम्राज्य में एक तूफानी हलचल मचा ही दी।

... जब जयपुर के संस्थापक नरेश सवाई जयसिंह मराठों के विरुद्ध घोर संघर्ष का अभियान संगठित कर रहा था तो राधाबाई ने उत्तर भारत के तीर्थों की यात्रा करने के विचार से 14 फरवरी, 1735 को पूना से प्रस्थान किया।

यह यात्रा एक राजनीतिक योजना थी जो सम्भवत: बाजीराव ने बनाई होगी। वह जानना चाहता था कि देखें राजपूतों और सम्राट का रुख कैसा रहा है। उसको इस बात का विश्वास था कि उसकी धाक इतनी जम चुकी है कि कोई उसकी माता की उपेक्षा नहीं कर सकता।

मातृवत आदर

राधाबाई ने 18 अप्रैल को नर्मदा पार की और 6 मई को वह उदयपुर पहुँचीं। महाराणा ने उसका मातृवत आदर सत्कार किया। वहाँ रहकर उसने नाथद्वारा के दर्शन किये और 29 जून को जयपुर पहुँच गईं। महाराजा सवाई जयसिंह ने उसके प्रति अत्यन्त आदरभाव प्रकट किया और उसकी महारानियों ने राधाबाई के चरण-स्पर्श कर अनेक बहुमूल्य उपहार भेंट किये। महाराजा सवाई जयसिंह ने राजनीतिक या हार्दिक श्रद्धावश उन्हें तीन महिने तक जयपुर ठहराया और महत्ती सेवा की। बांदी की युवरानी और अपनी पुत्री को सवाई जयसिंह ने राधाबाई की गोद में बिठाया और अपनी कूटनीति से बूँदी को निष्कंटक बनाया। महाराणा के पत्र से प्रभावित होकर मुग़ल सम्राट ने भी राधाबाई की निष्कंटक तीर्थ यात्रा के लिए 800 सैनिकों की नियुक्ति राजमाता की सुरक्षा की दृष्टि से की। सवाई जयसिंह ने राजामाता की सम्पूर्ण तीर्थ यात्रा में साथ रहने के लिए अपने प्रतिनिधि रामनारायणदास की नियुक्ति की। इस सम्पूर्ण तीर्थ यात्रा की सफलता में सवाई जयसिंह का विशेष सहयोग रहा।

कृतिकार डॉ. मथुरालाल शर्मा विलक्षण प्रतिभा के धनी थे उन्होंने अपनी सभी परीक्षाएँ सदैव उच्च अंकों से उत्तीर्ण की। उन्होंने 1914 में हाईस्कूल, 1916 में इन्टरमीजियट, और 1919 में बी.ए. की परीक्षाएँ उत्तीर्ण की। ''प्राचीन भारत का इतिहास और संस्कृति'' में एम.ए. करने के बाद काशी विश्वविद्यालय से 1913 में उन्होंने डी.लिट्. की उपाधि प्राप्त की। उन्होंने प्राध्यापक, प्राचार्य, इतिहास विभाग के विभागाध्यक्ष, और राजस्थान विश्वविद्यालय के उपकुलपति के रूप में अपनी मूल्यवान सेवाएँ प्रदान कीं। कोटा राज्य में 'महकमाख़ास' में मुख्य सचिव पद पर रहते हुए

उन्होंने अपने प्रशासनिक कौशल और दक्षता की छाप छोड़ते हुए जनता की मूल्यवान सेवा की। उन्होंने आरकाइव्ज़ के संस्थापक निदेशक, सिनेट, सिन्डीकेट और एकेडेमिक कौंसिल के सदस्य, इंडिया अकादमी के मेम्बर, इंडियन हिस्टोरीकल काँग्रेस के मान्य सदस्य के रूप में अपनी महत्ती सेवाएँ प्रदान कर प्रदेश का मस्तक ऊँचा किया।

विषम परिस्थितियों में भी डॉ. मथुरालाल शर्मा प्रगति के सोपान पार करते गये और अपने मार्ग के बाधक लोह कपाट खोलते गये। डॉ. शर्मा ने 'सादा जीवन और उच्च विचार' के सिद्धान्त को जीवन में चरितार्थ किया। उनका व्यकित्त्व अत्यन्त प्रेरणास्पद, प्रतिभाशाली, आकर्षक और गरिमामय रहा। उनका आत्मिक बल और स्वाभिमान सर्वोपरि रहा। उनका व्यक्तित्व स्फटिक मणि के समुज्वल और हर क्षेत्र में उनके विचार सुलझे हुए थे। भारतीय स्वातंत्र्य संघर्ष में भी उनकी महत्ती भूमिका रही।

हम पहले ही निवेदन कर चुके हैं कि डॉ. शर्मा का मौलिक और अनूदित रचना संसार अत्यन्त विशद और व्यापक फलक लिये हुए है—तथापि केवल एक स्मृति 'पेशवाओं का इतिहास' बतौर बानगी के प्रस्तुत की गयी।

-1887, पाटनी भवन, ऊँचा कुआँ,
हल्दियों का रास्ता, जयपुर 302003 ❑

भारत का सांस्कृतिक इतिहास

भारतीय इतिहास, जो कि अनुकूल-प्रतिकूल सभी प्रकार की परिस्थितयों में एकरस, अखण्ड तथा सतत् प्रवहमान् बना रहा, एकमात्र विचारों की धारा पर उभरा और संवर्द्धित हुआ। उसका धर्म, दर्शन, कला, साहित्य उन महान् विचारों पर आधारित रहा है, जो मानव-मात्र की जिज्ञासा का विषय बना तथा विश्व में फैला और विशाल भू-मण्डल पर जिसके प्रभाव की छाप आज भी विद्यमान है।

इस भारतीय सभ्यता और संस्कृति का इतिहास उन चिरन्तन एवं शाश्वत मानमूल्यों पर आधारित हैं, जिन्होंने एक निश्चित जीवन-पद्धति का निर्माण किया और इसीलिए जिनका महत्व सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक बना रहा। इतिहास का भारतीय दर्शन न तो युग-विधायक ऋषियों, ब्राह्मणों, देवों और मनुष्यों का जीवन-चरित मात्र हैं, अपितु उस शाश्वत धर्म, अर्थात् नैतिक आदर्शों तथा प्रकृत नियमों का इतिहास है, जिसमें कभी विकास उत्पन्न नहीं हुआ सदा एकरूपता और एकरसता बनी रही।

विभिन्न शास्त्रों तथा विद्याओं के प्रति अतीत के युगों-युगों में जैसी-जैसी मान्यताएँ तथा धारणाएँ बदलती गयी और रचनाकार तथा अध्येता जैसे-जैसे उत्तरोत्तर नवीनता की ओर उन्मुख होता गया, वैसे-वैसे अतीत का सारा निर्माण और उसकी निर्माण-विधा के क्षेत्र में भी नयी मान्यताओं तथा दृष्टिकोणों में परिवर्तन होता गया। इस वास्तविकता को ओझल करने के कारण ही कुछ पाश्चात्य विद्वानों को भारतीय साहित्य में इतिहास बुद्धि का अभाव दिखायी दिया।

विशाल भारतीय वाङ्मय के निर्माता पुरातन मनीषियों द्वारा इतिहास निर्माण की दृष्टि से जो बहुविध प्रयास हुए और जिनके आधार पर आधुनिक विद्वानों को भारत का वृहत इतिहास लिखने की आधार-सामग्री तथा प्रेरणा प्राप्त हुई, उसको मुख्य रूप से दो भागों में विभक्त करके इस प्रकार देखा जा सकता है - साहित्यिक और पुरातात्त्विक।

तुजुक-ए-बाबरी

यह ग्रन्थ बाबर की आत्मकथा है और यह वाकियात-ए-बाबरी भी कहलाता है। बाबर ने इसको तुर्की भाषा में लिखा था। फिर अकबर के शासन के मध्य में अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना ने इसको फ़ारसी भाषा में अनुवाद किया और उसे सन् 1590 ई. में बादशाह अकबर को भेंट किया। अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना की 72 वर्ष की आयु में सन् 1627 ई. में मृत्यु हो गई।

बाबर का पूरा नाम ज़हीरूद्दीन मोहम्मद बाबर था। वह पितृ पक्ष से तिमूर का और मातृ पक्ष से चंगेज़ ख़ाँ का वंशज था। अपने पिता से उसको फ़रगाना का छोटा सा राज्य प्राप्त हुआ था, जो भी छूट गया था और गृहहीन होकर बाबर को इधर-उधर भटकते हुये दारुण दुःखों का सामना करना पड़ा था। परन्तु उसने बाहुबल से भारतवर्ष का अधिकांश भाग जीतकर दिल्ली को अपनी राजधानी बनाया और फिर उसके वंशजों ने अपने साम्राज्य का विस्तार करके अपने बल और वैभव से संसार को चकित कर दिया। बाबर का जन्म सन् 1482 में और मृत्यु 1530 में हुई थी। वह वीर और कुशल सेनानायक था और निपुण राजनीतिज्ञ था। वह अरबी, फ़ारसी और तुर्की का विद्वान् था और उच्च श्रेणी का कवि था। उसकी आत्मकथा का संसार के साहित्य में ऊँचा स्थान है। यह सरल और सीधी तुर्की भाषा में लिखी गई है और पढ़ने में उपन्यास सी प्रतीत होती है। बादशाह जहाँगीर ने इसमें कुछ अध्याय मिलाये थे। वह तुर्की भाषा जानता था। इसी भाषा में उसने 1609 में कैप्टिन हॉकिन्स से बातचीत की थी।

बाबर ने, जहाँ भी गया है उस देश का और वहाँ के प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन किया है। वह इस्लाम धर्म का भक्त था, परन्तु मद्यपान करने में कोई कमी नहीं रखता था। वह वीर, उदार, बुद्धिमान और प्रायः स्पष्टवादी था। उसके चरित्र में कोई कमी नहीं थी। उसके जीवन के सारे पक्ष उसकी आत्मकथा में ज्यों के त्यों दृष्टिगत होते हैं। उसने अपनी कोई बात नहीं छुपाई है। सन् 1508 तक की उसकी जीवनी में कई बातें छूट गई हैं फिर 1519 तक का वृत्तान्त नहीं है इसके पश्चात् 1529 तक यह आत्मकथा डायरी के रूप में लिखी गयी है।

इसका अँग्रेज़ी में अनुवाद डॉ. लिडन ने शुरु किया था और श्री डब्ल्यु एर्सकिन ने समाप्त किया। यह अनुवाद 1817 में समाप्त हुआ और 1826 में प्रेस में भेजा गया था।

इस आत्मकथा का ऐतिहासिक महत्व तो है ही परन्तु इसमें काबुल, फ़रगाना और उत्तर भारत का बड़ा सुन्दर वर्णन है और हिन्दुस्तान का विस्तृत वर्णन 25 पृष्ठों में किया गया है। इसमें भारत की सीमा, जनसंख्या, भूमिकर, फल, वृक्ष, पशु, पक्षी और मछलियों का भी वर्णन है। लेखक ने यह भी स्पष्ट लिखा है कि आँखों देखी बातें क्या है और सुनी हुई क्या है। इसके अतिरिक्त अपने देश निवासियों के चरित्र, स्वरूप, शिष्टाचार, वेश-भूषा, व्यवहार, स्वभाव और रुचि का भी बाबर ने सूक्ष्म वर्णन किया है। इसको पढ़कर हमें ऐसा प्रतीत होता है, मानों हम उन लोगों में बैठे हैं। बाबर ने अपनी मद्यमंडलियों का भी अच्छा उल्लेख किया है।

अपने साथियों में बैठे हुए वह भूल जाता था कि वह शासक है। वह युद्ध बंद होते ही मद्य गोष्ठी में बैठ जाया करता था, जिसके कारण उसको कभी कभी विपत्तियों का सामना भी करना पड़ता था। कभी 24 घंटों में चार बार भी मद्यपान किया करता था। मद्य के अतिरिक्त वह माजूम् और अफ़ीम भी खाया करता था। यह आदत तो उसकी कभी नहीं छूटी।

बाबर को आजीवन संघर्ष करना पड़ा। ग्यारह वर्ष की आयु से मृत्यु पर्यन्त वह इधर उधर सैनिक चढ़ाइयाँ करता रहा और किसी स्थान पर एक वर्ष से अधिक नहीं टिक सका या तो वह युद्ध या मुसाफ़िरी करता रहता था या शिकार में व्यस्त हो जाता था। अपनी अस्वस्थ अवस्था में भी वह दो ही दिन में कालपी से आगरा पहुँच गया था (160 मील) उसने गंगा को दो बार तैर कर पार किया था। अन्य नदियों को भी उसने इसी प्रकार पार किया था। ऐसे संघर्षमय और परिश्रम-संकुल जीवन में भी वह काव्य रचना किया करता था।

इन्ही कारणों से बाबर की तुजुक-ए-बाबरी रोचक तथ्यों से परिपूर्ण हैं। इतिहास की दृष्टि से तो यह महत्वपूर्ण है ही परन्तु साहित्य की दृष्टि से भी इसका उतना ही महत्व है। ❑

कोटा व जयपुर राजघरानों के सम्बन्ध

'सवाई जयसिंहजी के समय से कोटा और जयपुर में भी घोर वैमनस्य चला आता था। दोनों राज्यों के नरेश कई बार युद्ध क्षेत्र में परस्पर लड़ चुके थे। ऐसे वैमनस्य को हटाना महाराव उम्मेदसिंहजी का ही काम था। इसमें कई घटनाओं के संयोग ने भी सहायता दी। महाराव उम्मेदसिंह जी का तृतीय विवाह ईशरदा के ठाकुर की बहन से हुआ था। वर्तमान जयपुर नरेश ईशरदा ठिकानाके कनिष्ठ पुत्र हैं। इन्होंने प्रारम्भिक शिक्षा के कोटे में पलायथे के आप ओंकारसिंह जी के पास रह कर प्राप्त की थी। आप ओंकारसिंह जी का विवाह भी ईशरदा के ठाकुर की बहन से हुआ, अतः वर्तमान जयपुर नरेश के साथ बचपन से ही कोटा नरेश का प्रेम था। जयपुर नरेश बीमार हुए तो कुशल पूछने को और फिर गोदनशीनी पर हर्ष प्रकट करने को कोटा नरेश महाराज माधोसिंह जी मिलने के लिए जयपुर गये। वर्तमान जयपुर नरेश भी कई बार कोटा आ चुके हैं। इस प्रकार महाराव उम्मेदसिंहजी ने दोनों राजघरानों में पुनः स्नेह सम्बन्ध स्थापित किया। अब दोनों नरेश आपस में प्रेमपूर्वक मिलते हैं और आते जाते हैं।'

'कोटा राज्य के इतिहास से' पृष्ठ 715

हाड़ौती का प्राचीन इतिहास

हाड़ौती में न केवल ऐतिहासिक किन्तु प्रागैतिहासिक पुरातत्त्व के अवशेष प्राप्त हुए हैं। बून्दी, इन्द्रगढ़ तथा कुछ अन्य स्थानों पर पूर्व-पाषाण काल के उपकरण प्राप्त हुए हैं। जिनके आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि करीब एक लाख वर्ष पूर्व यहाँ मानव बसते थे कोटा जिले में काकोनी नामक स्थान पर परवन नदी के किनारे लघु पाषाण उपकरण खोजे गये हैं।

झालरापाटन में आहत (पंचमार्क) अन्य प्राचीन सिक्के प्राप्त हुए हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि प्रद्योत-मौर्यकाल में छठी सदी ई. पू. से 187 ई. पू. यह स्थान बसा हुआ था। बड़वा के 239 के अभिलेख से मौखिरियों के अधिपत्य का पता चलता है। उनके समय में वैदिक धर्म की पुनरावृत्ति हुई क्योंकि इस वंश के राजा महासेनापति बल और उसके तीन पुत्रों में से प्रत्येक ने त्रिरात्र-यज्ञ किया। संभवत: मौखिरि मालवों की ही एक शाखा हो। इस काल के अन्य शासक भी राजा के स्थान पर 'महासेनापति' की उपाधि धारण करने लगे थे, जो इस बात का सूचक है कि सेनापति अपनी सैनिक शक्ति द्वारा राजा भी बन गये थे। संभवत: बड़वा के मौखिरि राजा या तो पश्चिम के शक क्षत्रियों के सामंत थे या राजस्थान के मालव नगर जो, जयपुर के समीप उनियारा, के मालवों के थे। ऐसा प्रतीत होता है कि विदेशियों पर विजय प्राप्त करने के उपलक्ष्य में महासेनापति बल ने यह यज्ञ किया था। इतिहास से भी ज्ञात है कि इस समय पश्चिम के शक क्षत्रियों की स्थिति कमज़ोर थी।

चौथी से छठी शताब्दी तक हाड़ौती के क्षेत्र पर दशपुर (मंदसौर) के औलिकरों का अधिकार रहा। इस वंश का संस्थापक जयवर्मन् था तथा इसके पश्चात् क्रमशः सिंहवर्मन्, नरवर्मन् और विश्ववर्मन् राजा हुए। गंगधार का 423ई. का अभिलेख उल्लेख करता है कि विश्ववर्मन् के मंत्री मयूराक्षक ने विष्णु का मंदिर, देवी का मंदिर तथा एक विशाल वपिका का निर्माण किया। इस अभिलेख से यह भी पता चलता है कि इस स्थान पर तांत्रिक धर्म बड़ा प्रबल था। केशोरायपाटन उत्खनन से गुप्तकालीन ईंटें प्राप्त हुई हैं जिनसे इस नगर का गुप्तकाल से अस्तित्व होने का प्रमाण मिलता है।

सातवीं तथा आठवीं शताब्दी में इस क्षेत्र पर मौर्य, राष्ट्रकूट तथा नागराजाओं का अधिपत्य रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ के मौर्य राजा पहले हर्ष के अधीन थे किन्तु बाद में स्वतंत्र हो गये थे। झालरापाटन के 690ई. के अभिलेख में मौर्य राजा दुर्गगण को राजाओं का महाराजा कहा गया है। उसके सेनापति वोप्पक का भी उल्लेख है जिसने अपने स्वामी को सामंतों पर नियंत्रण करने में सहयोग दिया। सातवीं व आठवीं सदी के अन्य अभिलेख में शंकरगण का नाम भी मिलता है। कणसवा के 738 ई. के लेख में शिवगण तथा धवलात्मन मौर्य राजाओं के नाम पाये जाते हैं।

इन्दरगढ़ के 710-11ई. के अभिलेख में राजा नष्णाप्प और उसके पिता भामाण के नामदिये हुए हैं। राजा नण्णप्प, नाम से राष्ट्रकूट वंश का प्रतीत होता है। 693-94 ई. के संगलोढ़ा के ताम्रपत्र के लेख में तथा 709-10 ई. के मुल्ताई के ताम्रपत्र लेख में राष्ट्रकूट राजा नण्णराज तथा उसके पिता स्वामिकराज का उल्लेख है। नण्णराज का उपनाम युधासुर भी लिखा हुआ मिलता है। संभव है

स्वामिकराज का विरुद्ध भामाज हो। यदि नण्णप्प और नण्णराज को एक माना जाय तो विदर्भ के राष्ट्रकूटों का साम्राज्य हाड़ौती तक फैला हुआ था। वी. वी. मिराशी का मत है कि इन्दरगढ़ का नण्णप्प एक साधारण राजा था जो मौर्यों की प्रमुखता मानता था। इसके लिए ठोस प्रमाण नहीं हैं क्योंकि अभिलेख में उसके स्वामी का उल्लेख नहीं है। वह एक स्वतंत्र शक्तिशाली राजा प्रतीत होता है जिसने अपने शत्रुओं को युद्धस्थल छोड़ने हेतु बाध्य किया।

नागों का भी हाड़ौती के कुछ प्रदेश पर आठवीं शताब्दी में राज्य था। शेरगढ़ के 790 ई. के अभिलेख में सामंत देवदत्त का नाम है जिसने कोशवर्धन, शेरगढ़ का प्राचीन नाम, में बौद्ध मंदिर व विहार बनवाया। इस अभिलेख में देवदत्त के पूर्वज बिन्दुनाग, पद्मनाग और सर्वनाग के क्रमशः उल्लेख हैं। ऐसा लगता है कि उसके पूर्वज मोर्यों की प्रमुखता मानते हो। देवदत्त स्वयं प्रतिहारों या राष्ट्रकूटों का सामंत हो सकता है।

हाड़ौती प्रदेश में सातवीं व आठवीं शताब्दी में बौद्ध धर्म मौर्य और नागराजाओं की छत्रछाया में फला फूला। नागराजा तो स्वयं बौद्ध धर्मावलंबी थे। इस कारण यह स्वाभाविक था कि उन्होंने बौद्ध-धर्म को आश्रय देकर उसका प्रचार किया। इसके परिणामस्वरूप इस काल में यहाँ अनेक बौद्ध चैत्य तथा विहार निर्मित हुए। नागराजा देवदत्त ने तो स्वयं शेरगढ़ में 770 ई. में बौद्ध चैत्य व मंदिर बनवाये। इस समय की निर्मित बौद्ध गुफ़ाएँ कोलवी, बिनाईक तथा सबसे महत्वपूर्ण धमनार में पाई जाती हैं। धमनार इस समय बौद्ध धर्म का एक बड़ा केन्द्र बन गया था क्योंकि यहाँ पर सत्तर बौद्ध गुफ़ाएँ हैं। यहाँ पर इस काल की एक मिट्टी की मोहर मिली है जिसमें धमनार का नाम चंदन गिरि महाविहार मिलता है। धमनार से 32 किलोमीटर खेजरिया बोप में आठवीं सदी की अनेक बौद्ध गुफ़ाएँ मिली हैं। गरोठ से 20 किलोमीटर दूरी पर पलाडूंगर नाम का स्थान है जहाँ पर करीब 100 गुफ़ाएँ हैं जिनमें दो चैत्य हैं तथा शेष विहार हैं। बहुत सी गुफ़ाओं के स्तम्भ और छत गिर गये हैं। यहाँ पर एक भी बुद्ध और बोधिसत्व की मूर्ति नहीं मिली। यह स्थान बौद्धों के हीनयान सम्प्रदाय का था जो इस क्षेत्र में आठवीं शताब्दी तक जीवित रहा।

नागभट प्रथम (756ई.) से महिपाल द्वितीय (946ई.) तक इस क्षेत्र पर प्रतिहारों का प्रभुत्व जान पड़ता है। कुछ समय के लिए राष्ट्रकूटों ने भी इस क्षेत्र पर अपना अधिकार कर लिया था। हाड़ौती के कुछ क्षेत्र पर मेवाड़ के गुहिलों का भी अधिकार रहा। दसवीं सदी में पद्मनंदि द्वारा रचित जम्बूदीवपण्णत्ति से ज्ञात होता है कि परिपात्र में स्थित बारां,शक्ति (शांति) राजा द्वारा शासित था। बारां का एकीकरण हाड़ौती में स्थित बारां से किया जाता है और राजा शक्ति का मेवाड़ के राजा शक्तिकुमार से जो 977 ई. में राज्य करता था। राजा शक्तिकुमार के एक पूर्वज भृतभट्ट द्वितीय ने दक्षिण में प्रतापगढ़ तक अनपे साम्राज्य का विस्तार कर लिया था। शक्तिकुमार ने अपनी विजयों से यश व कीर्ति को प्राप्त किया था साम्राज्य को भली-भाँति संगठित किया। उनके साम्राज्य में हाड़ौती प्रदेश का कुछ हिस्सा भी सम्मिलित हो सकता है।

प्रतिहारों के पश्चात् हाड़ौती परमारों के अधिकार में आ गया। वृहद्द्रव्य संग्रह की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि नेमिचन्द्र के केशोरायपट्टन ,जिसका प्राचीन नाम आश्रम नगर था, के मुनिसुव्रत तीर्थंकर का जैन मंदिर में सोम हेतु यह ग्रंथ लिखा। सोम मालवा के परमार राजा भोज के समधी मांडलेश्वर श्रीपाल का भांडागारिक था। अटरू का अभिलेख परमार राजा महाराजाधिराज जयसिंह देव का उल्लेख करता है। झालरापाटन के 1086 ई. के

अभिलेख तथा शेरगढ़ के अभिलेख में परमार राजा उदयादित्य का नाम पाया जाता है।

इस समय के कुछ अभिलेखों में जिन शासकों के नाम पाये जाते हैं, उनमें से कुछ प्रतिहारों तथा परमारों की प्रभुसत्ता मानते थे तथा कुछ उनके राज्य अधिकारी थे। इस समय रामगढ़ पर मेदवंश के राजाओं का राज्य था। मेदवंश की उत्पत्ति आदिवासी मेवों से हुई है जो इस क्षेत्र में अधिकांश पाये जाते हैं। दसवीं सदी के अभिलेख से ज्ञात होता है कि इस वंश के राजा मलयवर्मा ने शत्रु पर अपनी विजय के उपलक्ष्य में एक मंदिर का निर्माण किया। 1162 ई. में इसी वंश के राजा त्रिशावर्मा ने इस मंदिर का पुनरुद्धार किया। यहाँ पर दो खंडित दुर्ग हैं, वह सम्भव है मेदवंश के राजाओं द्वारा निर्मित हों।

झालरापाटन के समीप सेमाली में छह छोटे लेख हैं जिनमें क्रमश: राजदेशिक नामों के उल्लेख हैं-सांगण, सुभकर, राहु (राहुल), जस्सा आदि। राजदेशिक का अर्थ प्रदेश के गवर्नर के अर्थ में होता है। इसी स्थान पर ग्यारहवीं सदी के अन्य लेख में राजा श्री कुसुमदेव और उसके पिता श्री बाल्हणदेव के नाम पाये जाते हैं। उनके वंश का इस लेख में उल्लेख नहीं है। बारहवीं शताब्दी के लेख में दहिया राउत भीवसिंह और उसके पुत्र राउत ऊदा का उल्लेख है।

धर्म :

हाड़ौती प्रदेश में प्राचीनकाल में शैवधर्म का सबसे अधिक प्रभाव रहा। सातवीं और आठवीं सदी में इस प्रदेश के मौर्य और राष्ट्रकूट शासक शैवधर्म के अनुयायी थे और उन्होंने अपने धर्म को प्रोत्साहन दिया। झालरापाटन का सातवीं शताब्दी का प्रसिद्ध शीतलेश्वर महादेव का मंदिर संभवत: मौर्यों के राज्य में बना था। मौर्य राजा दुर्गगण के राज्य में उसके सेनापति वोप्पक ने इस स्थान पर शैव मंदिर बनवाया। शीतलेश्वर महादेव के मंदिर के स्तम्भ लेख में यह उल्लेख मिलता है कि शंकरगण इस मंदिर के दर्शन हेतु आया जिसने अवश्य इसको कुछ दान भी दिया होगा। मोसुक का पुत्र मंचुक नवीं शताब्दी में इस मंदिर की पूजा हेतु आया। एक अभिलेख में इशनमु मुनि का उल्लेख है जिसकी तुलना लकुलोश से की गई है।

इन्दरगढ़ का 710-11 ई. का अभिलेख पाशुपत आचार्य दानराशि द्वारा स्वयम्भू और गुहेश्वर नाम के शिवमंदिर का राष्ट्रकूट राजा नण्णप्प के समय पुन: स्थापित का उल्लेख करता है। दानराशि के गुरु के नाम विनितराशि था, जो व्याकरण का प्रकाण्ड विद्वान था तथा उसका बड़ा सम्मान तथा प्राग्वट जाति के कुमार की देउल्लिका, तदक्षुलिका तथा भोगिनिका इस गुहेश्वर के मन्दिर को दान दिया। इस मन्दिर की मरम्मत तथा पूजा का कार्य नगर सभा के सुपुर्द था। इन्दरगढ़ से 11 किलोमीटर दूरी तक मोदी में आठवीं सदी का लकुलोश का मन्दिर भी है।

परमारों के राज्य में शैवधर्म की अधिक उन्नति हुई तथा शेरगढ़ शैवधर्म का एक बड़ा केन्द्र हो गया। यहाँ का सोमनाथ मन्दिर प्रसिद्ध शैव मन्दिर था जिसके दर्शन हेतु मालवा का परमार राजा उदयादित्य स्वयं दर्शन हेतु आया तथा पूजा के लिए ग्रामदान में दिया। इस ग्राम की पहचान विलापद्रक से की जाती है। इस मन्दिर में भट्टारक नाग्नक रहता था जो वस्त्र नहीं धारण करता था। जिस बस्ती में सोमनाथ का मन्दिर स्थित था, वह मन्दिर के नाम पर सोमनाथ पल्ली कहलाती थी। इस मन्दिर को समय-समय पर दान दिये गये। नरसिंह, गोवृष और धीरादित्य यहाँ नगर समिति के सदस्य थे तथा चुंगीघर द्वारा बाजार से जो कर वसूल किया जाता था, उस पर उनका अधिकार था। ये तीनों वणिक चुंगीघर की आय में से भट्टारक नाग्नक के चरणों

पर घी मलने हेतु प्रतिदिन 1017 ई. में एक कर्ष घी दान देने का निश्चय किया। पथ-कर एकत्रित करने वाला अधिकारी इस मन्दिर को चन्दन तथा अगरबत्ती के खर्च के लिए पाँच वृषभ दान देता था। 1018 ई. में ठक्कुर देवस्वामिन् ने इस मन्दिर हेतु तीन प्रकार के दान दिये। इसके अतिरिक्त इस सोमनाथ मन्दिर के लिए अलग-अलग व्यक्तियों ने वासनिकाएँ निर्मित्त की जिनके किराये से इस मन्दिर के खर्चे की पूर्ति होती थी।

केशोरायपट्टन, जिसका प्राचीन नाम आश्रम नगर था, शैवधर्म का एक तीर्थ रहा है। यहाँ का मृत्युंजय महादेव का मन्दिर प्रसिद्ध था। जयचन्द्रसूरि द्वारा रचित हम्मीर महाकाव्य से ज्ञात होता है कि रणथम्भौर के चौहान राजा जैत्रसिंह वृद्धावस्था में अपने पुत्र हम्मीर को राज्य देकर पत्नी सहित इस स्थान पर मन्दिर की पूजा हेतु गए।

शैवधर्म के साथ वैष्णवधर्म का भी शनैः शनैः प्रभाव बढ़ रहा था। घमनार में आठवीं व नवीं शताब्दी में निर्मित वैष्णव मन्दिर है। इस मन्दिर में एक विष्णु की मूर्ति है जिसके हाथों में गदा, माला, चक्र और शंख है। झालरापाटन, कृष्णविलास तथा कुछ अन्य स्थानों पर वैष्णव मन्दिर और अनेक मूर्तियों से वैष्णव धर्म की उन्नति का पता चलता है।

हाड़ौती प्रदेश के राजा ब्राह्मण धर्म के अनुयायी होने पर भी उदार धार्मिक विचारों के थे। इस कारण यह स्वाभाविक था कि उनके राज्य में जैन धर्म का भी प्रचार हुआ। बारां, झालरापाटन, शेरगढ़, केशोरायपट्टन आदि इस जैन धर्म के मुख्य केन्द्र थे। दसवीं शताब्दी के पद्मनंदि द्वारा रचित जम्बूदीवपण्णपति से ज्ञात होता है कि बारां में अनेक श्रावक तथा जैन मन्दिर थे। मूलसंघ के तरेपनवें भट्टारक माघचन्द्र द्वितीय ने अपनी पीठ उज्जैन से हटाकर 1083 ई. में बारां स्थापित की जहाँ उनके पश्चात् क्रमशः दस भट्टारक हुए। झालरापाटन भी जैनियों का पवित्र स्थान रहा है। यहाँ के शांतिनाथ के मन्दिर को शाह पीपा ने 1046 ई. में बनवाया था तथा इसकी प्रतिष्ठा समारोह भावदेव सूरि ने की। इस मन्दिर के दर्शन हेतु प्रायः श्रावक और जैन आचार्यों का आवागमन बना रहता था। यहाँ पर जिन जैन आचार्यों की समाधियाँ मिलती हैं, उनके नाम श्रीमंतदेव, देवेन्द्र आचार्य, कुमारदेव, नेमिदेवाचार्य और बलदेवाचार्य।

शेरगढ़ में बौद्ध एवं शैवधर्म के साथ जैनधर्म का भी प्रभाव था। यहाँ पर किसी राजपूत सरदार द्वारा दसवीं शताब्दी की निर्मित तीन जैन मूर्तियाँ खण्डित अवस्था में प्राप्त हुई हैं। 1105 ई. के अभिलेख में उल्लेख मिलता है कि नये चैत्य में जैन तीर्थंकर नेमिनाथ का उत्सव मनाया गया जिसका संचालन वीरसेन ने किया। 1134 ई. में देवपाल ने रत्नत्रय (तीर्थंकर शांतिनाथ, कुंथनाथ और अरनाथ) का निर्माण किया तथा अपने पुत्र, माता-पिता, सम्बन्धी तथा कोशवर्धन के गोष्ठियों के संघ में इसका प्रतिष्ठा समारोह का आयोजन किया।

कृष्णविलास में जैन मन्दिरों के अवशेषों से ज्ञात होता है कि वैष्णव धर्म के साथ जैन धर्म भी लोकप्रिय रहा। 1218 ई. में रचित जिनदत्तचरित्र की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि लक्ष्मण, जो भरतपुर के समीप तहनगढ़ (त्रिभुवन गिरि) का निवासी था, मुसलमानों के आक्रमण के भय से इस स्थान को छोड़कर विलासपुर चला गया। यहाँ पर, जिस श्रावक श्रीधर ने उसको आश्रय दिया. उसी की प्रेरणा से 1218 ई. में लक्ष्मण ने जिनदत्त चरित्र को रचा।

केशोरायपट्टन भी जैनियों का तीर्थ स्थान रहा है, जहाँ जैन तीर्थंकर मुनिसुव्रत का मन्दिर बड़ा प्रसिद्ध था। इस मन्दिर में नेमिचन्द्र ने वृहद्-द्रव्य-संग्रह लिखा। तेरहवीं सदी के लेखक मदन कीर्ति

ने शासन चतुस्त्रिंशतिका में इसको तीर्थस्थल के रूप में उल्लेख किया है। प्राकृत का निर्वाण काण्ड तथा अपभ्रंश की निर्वाण भक्ति में भी इस मन्दिर का विवरण है। भूमिगत होने के कारण मन्दिर अब भुविदेवरा कहा जाता है। यहाँ पर जैन सौराणिक साहित्य से सम्बन्धित कल्पवृक्ष तथा प्राचीन मूर्तियाँ उत्खनन से प्राप्त हुई हैं जो सम्भवत: इस मन्दिर की हो सकती हैं।

कला :

हाड़ौती प्रदेश में इन धर्मों की उन्नति ने कला के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। कला के सांगोपांग अध्ययन हेतु दो भागों में विभाजित किया जाता है— (1) वास्तुकला एवं (2) मूर्तिकला। वास्तुकला की जानकारी मन्दिरों, गुफ़ा चैत्यों तथा विहारों में होती हैं। ग्यारहवीं व बारहवीं सदी में मन्दिरों के निर्माण में इस कला ने अपना परम उत्कर्ष प्राप्त कर लिया था। इस प्रदेश का सबसे प्राचीन मन्दिर झालरापाटन का शीतलेश्वर महादेव का है जिसका निर्माण 689 ई. में हुआ था। इसको नष्ट किया गया और इसकी गलत ढंग से मरम्मत की गई, किन्तु फिर भी इसमें मूल अंग अब भी विद्यमान हैं जैसे मण्डप के स्तम्भ तथा दीवालें। मन्दिर के स्तम्भ बारीकी से उत्कीर्ण हैं। द्वार पर अंकित पुरुष और स्त्रियों के चित्रों से जीवन झलकता है। फर्ग्यूसन भारत के सर्वोत्कृष्ट मन्दिरों में इसे एक उदाहरण के रूप में मानता है। अन्य मन्दिर इस काल का इसी स्थान पर कालिका देवी का है। इसमें दो देव कुलिकाएँ तथा गर्भ गृह के द्वार पर अंकित चित्र से यह मन्दिर प्राचीन जान पड़ता है, तथा यह विष्णु का है। कणसवा के शैव मन्दिर के विन्यास तथा बनावट में ऊपर के दो मन्दिरों से साम्यता रखता है। इसमें 738 ई. का लेख तथा प्राचीन कुछ अवशेष भी सुरक्षित हैं।

घमनार का आठवीं शताब्दी का धर्मनाथ का मन्दिर मूल में विष्णु का था। इस मन्दिर में मंडप, सभागृह, गर्भ गृह, शिखर तथा चारों ओर देव-कुलिकाएँ पाई जाती हैं। मंडप की छत अलंकृत हैं। मन्दिर का आन्तरिक हिस्सा तथा स्तम्भ सादे हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार यह मन्दिर एलोरा के कैलाश मन्दिर से साम्यता रखता है किन्तु चट्टान खुरदरार होने के कारण एलोरा जैसा अलंकरण इस मन्दिर में नहीं हो सकता है। यह मन्दिर नागर शैली का है किन्तु एलोरा का मन्दिर द्रविड़ शैली का है।

सातवीं और आठवीं शताब्दी की शैल-कृत बौद्ध विहार और चैत्य घमनार, खोलवी, विनाइक, खेजरिया भोय तथा पोलाडूंगरी से प्राप्त हुए हैं। घमनार की गुफाओं में भीमबज़ार और बड़ी कचेरी महत्त्वपूर्ण हैं। भीमबज़ार सबसे विशाल है और इसमें चैत्य और विहार दोनों पाये जाते हैं। बड़ी कचेरी एक चैत्य है। इन चैत्य और विहारों में स्तूप पूजा के लिए निर्मित है। बौद्ध और बोधिसत्वों की मूर्तियों को भी चट्टान को काटकर बनाई गई हैं, तथा उत्कीर्ण भी हैं। पोलाडूंगर में दो चैत्य हैं तथा शेष विहार हैं। खेजरिया भोय तथा कोलवीं में भी अनेक ऐसी बौद्ध गुफाएँ मिलती हैं। ये सातवीं आठवीं सदी के गुफा चैत्य और विहार पहिले वालों से वास्तुकला दृष्टि से कुछ भिन्न हैं।

ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी के निर्मित्त मन्दिर प्राय: भूमिज शिखर शैली में रखे जा सकते हैं। ये मन्दिर पूर्णत: पाषाण ग्राम खण्डों से निर्मित, चपटी छत व गर्भगृह और सभा मंडप युक्त तथा प्रदक्षिणा रहित हैं। भित्तियों और स्तम्भों पर सर्वांग उत्कीर्णन है, जो खजुराहो के मन्दिरों की कला से मेल खाते हैं। स्तम्भों पर की कुछ पुरुष-स्त्री आकृतियाँ अति सुन्दर हैं। हाड़ौती में ये मन्दिर रामगढ़, झालरापाटन आदि स्थानों में पाये जाते हैं। रामगढ़ का भंझारदेवरा सबसे प्रसिद्ध और विशाल

शैव मन्दिर है, और यह मध्यप्रदेश में उदयपुर के उदयेश्वर के मन्दिर से शिखर तथा अन्य वास्तु शैली में साम्यता रखता है। झालरापाटन का सूर्य मन्दिर स्वलम्ब कोणीय और आकार में सपृरथ है। झालरापाटन में इस समय के अन्य मन्दिर भी हैं जैसे वराह अवतार तथा शांतिनाथ का जैन मन्दिर। शांतिनाथ के मन्दिर की देवकुलिका तथा शिखर प्राचीन हैं किन्तु मंडप नया है। यद्यपि अटरू के मन्दिर यद्यपि खण्डित हैं किन्तु वे.कलापूर्ण है, और उनके स्तम्भ और छत बहुत ही सुन्दर उत्कीर्ण हैं। कृष्णविलास के विष्णु के मन्दिर भी कला की दृष्टि से उत्तम हैं।

मूर्तिकला :

प्राय: प्रतिमाओं पर पृथक-पृथक चिन्हों का प्रदर्शन आठवीं शताब्दी से धीरे-धीरे प्रचारित हुआ। यक्ष-यक्षिणी आदि शासन देवताओं का आसनों पर अंकन भी प्रचुरता से होने लगा तथा इनके प्रभावल व सिंहासनों पर अलंकरण विशेष अधिक हैं। अलंकरण की समृद्धि इस युग की मूर्तियों घमनार, झालरापाटन, शेरगढ़, रामगढ़, अटरू तथा कृष्णविलास से प्राप्त हुई हैं। बुद्ध और बोधिसत्वों की सातवीं व आठवीं शताब्दी की मूर्तियाँ उत्कीर्ण या चट्टानों को काटकर निर्मित घमनार में देखी जाती हैं। झालरापाटन से शिव की नटराज के रूप में मूर्ति कला का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। विष्णु की प्रतिभाएँ विभिन्न अवतारों में झालरापाटन और कृष्णविलास में हैं। कृष्णविलास के मन्दिरों में रामायण और महाभारत की कथाओं को उत्कीर्ण किया गया है। अटरू की पार्वती की प्रतिमा महत्त्वपूर्ण है। रामगढ़ के मन्दिर में द्वारपालों की मूर्ति सौन्दर्यता में बेजोड़ हैं। सूर्यनारायण की प्रतिमाएँ अटरू तथा झालावाड़ से प्राप्त हुई हैं। जैन तीर्थंकरों की इस समय की निर्मित मूर्तियाँ शेरगढ़ तथा केशोरायपट्टन से प्राप्त हुई हैं।

❑

मेजर जनरल आप ओंकारसिंह

सम्वत् १९८० में चौबे सर रघुनाथदास की मृत्यु पर मेजर जनरल आप ओंकारसिंह मेम्बर महक्मा खास नियुक्त हुये। इनके पिता राव बहादुर आप अमरसिंह आरम्भ से अन्त तक बड़े प्रभावशाली मेम्बर कौन्सिल थे। इनके बड़े भाई प्रतापसिंह का देहान्त हो जाने पर ये आप अमरसिंह के उत्तराधिकारी बने। इन्होंने मेओ कॉलेज से एन्ट्रेंस परीक्षा पास करके गवर्नमेन्ट कॉलेज अजमेर में कुछ दिन तक एफ० ए० क्लास में शिक्षा ग्रहण की। मेओ कॉलेज और गवर्नमेन्ट कॉलेज के प्रिन्सिपल इनकी सच्चिरित्रता, परिश्रमशीलता और विद्याभिरुचि के कारण इनसे बहुत प्रसन्न रहते थे। विद्यार्थी जीवन में ये मेओ कॉलेज के हेड ब्वॉय अर्थात् सर्व प्रथम छात्र नियत किये गये थे। पढ़ाई तथा खेल के इनको कितने ही पदक प्राप्त हुये थे। आरम्भ में कुछ अर्से तक गढ़ कमेटी का काम करने पर इनको असिस्टेन्ट सुपरिन्टेन्डेन्ट माल नियत किया गया। उस समय पुलिस की व्यवस्था अच्छी नहीं थी। अत: सम्वत् १९५१ में इनको माल विभाग से गिराही (पुलिस) महक्मे का अफसर बनाया गया। गिराही अफसर की हैसियत से कुँवर ओंकार सिंह ने पुलिस विभाग को सुव्यवस्थित किया। कुछ अर्से बाद शहर पुलिस तथा इलाका पुलिस को मिला कर कुँवर ओंकारसिंह को जनरल सुपरिन्टेन्डेन्ट नियत किया गया। इस पद पर इन्होंने सन् १९२१ तक काम किया। इनके अच्छे काम के उपलक्ष में कोटा राज्य की सिफारिश पर भारत सम्राट ने इनको सी०आई०ई० की उपाधि प्रदान की। भूतपूर्व सेनाध्यक्ष मुन्शी भैंरूलाल की जब पेन्शन हो गई तो आप ओंकारसिंह सेना विभाग के अध्यक्ष बनाये गये और मेजर जनरल का इनको पद दिया गया। इस विभाग को इन्होंने आधुनिक रूप से व्यवस्थित और संगठित किया। सम्वत् १९८० में अधिक रोगी होकर जब चौबे सर रघुनाथदास इटावा गये तब दीवान के स्थान का काम करने के लिए आप ओंकारसिंह और पं. विश्वम्भरनाथ दोनों महक्मा खास के मेम्बर नियत हुये। इस प्रकार दीवान की जगह दो मेम्बर महक्मा खास काम करने लगे। सम्वत् १९९२ के ज्येष्ठ मास में पं. विश्वम्भरनाथ ने अस्वस्थता के कारण अपने पद को त्याग दिया। तदुपरान्त लगभग एक वर्ष तक आप ओंकारसिंह ने सुचारू रूप से राज्य प्रबन्ध का संचालन किया। इस अर्से में भी ये मेम्बर महक्मा खास ही कहलाते रहे। **—'कोटा राज्य का इतिहास से'**

हाड़ौती का ऐतिहासिक महत्व

हाड़ा वंश के चौहानों की परम्परागत मातृभूमि हाड़ौती इतिहास, पुरातत्व एवं विकास की दृष्टि से राजस्थान एवं भारत के इतिहास में विशिष्ट स्थान रखती है। तराइन के द्वितीय युद्ध में अजमेर और दिल्ली के तत्कालीन शासक पृथ्वीराज III जब मोहम्मद ग़ौरी के द्वारा 1192 ईसवीं में पराजित हो गया तो उसके वंशजों एवं स्वजाति बन्धुओं को अजमेर छोड़ना पड़ा। उस समय चौहानों की एक शाखा ने रणथम्भौर पर अधिकार करके अपना वहाँ स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया और दूसरी शाखा दक्षिणी पूर्वी राजस्थान में स्थित नाडौल चली गई। रणथम्भौर के चौहान वंशी शासक राव मुरजन को मुग़ल सम्राट अकबर ने 1569 ईसवीं में पराजित किया। उसने अकबर के साथ संधि करके मुग़लों का अधिपत्य स्वीकार कर लिया। उसने पंचहज़ारी मुग़ल मनसबदार के रूप में अन्तिम समय तक मुग़ल साम्राज्य की सेवा की। नाडौल के चौहानों को मोहम्मद ग़ौरी के सिपहसालार कुतुबद्दीन ऐबक और उसके पश्चात् दिल्ली के तुर्क अफ़गान सुल्तानों की आक्रमणकारी सेनाओं का सामना करना पड़ा। जालौर के अन्तिम कीर्तिवान शासक कान्हड़देव को अलाउद्दीन खिलजी ने पराजित किया था। सम्भवत: उसी समय नाडौल शाखा के चौहानों के वंशज माणिकराम ने मेवाड़ के दक्षिण पूर्व भाग में बम्बावदा में अपना राज्य स्थापित किया होगा। माणिकराम की छठी पीढ़ी में हाडादेव उर्फ़ हटराज हुआ जिसे शब्द संसार के अध्यक्ष, श्रीकृष्ण शर्मा ने बूँदी में हाड़ावंशी राज्य का संस्थापक माना है। वंश भास्कर के अनुसार (द्वितीय भाग, पृ. 1626-27) देवसिंह हाड़ा ने 1241 ईसवीं में बूँदी पर अपना अधिकार कर लिया था। मेरी अपनी मान्यता है कि हाड़ा देव ने बम्बावदा छोड़कर वर्तमान देवली और बूँदी के मार्ग पर स्थित देवा का खेड़ा नामक स्थान पर अपना डेरा डाला होगा। तदुपरान्त हिंडौली पर अधिकार करने के बाद ही बूँदी पर उसका अधिकार स्थापित हुआ होगा। यह सब कार्य 49 वर्ष की अल्प अवधि में सम्पन्न हुआ सम्भव प्रतीत नहीं होता। 1192 ईसवी के पश्चात् नाडौल के चौहानों के पूर्वज अजमेर छोड़कर चल गए थे। 1203 ईसवीं में कुतुबुद्दीन ने खदेड़ा था। लेकिन भीनमाल, नाडौल और जालौर में चौहान 1311 ईसवीं तक स्वतन्त्र बने रहे थे। उन्हें अलाउद्दीन खिलजी की आक्रमक नीति के सम्मुख नत मस्तक होना पड़ा था। उसके बाद ही नाडौल से माणिकराम का बम्बावदा जाना सम्भव प्रतीत होता है। हाड़ादेव उसकी छठी पीढ़ी में था। 2 जनवरी, 1316 के दिन अलाउद्दीन खिलजी इस असार संसार से विदा हुआ। उसके बाद दिल्ली सल्तनत में अव्यवस्था एवं अराजकता फैल गई थी। जब सुल्तान मुहम्मदबिन तुग़लक (1325-1350) अपनी आकांक्षावादी योजनाओं तथा उनमें उत्पन्न प्रतिक्रियाओं में उलझा हुआ था इसी समय बूँदी में हाड़ा राज्य की स्थापना की सम्भावना ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक मुक्ति संगत प्रतीत होती है। अतएव बूँदी में हाड़ा राज्य की स्थापना का समय 1341 ईसवीं के आसपास होना चाहिए।

इतिहासकारों के अनुसार हाड़ादेव ने मीना को पराजित करके बूँदी पर अधिकार किया था। महाकवि सूर्यमल्ल मिश्रण ने वंश भास्कर की रचना करते समय ऐतिहासिक तिथिक्रम पर विशेष ध्यान

नहीं दिया। देवीसिंह हाड़ा ने दिल्ली के सुल्तान नासिरउद्दीन महमूद की सेना को भी लाखेरी के पास पराजित किया था वंश भास्कर के पृष्ठ 1637 पर देवीसिंह हाड़ा की मृत्यु की तिथि वैशाल शुक्ला 9 सम्वत् साख 1300 (ईसवीं सन् 1343) लिखी है। नासिरउद्दीन महमूद का सिंहासन रोहण 1245 ई. में हुआ था। सम्भवत: हाड़ा व देव ने नासिरउद्दीन खुसर व शाह की सेना को 1320 में पहले पराजित किया होगा। नासिरउद्दीन खुसर व शाह ने अलाउद्दीन खिलजी के पुत्र और उत्तराधिकारी को मौत के घाट उतार कर दिल्ली के राजसिंहासन पर अपना अधिकार कर लिया था। नासिरउद्दीन महमूद का नायब-ए-मुमालिक गयासुद्दीन बलवन एक शक्तिशाली वज़ीर था जिसके नेतृत्व में भारत में मुस्लिम राज्य सुदृढ़ हुआ एवं सीमाओं का विस्तार भी हुआ। जबकि नासिरउद्दीन खुसर व शाह एवं गयासुद्दीन तुग़लक के काल में सल्तनत की सीमाओं का राजस्थान में कोई विस्तार नहीं हुआ था। अतएव बूँदी में हाड़ा राज्य की स्थापना का समय 1341 ईसवीं के आसपास होना चाहिए। अलाउद्दीन खिलजी के द्वारा हम्मीर को 1301 ईसवी में पराजित किया गया था और उसके पश्चात् रणथम्भौर के चौहानों और रणथम्भौर के आसपास के चौहानों की उपशाखाओं का संहार हुआ होगा। अलाउद्दीन खिलजी ने ही गागरोन की विजय करके खींची चौहानों का अन्त किया था। पलायथा में स्थित खींची चौहानों को हाड़ा देव के पौत्र नापूजी ने पराजित किया था। इसका तात्पर्य यह है कि तेरहवीं शताब्दी के अन्त तक रणथम्भौर से गागरोन के बीच चौहान शक्तिशाली थे। लेकिन रणथम्भौर और गागरोन के पतन के पश्चात् बूँदी और कोटा पर मीनों का अधिकार हो गया होगा। इसलिए देवीसिंह की बूँदी में मीनों का और उसके पुत्र समरसी की कोटा में कोटिया मील का सामना करना पड़ा था। लेकिन बूँदी और कोटा पर मीनों का अधिकार और उसके आसपास चौहानों का अधिकार विषय पर गूढ़ ऐतिहासिक अनुसन्धान की आवश्यकता है। स्वर्गीय जगदीशसिंह गहलोत ने राजपूताने के इतिहास की द्वितीय जिल्द में बूँदी का इतिहास लिखा है। बूँदी के किसी महाराव के शासन काल में भी बूँदी का इतिहास लिखा गया था जो अप्रकाशित और अप्राप्य होने के कारण ऐतिहासिक गुत्थियों को सुलझाने में सहायक नहीं हो सकता। भौगोलिक परिस्थितियों को ध्यान में लिखकर यदि बूँदी का इतिहास लिखा जाता है तो हम आदिवासी मीनाओं के उत्थान एवं पतन के विषय में नई जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। मीनों के हाथ से बूँदी और कोटा निकल गया। उसके पश्चात् उनका क्या हुआ। वर्तमान समय के सन्दर्भ में इसकी जानकारी होना आवश्यक है क्योंकि चौदहवीं शताब्दी के शासक पाँच शताब्दियों में पिछड़ी जाति के किन परिस्थितियों में बने।

कोटा बूँदी में हाड़ा राज्य की स्थापना का वर्तमान समय में केवल इतना ही ऐतिहासिक महत्व माना जा सकता है कि हाड़ाओं ने अलाउद्दीन खिलजी की विजयों को निरस्त करके एक बार फिर से हिन्दू राज्य की पुन:स्थापना की जो उस काल का सर्वोच्च राजनीतिक आदेश माना जाता था। दूसरा महत्व यह माना जा सकता है कि पाँच सौ वर्ष के अनवरत शासन काल में बूँदी और कोटा के हाड़ा शासकों ने हाड़ौती प्रदेश की विकास और व्यवस्था के लिए निरन्तर प्रयास किया। तीसरा इनके नेतृत्व में सेनाएँ भारत की भौगोलिक सीमाओं के पार मध्य एशिया के मैदानों को मुग़ल सम्राट शाहजहाँ ने एक स्वतन्त्र शासक के रूप में कोटा की वतन जागीर 1631 ईसवीं में प्रदान की थी। 1637 में माधोसिंह के नेतृत्व में जो 1500 सवारों की सेना कन्धार के अभियान में भाग लेने के लिए दिल्ली गई थी उसमें हाड़ाओं के अतिरिक्त

हाड़ौती क्षेत्र के और भी बहुत से व्यक्ति होंगे जिनका समकालीन इतिहासकारों ने कहीं उल्लेख नहीं किया है क्योंकि उस काल में इतिहास केवल राजा-रानियों की कहानी मात्र होता था। लेकिन मुग़ल दरबार में महाराजाधिराज माधोसिंह की जो प्रतिष्ठा बढ़ी और जिसका उल्लेख समकालीन इतिहासकारों अब्दुल हमीद लाहौरी ने बादशाहनामा में इन शब्दों में किया है।''माधोसिह बल्द रावरतन व खिल्लत व अस्पा जनि नुकरा व नक्कारा रूखसत नमूदन्दै'' (बादशाहनामा जिल्द 11, पृष्ठ 37) कन्धार अभियान लगभग ढाई वर्ष तक चला और उसके बाद 1641 में शाहजहाँ ने माधोसिंह के मनसब में 500 जात 500 सवार की वृद्धि की। कांगड़ा अभियान में भी माधोसिंह को शाहज़ादा मुराद के साथ भेजा गया था और उसकी समाप्ति के पश्चात् भी उसके मनसब में 500 की वृद्धि की गई थी। इसी प्रकार मध्य एशिया अभियान के समय जब मुग़ल सेनाएँ काबुल को पार करके आगे बढ़ा तो उस समय राजपूतों की रावीराजा शत्रुमाल, राजा विट्ठलदास व माधोसिंह हाड़ा को आगे करके उनके पीछे चली। इसका उल्लेख समकालीन इतिहासकार अब्दुल हमीद लाहौरी उसकी तनारीख बादशाहनामा की द्वितीय जिल्द के पृष्ठ 484-85 पर इन शब्दों में करता है ''करार वायत के हंगाम अरावरा सकूफ मुवाखित उलमीर उल अमरा दर यमीन व नजावतखाँ दर इस्माल व फौजें हरावत व चहार मद व फताद कस अज उमरा व मनसबदारान कि अजवा जुमला उक्त बहादुरखाँ राजा विट्ठलदास व राव सतरसाल हाड़ा व माधोसिंह इन्तजाम वाफत। बलखकी विजय के बाद शाहजादा मुराद के स्थान पर शाही सेना की कमान शाहजादा औरंगजेब को सौंपी गई थी। उस वक्त बलख के दुर्ग की सुरक्षा का उत्तरदायित्व माधोसिंह को सौंपा गया था। अब्दुल हमीद लाहौरी के शब्दों में माधोसिंह बल्द रावरतन हाड़ा रा बमुहारसत किला व शमशीरखाँ तरीन रा वाजमय अज मनसबदारान व अहदियान व तुफंगचिबान सवार व यादे निगाहबानी शहर, गुजाशतन्द (बादशाहनामा, जिल्द 2 पृ. 687) मध्य एशिया से लौटने के कुछ समय पश्चात् 1648 ईसवी में माधोसिंह का देहान्त हो गया। मृत्यु के समय वह 4500 जात 2500 सवार का मुग़ल मनसबदार था। शाही मनसबदार के रूप में माधोसिंह ने दक्षिण भारत मध्य एशिया और कांगड़ा युद्धों में भाग लिया था। मनसब में उत्तरोत्तर वृद्धि होने के साथ-साथ लगभग 2000 गाँव उनके राज्य में आ गए थे।

वर्तमान कोटा राज्य का अधिकांश उपजाऊँ और बसा हुआ भाग माधोसिंह जी का प्राप्त किया हुआ है। माधोसिंह के वंशजों के काल में राज्य की सीमाओं में विस्तार एवं कटौती दोनों ही हुई थी। 1948 में जब कोटा का सात राज्यों के संघ में विलीनीकरण हुआ था और जिस समय से राजप्रमुख महाराव भीमसिंह जी बने थे उस समय कोटा राज्य में 19 निज़ामतें वह तीन जिले (कोटा, बारां, अकलेरा) थे। कोटा राज्य की वार्षिक आय, सीमा क्षेत्रफल एवं प्रशासनीय प्रशासनिक व्यवस्था के आधार पर कोटा के महाराज को 17 तोपों की सलामी का अधिकार प्राप्त था। कोटा का किला एवं शहर पनाह के तीन दरवाज़े (केथुनीपोल, पाटनपोल व भीलवाड़ीपोल जो बाद में किशोरपुरा दरवाज़े के नाम से विख्यात हुआ) राव माधोसिंह के शासन काल में ही बनवाए गए थे।

मुग़ल सम्राट शाहजहाँ के चारों पुत्रों के बीच उत्तराधिकार के लिए लड़े गए धरमल एवं सम्राट के युद्धों में क्रमश: कोटा के शासक मुकुनसिंह एवं बूँदी के शासक शत्रुसाल को वीरगति प्राप्त हुई थी। कुनुसिंह के साथ उसके तीन भाई एवं 500 सवार धरमल के युद्ध में खेत रहे थे। आल्मगीर नामा और

अमल-ए-सतेह में मुकुनसिंह के शौर्य की प्रशंसा की गई है। राजस्थान एवं मालवा की सीमा को भौगोलिक रूप से निर्धारित करने वाली पर्वत माला को सुरक्षा पंक्ति का रूप देकर मुकुनसिंह ने मुकन्दरा घाटी के साथ इतिहास में अमर नाम अर्जित किया था। अपनी प्रेयसी अमला मीनी के लिए मुकन्दरा पहाड़ की घाटी में एक साधारण महल बनवाकर कोटाधिपति में इतिहास में स्थाई ख्याति प्राप्त की। कोटा की प्रशासनिक व्यवस्था को सर्वप्रथम प्रशासनिक व्यवस्था को उनके उत्तराधिकारी जगतसिंह ने परिष्कृत किया था। लेकिन मुकुनसिंह ने ही व्यवस्थित किया था। कोटा राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था में निखार स्वर्गवासी महारावउम्मेद सिंह जी के प्रशासन की प्रशंसा की थी।

मुकुनसिंह की तीसरी पीढ़ी में रामसिंह कोटा की गद्दी पर बैठे। इनके शासन काल में प्रशासनिक व्यवस्था को निखारने के साथ-साथ रामपुरा की स्थापना की गई थी। रामगंज मण्डी और राबदा इनके द्वारा ही बसाए गए थे। कोटा की शहर पनाह रामसिंह के काल में ही पूरी हुई। शहर पनाह के दो प्रमुख द्वार सूरजपोल एवं रामपुरा दरवाज़ा भी इसी समय बने थे। इनके शासन काल में शान्ति एवं व्यवस्था बनी रही थी। इसलिए यह निर्माण कार्य सम्भव हो सका था। जाजऊ के युद्ध में औरंगज़ेब के पुत्र आज़म की ओर से लड़ते हुए रामसिंह वीरगति को प्राप्त हुए थे। इनके जीवन एवं शासन काल का अधिकांश समय रणक्षेत्र में व्यतीत हुआ था जिससे हाड़ौती के वीर सपूतों की ख्याति देश-विदेश में फैली।

रामसिंह की मृत्यु के पश्चात् कोटा और बूँदी के बीच पारस्परिक मेलजोल प्रारम्भ हुआ था जो लगभग दो शताब्दियों एक किसी न किसी रूप में बना रहा। औरंग़जेब के पुत्र और उत्तराधिकार बहादुरशाह ने कोटा का राज्य बूँदी के रावराज बुध्दसिंह हाड़ा को प्रदान कर दिया था। रामसिंह के उत्तराधिकारी भीमसिंह और बुद्धसिंह हाड़ा के बीच तीन युद्ध हुए। 1713 ईसवी में भीमसिंह ने बूँदी पर अपना अधिकार भी स्थापित कर लिया था। इस कलह में सवाई जयसिंह ने पक्षपातपूर्ण भूमिका निभाकर बारां और मऊ के परगने भी बुध्दसिंह को दिलवा दिए। लेकिन भीमसिंह ने सेय्यद भाइयों के गुट में शामिल होने के बाद कोटा की सीमाओं का विस्तार किया लगभग 3400 गाँव अनेक कस्बे और क़िले उनके अधिकार में थे। डॉ. मथुरालाल शर्मा के अनुसार भीमसिंह जी के शासनकाल में कोटा राज्य जितना विस्तृत हो गया था उतना न पहले कभी हुआ था। और उस समय उपजाऊ भूमि, समुद्र, नगर और सुदृढ़ दुर्गोंकी दृष्टि से कोटा राज्य राजपूताने में सबसे बड़ा था और क्षेत्रफल भी इसका जोधपुर या उदयपुर के बराबर था। इन विजयों में शाहाबाद और मनोहरथाना की विजय शामिल है। भीमगढ़ का किला, कृष्ण महल, सलहखाने का महल भीमविलास इत्यादि इनके समय में ही बनाए गए थे। सैयद भाइयों की कृपा से ही भीमसिंह की उसकी सैनिक उपलब्धियों के उपहारस्वरूप माही परातीन प्रदान किया गया था।

भीमसिंह के पश्चात् अर्जनसिंह के उत्तराधिकारी दुर्जन साल के शासन काल में कोटा के मुग़लों के साथ राजनीतिक सम्बन्धों का अन्त हो गया था। खान-ए-दौरा के नेतृत्व में जो मुगल सेना मराठों का दमन करने भेजी थी वह रास्ता कोटा गई थी। लेकिन दुर्जन साल स्वयं सेना के साथ नहीं गए। उसने केवल अपनी सेना को खान-ए-दौरा के अधीन लड़ने के लिए भेजा था। मुग़लों के स्थान पर खान-ए-दौरा के अधीन लड़ने के लिए भेजा था मुग़लों के स्थान पर मराठों के साथ कोटा के राजनीतिक सम्बन्ध 1735 ईसवीं में कायम हो गये

थे। पेशवा बाजीराव प्रथम ने नाहरगढ़ का किला एक पुविराम क़िलेदार से होनहार महाराव दुर्जनलाल को दिया था। दुर्जनसाल की महारानी सीसौदनी के तालाब के बीच में जलमन्दिर का निर्माण करवाया था। उनके शासन काल में ही 1744 ईसवीं में मथुराधीश मन्दिर में मथुरानाथ की मूर्ति प्रतिस्थापित की गई थी।

दुर्जनसाल के उत्तराधिकारियों के लगभग अस्सी वर्ष तक मराठों के साथ सम्बन्ध रहे। जालमसिंह झाला ने 1804 ईसवीं में अँग्रेज़ों की सेना की होल्कर के विरुद्ध सहायता की थी। 26 दिसम्बर, 1817 के दिन कोटा की अँग्रेजों के साथ संधि हुई मार्च, 1813 में संधि थी। 11 शर्तों में जो शर्तें और जोड़ दी गई जिसके परिणामस्वरूप मटवाड़े के युद्ध का विजेता ज़ालिमसिंह झाला और उसके वंशज कोटा के दीवान स्वीकार किए गए। ज़ालिमसिंह ने ही अमीर खाँ पिन्डारी को शेरगढ़ का किला उसके परिवार के निवास के लिए दिया था कोटा की सुरक्षा के लिए ज़ालिमसिंह ने गागरोन, शेरगढ़, नाहरगढ़, स्बाकाध्ना, केलवाड़ा के किलों की मरम्मत करवा कर उनमें फौजें रखी। वह कोटा का प्रशासन एवं संरक्षक था। सन् 1891 में उम्मेदसिंह की मृत्यु के पश्चात् उनके ज्येष्ठ पुत्र किशोरसिंह को कोटा राजसिंहासन पर आसीन किया। ज़ालिमसिंह की नीति एवं उसके कार्य विवादस्पद हो सकते हैं।

शाहाबाद को जीतकर तथा मेवाड़ के कई फ़रगनों पर अधिकार करके ज़ालिमसिंह ने कोटा राज्य के वैभव में वृद्धि की है। ज़ालिमसिंह अठाहरवीं शताब्दी के भारत का प्रमुख व्यक्ति था। उसने किशोरसिंह को खड़ाऊ की राजगद्दी पर रखकर कोटा के वास्तविक शासक के रूप में शासन किया। अँग्रेज़ी ईस्ट इंडिया कम्पनी का उसे समर्थन प्राप्त था। इसीलिए उसके पौत्र मदनसिंह झाला को पृथक राज्य देने के लिए कोटा के तत्कालीन पोलिटिक्ल एजेण्ट लैडली ने गर्वनर जनरल को सिफारिशी पत्र लिखा था। परिणामस्वरूप पन्द्रह लाख रुपये वार्षिक आय का पृथक् राज्य 1837 में मदनसिंह झाला को दिया गया जिसमें उस समय चेचट, सुदैत, अवर, डग, गंगराड़, झालरापाटन, रीछवा, बलनी, बहलनपुर, कोटड़ा, भलता, सरडा, रटलाई, मनोहरथाना, फूल बड़ौदा, चाचोरनी, गंजारी, छीपाबड़ौद और शाहाबाद के परगने थे। इस प्रकार हाड़ौती क्षेत्र का तीसरा प्रमुख जिला झालावाड़ 1837 में कायम हो गया।

1857 के महान विप्लव के समय कोटा की फौज बागी हो गई। उस समय डॉक्टर सैडलर और मि. सैबील को मार डाला गया। पोलिटिकल एजेण्ट मेजर बर्टम का उसके दोनों पुत्रों सहित वध कर दिया गया। विद्रोहियों का नेतृत्व लाला उसका भाई हरदाय और मेहराबरखाँ पठान कर रहे थे। यह दोनों कोटा में अपना शासन स्थापित करना चाहते थे। इन लोगों ने गढ़ पर हमला किया नगर को लूटा। करौली से सेना बुलवाई गई। आठ सौ विद्रोही मारे गये। इसी बीच अँग्रेज़ी सेना भी कोटा पहुँची। अँग्रज़ी सेना तोपखाना की शक्ति के आधार पर कोटा में शान्ति स्थापित की। महाराव रामसिंह ढंड्ढु को विद्रोहियों के चंगुल से मुक्त कराया। मेहराब खाँ और जयदयाल को एक नीम के वृक्ष पर लटकाकर फाँसी दी गई। महाराव रामसिंह ढंड्ढु के पुत्र और उत्तराधिकारी महाराव शत्रुशाल के शासनकाल में नवाब फौज अली खाँ के प्रयासों में प्रशासनिक व्यवस्था का पुनर्गठन किया गया था। अतएव उनके दत्तक पुत्र महाराव उम्मेद सिंह II के शासनकाल में कोटा हाड़ौती क्षेत्र का प्रमुख प्रख्यात राज्य बन गया। इन्हीं के समय में पन्द्रह परगने झालावाड़ से वापस लेकर 1 जनवरी, 1899 के दिन कोटा में मिलाए गए। उम्मेदसिंह जी के प्रयत्नों से

ही कोटा की बूँदी, झालावाड़ एवं जयपुर के साथ वंश परम्परागत द्वेष समाप्त हुआ। उनके शासनकाल में ही हिन्दी को राजभाषा बनाया गया था। सहकारी बैंक स्थापित किया गया। प्रजाहित एवं समाज सुधार के अनेक कार्य किए गए। सार्वजनिक पुस्तकालय एवं नगरपालिका की स्थापना की गई। उसी समय नागरिकों के सहयोग से भारतेन्दु समिति की स्थापना की गई थी। तत्कालीन अँग्रेज़ पदाधिकारियों, मार्टिनडैल एवं बनैरमैन ने भी उम्मेदसिंह के काल की प्रबुद्ध प्रशासनिक व्यवस्था की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। इस प्रकार लगभग 340 वर्ष के इतिहास में कोटा और बूँदी के शासकों तथा उनके साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर नागरिकों ने हाड़ौती क्षेत्र की उन्नति एवं विकास के क्रम को बनाए रखा था।

हाड़ौती क्षेत्र में प्रजान्मुखों की स्थापना वर्तमान सदी के चतुर्थ दशक में की गई। इस क्षेत्र से प्रकाशित होने वाले समाचार पत्रों के माध्यम से जागृति एवं स्वतन्त्रता की भावना को प्रसारित किया जाता था। 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन के समय शहर कोतवाली पर कब्जा करके कोटा के क्रान्तिकारी नवयुवकों ने एक कीर्तिमान स्थापित किया था। उस समय के नवयुवक आज भी हमारे मध्य बुजुर्गों के रूप में विद्यमान हैं। वे युवा पीढ़ी के लिए प्रेरणा के स्त्रोत्र हैं। इतिहास के पन्नों में बारहट केसरीसिंह, पंडित अभिन्न हरि, बूँदी के अमर शहीद ...., श्री नाथुलाल जैन ''वीर' इत्यादि के नाम विस्मृत नहीं किए जा सकते।

पौराणिक एवं प्राचीन काल के अनेक भवन एवं खंडहर आज भी हाड़ौती की भूमि में अपने अतीत को गौरव गाथा का स्मरण कराने के लिए विद्यमान हैं। यह मौखिरि के चार ग्रुप अन्ता तहसील के बड़वा नामक ग्राम के पास पाये गए हैं जो तीसरी शताब्दी के हैं। चार बौमा का शिवमन्दिर गुप्तकालीन है। भीमगढ़ में जो देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ हैं वे भी दसवीं शताब्दी की हैं। शेरगढ़ भी सातवीं शताब्दी का पुराना नगर है जो नागवंशी एवं पँवार राजाओं के अधिकार में रहा शेरगढ़ से ही तीन खण्डित जैन प्रतिमाएँ मिली हैं। वर्तमान अटरू का भी पुरातत्व की दृष्टि से महत्व कम नहीं है। वहाँ स्थित गणेशगंज से प्राचीन प्रतिमाओं का संग्रह मिला है। वहीं से गड़गद के भूशक्ति मन्दिर मिले हैं विशाल वराह की प्रतिमाएँ अटरू एवं कृष्ण विलास से मिली हैं। इस प्रकार की विशाल और सुन्दर वराह प्रतिमा भारतवर्ष में अन्यत्र शायद कहीं नहीं हैं।

विलास गाँव से दसवीं शताब्दी की सुन्दर एवं उच्चकोटि की प्रतिमाएँ मिली हैं। बनसुवाँ का शिव मन्दिर आठवीं शताब्दी का है। रणथम्भौर के चौहान शासक जनसिंह एवं हम्मीर की प्रशांत हाड़ौती क्षेत्र में स्थित बलवन नामक स्थान से प्राप्त हुई हैं। मध्यकाल में हाड़ौती क्षेत्र में जो गढ़, गढ़ियों, तालाब, बावड़ियाँ, उद्यान एवं कुएँ बनवाए गए थे उनकी आज के युग में उपयोगिता समाप्त हो सकती है लेकिन इतिहास एवं पुरातत्व के जिज्ञासुओं के लिए इनका महत्व कम नहीं हो सकता है। यदि मिश्र को नील नदी का वरदान कहा जाता है तो हाड़ौती के हृदय कोटा को चम्बल वरदान मानना होगा। मध्यकाल में चम्बल की उपयोगिता उतनी अधिक नहीं थी जितनी राजस्थान बनने के बाद हो गई है भूतपूर्व महाराव भीमसिंह जी के साथ कोटा राज्य के तत्कालीन इंजिनीयर श्री अय्या चम्बल में नौका विहार कर रहे थे। उस समय उन्होंने चम्बल जल को बाँध बनाकर उपयोगी बनाने का विचार दिया था। लेकिन सीमित साधनों एवं तत्कालीन देशी राज्यों की सीमा सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण अय्या साहब का विचार राजस्थान का निर्माण होने तक क्रियान्वित नहीं हो सका। आज

कोटा राजस्थान का प्रमुख औद्योगिक नगर है। यहाँ स्थित उद्योग कोटा की ऐतिहासिक ख्याति को चार चाँद लगा रहे हैं।

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मध्यकाल में जल शौर्य का युग था उस समय हाड़ौती के वीर सपूतों ने अपनी वीरता का दुख विदेश में परिचय देकर हाड़ौती की कीर्ति को बढ़ाया उन्नीसवीं एवं बीसवीं शताब्दी के कूटनीति, देशभक्ति एवं त्याग के उदाहरण प्रस्तुत करके हाड़ौती की ख्याति को चार चाँद लगाए वर्तमान समय में जब देश के आर्थिक विकास की परम आवश्यकता है तो हाड़ौती उसमें अपना पूरा योगदान दे रहा है। आदिवासियों की भूमि समाज के इस तथाकथित पिछड़े वर्ग को युगों-युगों से आश्रयदात्रि मातृभूमि रही है। ❑

प्रज्ञा पुरुष और सच्चे कर्मयोगी

जब मैंने सन् 1951 में महाराजा कॉलेज, जयपुर में प्रवेश लिया तब कॉलेज के प्राचार्य के रूप में श्रद्धेय डॉ. मथुरालालजी शर्मा के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। दुग्धधवल भारतीय वेशभूषा में उनका भव्य और तेजस्वी व्यक्तित्व देखते ही प्रभावित करता था। हिन्दी, अँग्रेज़ी और संस्कृत के अपने धारावाहिक भाषणों से वे श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर देते थे। लगता था कि उनके भीतर ज्ञान का अथाह सागर लहरा रहा है। ज्ञान और समाज के लिए समर्पित उनका समग्र जीवन एक सच्चे कर्मयोगी का आदर्श प्रस्तुत करता है। गुण और परिणाम की दृष्टि से जो प्रचुर शोधकार्य उन्होंने करवाया है, वह उनके विलक्षण ज्ञान और अद्‌भुत कार्यक्षमता का परिचायक है। एक-एक क्षण का सावधानी से उपयोग करते हुए सार्थक जीवन कैसे जिया जा सकता है, वे इसकी जीती-जागती मिसाल थे।

— राधेश्याम शर्मा

अध्यक्ष, राजस्थान साहित्य अकादमी

प्रणाम हज़ार-हज़ार

—रामनाथ 'कमलाकर'

कोटा की प्रतिभा के सूरज, हाड़ौती की शान।
गर्व करे क्यों नहीं आप पर, पूरा राजस्थान॥

पंडित वेद शास्त्र के थे तुम, इतिहासज्ञ महान्।
हिन्दी, उर्दू, आंग्ल, संस्कृत के अद्भुत् विद्वान्॥

तुम वक्तृत्व-कला के कोविद थे, साहित्य शिखर।
कविता के मर्मज्ञ, छंद के रचनाकार प्रवर॥

शासक होकर भी, स्वतंत्रता-सेनानी-पोषक।
तुम देवता-समान पुरुष थे, संस्कृति उद्बोधक॥

अति सामान्य स्थिति से, तुमने किया आत्मनिर्माण।
ऊँचे से ऊँचे पद को भी, गौरव किया प्रदान॥

स्मृति-शेष आदर्श आर्य तुम, मानवता उन्नायक।
ब्रह्मलीन तुम, लेकिन अब भी हो सन्मार्ग-प्रदर्शक॥

यादें मधुर संजोकर तुमको बंदन बारम्बार।
कवि 'कमलाकर' के प्रणाम हैं, तुम्हें हज़ार-हज़ार॥

'अनुग्रह', डी 114-बी, शिवाड़ एरिया
बापूनगर, जयपुर- 302015

शत् शत् प्रणाम

—शिवदत्त शर्मा

ओजस्वी वक्ता सदैव जो,
स्नेह सुमन बरसाता।
राजथली के सुधीजनों से,
जिसका अनुपम नाता॥
ज्ञानोदधि को जिसने मथकर,
माखन मधुर निकाला।
अपने कर से शिष्यजनों को,
स्नेह सिक्त कर डाला॥
शोध शोध कर ग्रंथ जिन्होंने,
जयपुर का इतिहास लिखाया।
गोपनीय जो घटनाएँ थीं,
जनमानस में सुलभ बनाया॥
खोज खोजकर पोथी जूनी,
कोटा का इतिहास रचा था।
उनकी तीक्ष्ण दीठि से कोई,
लेख खरीता नहीं बचा था॥
वे पावन थे तीर्थ पुण्यमय,
सभी आप्त, मनुजों के।
वे थे मंजुल कलश मनोहर,
प्यासे, तृषित मनों के॥
प्यार बाँट कर सब स्वजनों को,
जाने कहाँ विलीन हो गये।
अपना सभी पराग लुटाकर,
पंचतत्व में लीन हो गये॥
जब तक राजस्थान रहेगा,
अमर रहेगा तेरा नाम।
तेजपुंज हे महातपस्वी,
तुझको शत् शत् नम्र प्रणाम॥

पुनश्चः

वैज्ञानिक इतिहास संचेतना के संरक्षक

— श्रीकृष्ण शर्मा

प्रबुद्ध लोग और राजन्य वर्ग डॉ. मथुरालाल शर्मा को सम्भवत: उनकी ऐतिहासिक कृति 'जयपुर राज्य का इतिहास' और 'कोटा राज्य का इतिहास' के कारण जानते हैं। वस्तुत: इन दोनों कृतियों के अध्ययन मनन, चिन्तन और अवगाहन से ज्ञात होगा कि ये कृतियाँ हमारी सांस्कृतिक चेतना की मीमांसा। मनोसांस्कृतिक अनुशीलन का ही एक हिस्सा हैं और डॉ. मथुरालाल जी यावज्जीवन के अन्तिम क्षणों तक ऐतिहासिक खोज, अनुसंधान, अध्ययन, अध्यापन और अन्वेषण में लगे रहे। उनका सृजन वैज्ञानिक इतिहास के यज्ञ का ही एक उपयोगी हिस्सा है, जिसने इतिहास जगत में उनकी ख्याति का मार्ग प्रशस्त किया। जबकि उच्च शिक्षार्थी सम्भवत: उन्हें उनकी 'प्राचीन भारत', 'मुग़ल साम्राज्य का उदय और वैभव', 'पेशवाओं का इतिहास' अथवा 'मराठों के इतिहास' के कारण पहचानते हैं, पर चूँकि विषय की दृष्टि से वे आधुनिक राजस्थान के सन्दर्भ में इतिहास पुरोधा, इतिहास मर्मज्ञ, इतिहास पुरुषों ने भी उन्हें उनके जीवनकाल में प्रात:स्मरणीय और अब सांध्य विस्मरणीय मान लिया है। डॉ. मथुरालाल जी के साथ वे न्याय नहीं कर पा रहे हैं। जैसे विजयादशमी पर रावण वध, राम विजय, महिषासुर संहार, दुर्गापूजा को औत्सविक आभा प्रदान करते हैं वैसे ही डॉ. शर्मा प्राचार्य, महाविद्यालयीय शिक्षा के निदेशक, राजस्थान विश्वविद्यालय के कुलपति, जयपुर नगर परिषद् के अध्यक्ष जैसे पदों पर प्रतिष्ठित, विभूषित रहे पर आज हिस्टोरीकल रिसर्च इन्स्टीट्यूट ऑफ राजस्थान मृतप्राय: है, उसका प्रकाशन स्थगित हो गया। उनका व्यक्तिगत पुस्तकालय खुर्द-बुर्द हो गया, एक युग पुरुष के साथ समाज का यह सलूक चिन्ता का विषय अवश्य है। यद्यपि '1870 से 1970 की एक शताब्दी के अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों को तीन भागों में लिखने', '1970 से अद्यतन विश्व तनाव में', 'यूरोप का इतिहास', 'मुग़ल साम्राज्य का उदय और वैभव', 'मुग़ल साम्राज्य का पतन', 'राजस्थान-परिचय', 'भारतीय सभ्यता और संस्कृति के इतिहास' का प्रणयन कर डॉ. शर्मा ने विद्यार्थियों की अनुपम सेवा की है। उनकी इन पुस्तकों का अध्ययन कर अनेक व्यक्ति उच्चाधिकारी बन गए हैं। शासन और प्रशासन के क्षेत्र में उनके शिष्य पीठासीन हैं। साहित्य, संस्कृति के क्षेत्र में उनके विद्यार्थी सारथी हैं और अध्यापन के क्षितिज पर तो अनेक नक्षत्र देदीप्यमान हैं।

मौलिक लेखन के अतिरिक्त डॉ. मथुरालाल शर्मा ने लिप्सन के 'यूरोप के इतिहास'; योगेश्वरानन्द की 'बहिरंग योग', डॉ. कानूनगो के 'शेरशाह', जहीरुद्दीन मुहम्मद बाबर के 'तुज़ुक-ए-बाबरी', अबुल फज़ल के 'अकबरनामा', नूरुद्दीन मुहम्मद जहाँगीर के 'तुज़ुक-ए-जहाँगीरी', जदुनाथ सरकार के 'लेटर मुग़ल्स', इलियट एवं डाउसन की 'इतिहासकारों द्वारा कही गयी कहानियाँ', ताराचन्द के 'आधुनिक भारत का इतिहास' जैसी पुस्तकों का अनुवाद कर न केवल अपनी बहुविषयस्पर्शनी प्रतिभा का परिचय दिया अपितु इतिहास की श्रीवृद्धि एवं समृद्धि में भी अकथनीय, अनिर्वचनीय योगदान किया है।

अध्ययन, अन्वेषण, शोध-खोज को प्रेरित

और प्रोत्साहित करने की दृष्टि से आपने 'दि हिस्ट्रोकल इन्स्टीट्यूट ऑफ़ राजस्थान' की स्थापना की जिसके अन्तर्गत एक त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन होता था किन्तु जैसे उनके देहावसान के बाद संस्थान भी मृतप्राय: हो गया। जन्मशती वर्ष में यदि संस्थान पुनर्जीवित हो सके तो यह उनके लिए सच्ची श्रद्धाञ्जलि होगी।

राजस्थान को केन्द्र मानकर डॉ. शर्मा ने 'राजस्थान में जैनवाद', 'राजस्थान में जैन संवर्द्धित भण्डारे', 'राजस्थान में भित्ति चित्रकला', 'मुग़लों के अधीन राजस्थान', 'राजस्थान में युद्ध और कूटनीति', 'राजस्थान में स्वतन्त्रता आन्दोलन' जैसे विषयों पर शोध करवाया जिस पर क्रमश: के.सी. जैन, के.सी. कासलीवाल, अर्चना कुलश्रेष्ठ, आर.एल. शर्मा, के.एस. राजौरा तथा जे.सी. कुक्कड़ को पी-एच.डी. की उपाधि मिली। आज वे महिमावान और गरिमावान हैं।

ब्रिटिश और राजस्थान के सम्बन्धों को केन्द्र मानकर डॉ. मथुरालाल शर्मा ने 'ब्रिटिश सम्प्रभुता का राजस्थान की आर्थिक स्थिति पर प्रभाव', 'राजस्थान की बड़ी रियासतों के प्रति ब्रिटिश नीति', 'ब्रिटिश और राजस्थान की राजपूत रियासतें', 'उदयपुर और ब्रिटिश', 'उदयपुर और ईस्ट इण्डिया कम्पनी', 'राजस्थान और 1818 में ब्रिटिश' तथा 'ब्रिटिश और राजस्थान के राज्य' विषयों पर अपने निर्देशन में मालती सक्सेना, विजयलक्ष्मी भार्गव, लक्ष्मी भटनागर, देवीलाल पालीवाल, बी.डी. शर्मा तथा बनमाला कोटिया से शोध खोज कार्य सम्पन्न करवाया और जिस पर अनुसंधानकर्त्ताओं को पी-एच.डी. की उपाधि मिली। नि:सन्देह यह एक आवश्यक कार्य था।

डॉ. मथुरालाल शर्मा हिन्दू समाज के उत्थान में बहुत रुचि लेते थे। उन्होंने भारतीय संस्कृति के आदि काव्य महाभारत का अनेक बार अवगाहन किया, प्राचीन भारत में सांविधानिक व्यवस्थाओं के सूत्रों को ढूँढ़ने में उनकी व्यापक रुचि थी। वे कट्टर आर्यसमाजी थे इसलिए उन्होंने कृष्णस्वरूप, आर.जी. शर्मा, आर.एन. वर्मा और शांति भारद्वाज 'राकेश' को प्रेरित व प्रोत्साहित किया कि वे उनकी रुचि के विषयों को लेकर अनुसंधान कार्य करें फलत: 'संस्कृत साहित्य में हिन्दू समाज की स्थिति', 'महाभारत में राजनीतिक विचार और संस्थाएँ', 'प्राचीन भारत में संविधान' तथा 'उत्तरी भारत में आर्यसमाज' जैसे गम्भीर विषयों पर भी शोध कार्य करवाया और उन्हें पी-एच.डी. की उपाधि से अलंकृत होने का सौभाग्य प्रदान किया।

डॉ. शर्मा द्वारा विकसित ऐतिहासिक दृष्टि से गुणवन्त, कलावन्त तथा रसवन्त लोग ही नहीं, अपितु समाज वैज्ञानिकों ने अपने चिन्तन की सारणी में व्यापक फेरबदल किया। देश के कोने-कोने में ही नहीं अपितु विदेशों में भी 'गणपति बाप्पा मोरया', 'गणपति बाप्पा मोरया' की धूमधाम रही। पूरे दिन गजानन, विघ्नविनाशक, विनायक, विघ्नकर्त्रे, लम्बजठराय, ह्रस्वग्रीवा, विश्वनेत्रे, महोदराय, पार्वती प्रियनन्दन, कुन्जरासुरभंजन, मोदकप्रिय, धृतिमते, शिवनन्दन, गौरी पुत्र, वक्रतुण्ड, एकदन्त, लम्बोदर, सर्वसिद्धिकर की लोग माला जपते रहे और मन्दिरों में जन-समुद्र उमड़ पड़ा। चम्मच से दूध पिला-पिलाते लोग दूरदर्शन पर कितने सुहावने लग रहे थे। समाचार पत्रों के मुख पृष्ठ रंगे हुए थे और एस.टी.डी. बूथों पर बस लोग एक ही बात करते रहे किन्तु ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के विज्ञान ने अन्धविश्वास पर हमला किया फलत: घोर आस्थावादी लोगों ने भी माना कि सरफेस टेंशन अथवा केपिलर एक्शन का यह कमाल है और यही कारण है कि मात्र संगमरमर निर्मित गणेशजी ही दुग्धपान करते हुए दृष्टिगोचर हुए। विज्ञान का जन्म अन्धविश्वास पर होता है पर इतिहास ने उसे झुठला दिया क्योंकि दूसरे-तीसरे दिन आते-आते

दुग्धपान का भूत उतर गया और टनों दूध श्रद्धार्पित हो गया और शिव व उनके परिवार को पुरातनपंथियों ने जबरदस्ती दूध पिलाया।

एक और दूसरी घटना को लें- पूर्ण सूर्यग्रहण वाली। इसे हम ऐतिहासिक चिन्तन की ही विजय मानकर चलते हैं कि केतु द्वारा सूर्य को निगल जाने वाली कथा ज्योतिष विज्ञानियों की मोटी-मोटी पोथियों में ही सिमट कर रह गयी। न तो गर्भवती महिलाओं को ही कोई खतरा सिद्ध हुआ, खाने पीने की चीजों पर ग्रहण के समय कोई खास परहेज़ नहीं देखा गया बल्कि सूतक में लोगों ने भोजन किया, शयन किया, प्रातःकालीन चाय पी, स्नान की परम्पराओं की धज्जियाँ उड़ाते हुए ज्ञात इतिहास में यह पहला अवसर था जबकि सूर्यग्रहण को लोगों ने अपने कमरे में बैठे-बैठे ही देखा। इतिहास को झुठलाते हुए सूर्य को अब देवता कम अपितु नाभिकीय विखण्डन से उत्पन्न ऊर्जा का स्रोत मानने लगे हैं। 'मामा' के सम्बोधन से सम्बोधित चन्दा मामा आया, दूध कटोरी लाया' गा गा कर बच्चों को बहलाने की परम्परा भी अब गायब होती जा रही है। चाँद को भी देवता कम एक उपग्रह मानने लगे हैं? क्यों? इसीलिए की इतिहास की वैज्ञानिक जाँच पड़ताल जारी है।

ऐतिहासिक धार्मिक मान्यताओं के कारण एक जाति विशेष में कन्याओं को जबरदस्ती नंगा कर घुमाया गया क्योंकि मान्यता है कि कुँवारी कन्या को जातीय महिलाओं के समक्ष नग्न करने से उनका वैवाहिक जीवन सुखमय होता है पर तदनन्तर वे लोग सामाजिक प्रकोप के भाजन बन रहे हैं।

हरियाणा के एक गाँव में एक महिला की हत्या केवल इसलिए कर दी गयी क्योंकि ग्रामीणों ने उस पर डायन होने का आरोप लगाया।

यद्यपि आज भी मिट्टी की हाँडी पर कालिख पोत कर चूने का लेप लगा कर दरवाजे पर टाँगते हैं!! पर क्यों? यही बात तब हुई थी जब सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक गैलीलियों ने सुप्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तु के भक्तों को यह कहकर चुनौती दी थी कि पृथ्वी के चारों और सूर्य का घूमना एक मिथक है जबकि सच्चाई यह है कि सूर्य के चारों ओर पृथ्वी अपने कक्ष में ही भ्रमण करती है पर गैलीलियों को साम्राज्यवादी और कट्टर धार्मिक तत्वों ने चुप कर दिया। बाद में ऐतिहासिक दृष्टि विकसित हुई जिसके अनुसार अन्ततः लोगों ने गैलीलियों को सही माना। यही दृष्टि सभी अन्धविश्वासों पर लागू हो रही है। इतिहास की यही उपयोगिता है-समाज के लिए।

बारां के समसपुर गाँव में जन्म लेकर कोटा और वाराणसी में अध्ययन के उपरान्त डॉ. शर्मा की कार्यस्थली कोटा और फिर दीर्घकाल तक जयपुर ही रही। हाड़ौती के महान् सपूत होते हुए भी वे जयपुर नगर परिषद् के अध्यक्ष भी रहे। जयपुर राज परिवार से उनके सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध थे यही कारण रहा होगा कि उन्होंने 'जयपुर राज्य का इतिहास' स्वयं ने लिखा और 'सवाई जयसिंह', 'सवाई जयसिंह' और बूँदी तथा 'सवाई जयसिंह और उनका काल' विषय पर अपने मार्गदर्शन में वाई. एस. भटनागर, जे.के. गुप्ता तथा ज्ञानप्रकाश पिलानिया को सफलतापूर्वक पी-एच.डी. कार्य सम्पन्न करवाया। डॉ. शर्मा ने कुल चालीस शोधार्थियों को अपने मार्ग निर्देशन में शोध कार्य करवाया जिनमें मंजु सिंह, रामप्यारी शास्त्री, बी.पी. अरोड़ा, अमीनुद्दीन, मदन सिंह चावला, के.के. मैत्रा, अनिल रावत, के.एस. गुप्ता, बी.के. जोशी, एस.सी. मिश्रा, प्रेम कालानी, ज्ञानचन्द शर्मा, उमा भारद्वाज और एच.सी. टिक्कीवाल भी हैं। वस्तुतः डॉ. शर्मा वैज्ञानिक इतिहास संचेतना के संरक्षक माने जाते हैं। पर उनके द्वारा प्रणीत 'राजस्थान का स्वतंत्रता संग्राम' का क्या हुआ?

अध्यक्ष, 'शब्द संसार'
'गीतांजलि', 26 मंगल मार्ग
जयपुर- 302015

❑

Ram Singh II of Jaipur

Birth and Education :

The sepoy Mutiny marks the reign of Ram Singh II off into two clear-cut divisions, during the first of which (covering 22 years) he was a minor for all but five years, and the government was conducted under British supervision. But with the outbreak of the Mutiny he asserted his own will and moulded the policy of the State by his own statesmanly genius. With the year 1859 begins the era of modernization and progress in Jaipur and the influence of its ruler once more asserts itself in the Council of the Empire of India as it had done in the days of the Great Mughals.

Up to 1839, the administration of the Kachchhwa Kingdom had been of the mediaeval oriental type. It was, by the very nature of a military State, an autocracy tempered by the counsels of the baronage, most of whom were not only the king's vassals but fellow-clansmen as well and who, therefore, regarded him as the head of a vast family to which they themselves belonged. In these circumstances, all the threads of the administration had to be gathered together in the Raja's own hands and everything had to be guided by his will. The thakurs or barons merely tendered advice, but had to execute his orders. When they happened to assert their own will, the result was anarchy. As has been well said by an eminent historian of the Anglo-Saxon Constitution in a parallel case, "The witenage not governed when the king slept."

With the coming of age of Maharaja RamSingh 'The king awoke' in Dhundhar land and his reforming hand was felt in every branch of public life. Though he began to give his impetus to progress and modernisation some years before the Sepoy Mutiny, yet for the sake of unity of treatment this subject will be taken after disposing of his activities during that upheaves which separates modern from mediaeval India in the British territory no less than in the Indian States.

He was born on September 27, 1833 and proclaimed king, on the sudden death of his father, on February 6, 1835, in the seventeenth month of his infancy. The young Maharaja was, according to the ancient custom of his house, first brought before the public at the age of ten. But a vernacular (Hindi) teacher was appointed for him when he was eight, a teacher of English in June 1844, and next a master for teaching him Hindustani. In a short period he was able to read and speak English and Urdu fairly well, though he loved to talk in the Jaipuri dialect in his inner circle. In time he came to acquire a good

knowledge of Hindi and could also understand ordinary Sanskrit books without the help of others.

Next Rao Jivan Singh of Duni taught him riding, and Himmat Khan gymnastics. The young Maharaja soon proved a good shot and a clever swordsman as well. Nor was he indifferent to the arts; as he patronised music, both instrumental and vocal, and learnt to play on the sitar. He was not married before completing his 20th year.

Major John Ludlow, who was British Political Agent at Jaipur from January 1844 to December 1847, instilled lessons of political wisdom and moral culture into his mind, and as the historian Malleson noted the young Maharaja "benefitted greatly from these lessons." The same authority speaks of him on the eve of the Mutiny as "extremely well educated, naturally intelligent, and fully alive to the duties which devolved upon him as ruler, and anxious to perform them." Nearly twenty years later, when this Maharaja was sitting on the tribunal which tried Malhar Rao Gaekwad, the famous English barrister Sergeant Ballantine, who noticed his speech and demeanour daily, speaks of him as "admitted to be one of the ablest men in India and a devoted friend of the English Government."

Administrative Reorganisation :

Before the year 1859 ended, the last embers of the sepoy revolt had been quenched with liberal statesmanship no less than with blood and iron. India had come under the direct care of the British Crown and Parliament, and the Indian princes who had nobly stood the ordeal, had been recognised as protected allies of the British Sovereign with permanent inalienable rights and as members of a far-flung British Empire whose parts were connected together by the bond of freedom and co-operation. A new era opened before our princes and their peoples as the repercussion of the rapid modernisation and progress in British-governed India— in the political, economic and educational fields which came as the best after-effect of the Sepoy's failure. In this work Jaipur took the leading part in Rajputana and the credit for it belongs to Maharaja RamSingh and the able instruments that he had the wisdom to choose.

The young Maharaja was by this time firmly in the saddle, and his first task was to set his own house in order, before he responded to the call to share in imperial councils outside his realm.

First of all, the administrative machinery at the centre was remodelled. Concentration of work in one hand and absolute rule gave place to departmental specialisation and individual ministerial responsibility. At the same time the clear separation of functions which is at the root of administrative efficiency, was accepted in principle and steadily pursued.

In 1854-55 the Diwan and Bakhshi were given independent charges of the Revenue and Army departments

respectively and thus the prime minister's work was lightened. A year earlier the Maharaja had established his own Private Secretariat (Khas Daftar or Huzuri Work), which was another corrective to the Prime Ministers's monopoly of power. The reform went further. In 1854-55 four new departments were created for greater facility of work, namely:

(1) the Police, under an Inspector General,

(2) the Medical, under a Civil Surgeon,

(3) the Education, and

(4) the Survey and Settlement.

At the same time the kingdom was divided into five districts (nizamats) in imitation of the districts of British India each with its own magistrate (nazim), collector, judge and police chief.

On August 31, 1867 the Maharaja formed a Council, composed of eight members, among whom the departmental portfolios were distributed, but each department was put in the joint charge of two or three of these ministers, as a safeguard against slackness or corruption. The Maharaja himself presided over the Council for which a big hall was built in the Jaleb Chowk. The administrative subdivision of the kingdom was later carried further, by marking it out into ten districts.

Law and Justice :

Major Thorenby (1840) established civil and criminal courts on the British Indian lines,and introduced the system of charging court fees in civil suits. The defeated party had to pay the court expenses to the winning party. Litigants were allowed to engage legal practitioners to conduct their cases.

At the capital, all civil suits below Rs. 300 were tried in the munsif's (subordinate) courts, and suit above that amount came before the Sadar Diwani Adalat (or chief civil court). Criminal cases at the capital were tried in the court of the city Magistrate termed the Faujdari Adalat. There was also an appellate court at the capital, and over it stood the highest tribunal in the State, namely the council. But in the 20th century a High Court was established, which has taken over his supreme jurisdiction. In the districts, the Magistrates or Nazims were vested with the powers of Judges in civil suits as well. The prefect of police (Kotwal) tried petty criminal cases at the capital.

Police and Jails :

In the capital, the police chief was named the 'Kotwal' who worked under the supervision of the magistrate (Faujdar). In 1836, police arrangements were introduced in the districts also, and a police headquarters was established in the Shekhawati division for better control of lawlessness. In 1858 four new police posts were set upon the district towns. Police rules were framed in 1860 and revised in 1874 and in 1875, a new General Superintendent of Thugee and Dacoity for the State was appointed for this

special work.

The police of the State, as reorganised in RamSingh's reign, was composed of two separate bodies:- (a) the rural police, formed by chaukidars and tehsil sepoys who acted under the orders of the magistrates in their respective districts, and (b) the general police, who exercised independent powers in all police matters within their respective jurisdictions, and were directly subordinate to the Darbar and its agents.

Formerly prisoners were kept in forts. Afterwards the city prisoners were lodged in the Naharbara (Ramganj) In November 1840, the city jail was removed from the Naharbara to Loon Karan Natani's Haveli in which the city Kotwali had already been established. The present Central Jail was constructed in 1854. It stands outside and south of the city walls. Major C.A. Baylay in 1878 reported on it as "very well conducted, and......a great credit to the State. The average number of prisoners, male and female, is over a thousand."

Education :

Education on modern lines began during the incumbency of Major Ludlow in 1844; What was achieved in fifteen years by Maharja RamSingh's zeal for progress will be seen from the following British Agent's report in 1875:-

"In Jaipur, public instruction has made greater progress than in any other State in Rajputana, during the administration of the present Maharaja Ram Singh......The college at the capital, which was opened in 1844 with about 40 pupils, had in 1875 a daily class attendance of 800, including the oriental and High School departments. The annual cost of maintenance is borne exclusively by the Maharaja. The College was affiliated to the F.A. (i.e., Intermediate) examination of Calcutta University in 1873.

"There is also at the capital a well-attended 'Rajput School' for the insturctin of the sons of the Thakurs and higher officials of the State, established on 15th June 1861. There is also a Sanskrit College (founded in 1845) attended by about 250 pupils; and a school with several local branches for the education of girls. The High School or Matriculation section of the Girls School was opened in 1867, with an English Headmistress, which has an attendances of 500 pupils.

"In the districts there are 33 elementary schools wholly supported by the State and 379 indigenous ones, all more or less or supported, with an aggregate class attendance of nearly 8,000."

In June 1867, the Maharaja by the advice of Sir Charles Trevelyan, opened a School of Arts. The taught were plain and ornamental carpentry, carving in wood, bone and ivory, plain and ornamental blacksmith's work, pottery both in the Indian and European styles, coach-building and upholstery, drawing and book-binding. In 1875 it had 7 teachers and 25 pupils.

special work.

The police of the State, as reorganised in RamSingh's reign, was composed of two separate bodies:- (a) the rural police, formed by chaukidars and tehsil sepoys who acted under the orders of the magistrates in their respective districts, and (b) the general police, who exercised independent powers in all police matters within their respective jurisdictions, and were directly subordinate to the Darbar and its agents.

Formerly prisoners were kept in forts. Afterwards the city prisoners were lodged in the Naharbara (Ramganj) In November 1840, the city jail was removed from the Naharbara to Loon Karan Natani's Haveli in which the city Kotwali had already been established. The present Central Jail was constructed in 1854. It stands outside and south of the city walls. Major C.A. Baylay in 1878 reported on it as "very well conducted, and......a great credit to the State. The average number of prisoners, male and female, is over a thousand."

Education :

Education on modern lines began during the incumbency of Major Ludlow in 1844; What was achieved in fifteen years by Maharja RamSingh's zeal for progress will be seen from the following British Agent's report in 1875:-

"In Jaipur, public instruction has made greater progress than in any other State in Rajputana, during the administration of the present Maharaja Ram Singh......The college at the capital, which was opened in 1844 with about 40 pupils, had in 1875 a daily class attendance of 800, including the oriental and High School departments. The annual cost of maintenance is borne exclusively by the Maharaja. The College was affiliated to the F.A. (i.e., Intermediate) examination of Calcutta University in 1873.

"There is also at the capital a well-attended 'Rajput School' for the insturctin of the sons of the Thakurs and higher officials of the State, established on 15th June 1861. There is also a Sanskrit College (founded in 1845) attended by about 250 pupils; and a school with several local branches for the education of girls. The High School or Matriculation section of the Girls School was opened in 1867, with an English Headmistress, which has an attendances of 500 pupils.

"In the districts there are 33 elementary schools wholly supported by the State and 379 indigenous ones, all more or less or supported, with an aggregate class attendance of nearly 8,000."

In June 1867, the Maharaja by the advice of Sir Charles Trevelyan, opened a School of Arts. The taught were plain and ornamental carpentry, carving in wood, bone and ivory, plain and ornamental blacksmith's work, pottery both in the Indian and European styles, coach-building and upholstery, drawing and book-binding. In 1875 it had 7 teachers and 25 pupils.

A Medical School was opened in the Jaipur city by the State in 1861 but in the course of a few years it was found that more efficient supervision and a more through education could be secured at much less cost by sending the Jaipur pupils to the Agra Medical School at State expense. This began in 1868, when the local medical school was closed down.

On March 26, 1869, the Maharaja founded a society called the "Social Science Conference" with the aim of removing social evils and introducing reforms by means of deliberation and consent. The Society suggested many new sanitary measures, new materials and implements of agriculture, mass education, the improvement of the schools and colleges and similar instruments of public uplift. Many of these were carried into effect, when no insuperable difficulty presented itself. One of the most useful measures was the revival and extension of the primitive practice of trial by **panchas** for disputes among the members of the same caste or community.

Hospitals :

The splendid Mayo Hospital was constructed by Maharaja Ram Singh at a cost of Rs. 1,63,000. Its foundation stone was laid by the viceroy, Lord Mayo, during his visit to Jaipur, on 15th October, 1870. Ram Singh also established and maintained dispensaries at most of the towns in his dominions besides out-door dispensaries in several wards of his capital.

Mayo College :

An educational institution of the deepest significance to Rajputana in the foundation of which Maharaja Ram Singh took a leading part, is the Mayo College for Princes at Ajmer. "In the latter part of the year 1870, the Earl of Mayo visited Rajputana, and in a darbar held at Ajmer, suggested to the princes and chiefs there present that a college should be founded at Ajmer, where the future rulers and nobles of Rajputana might receive such education as would fit them for their high position and important duties." It was to be maintained at the joint expense of the British Government and its feudatories. The chief subscribed nearly six lakhs of rupees, out of which the Jaiur State contributed Rs 1,25,000, besides building boarding houses for the pupils from their respectieve States. The Government granted 150 acres of land and built the college and the teacher's quarters.

The College was opened for teaching work in 1877, though the buildings took some years more to be completed.

Communications :

In Ram Singh's reign Jaipur was connected with Agra by rail; and two other lines, one leading to Delhi and another via Ajmer and Ahmedabad to Bombay were constructed. To this work the Jaipur State gave every assistance, and orders were issued to cede the and needed for the railway without charging any price.

The greatest service of this Maharaja to the cause of economic progress was the construction of metalled and bridged roads, with good staging bungalows at intervals, which were absolutely necessary for travel by road before the spread of railways.

(1) The portion of the Agra-Ajmer road lying within this territory was a first-class metalled road, 127.5 miles in length, running east to west and touching the capital of Jaipur about midway. This road, together with staging bungalows throughout at convenient intervals, was constructed by Maharaja RamSingh, the British Government contributing one-fifth of the cost. The eastern portion alone cost the Maharaja eight lakhs.

(2) The Jaipur-Tonk Road, second class, with 48 miles in Jaipur territory.

(3) The Karauli-Mandawar road, 49 miles, passed through two large towns in the Jaipur State. It became an importment artery of trade, by reason of its giving connection between the Mandawar station on the Rajputana Railway and the town of Hindaun, which is the principal mart for all the cotton, grain, oilseeds, raw sugar, tobacco, grown in the south and east of the Jaipur State. (1875)

The British Imperial Postal System was introduced into the State in this reign and it was supplemented by the Maharaja's post-offices scattered throughout his dominions. In 1875 there were 38 imperial post-offices in the Jaipur territory.

Telegraphic connection with the rest of India by way of Agra was opened on April 8, 1864, and the line was later extended to Bombay.

Famine Relief :

The great Rajputana Famine of 1863-69 was a fiery ordeal for pur ruling Princes statesmanship and humanity, and most nobly did Maharaja RamSingh came out of it. As the A.G.G. wrote in his report[1] on the Famine, on December 9, 1870, 'The first ruler who took a decided course in the matter, not on account of any pressure which was put on him, but solely for the purposes of benefitting his subjects, was the Maharaja of Jaipur, a chief conspicuous alike for liberality and benevolence." In the end, "the acknowledgements of the Government of India were conveyed to the Maharaja of Jaipur for the active interest he had manifested in the cause of humanity," (Famine Report Paragraphs 171 and 188) His personal salute was raised from 17 to 19 guns.

"The rainfall of 1868 was unfavourable from the commencement.....being only one third of the average in the course of the year."

"The **Kharif** yield in 1868 was only onefourth of the normal...... The **Rabi** harvest of 1869 was fair in Jaipur, though blight partially effected it. The **Kharif** of 1869 was attacked by locusts."

At Jaipur, measures of relief were adopted under the very eye of the Maharaja, "In the city of Jaipur

[1] **Famine in Rajputana** published in the **Gazette of India** of the February 25, 1871.

itself,............... the population as a rule is much richer and the charities are more numerous and opulent than in other towns in Rajputana."

"Jaipur before all other States first too the lead in a liberal policy. The Maharaja of his own accord, as early as September 20, 1868, abolished for every the duty on, the transit of, grain throughout his territories[2] His Highness sanctioned the construction of many famine relief works, on which 15,000 people were employed daily. Loans were granted to agricultural classes and two lakhs of rupees were given to zamindars, while large remissions of revenue were made to all who needed them. Relief houses for the helpless poor were provided, and were most efficiently organized.

"The commencement of the rainy season of 1869 was very unfavourable to Jaipur.........In August a meeting of the principal inhabitants was convened, at which the Maharaja himself presided, and promised to double any subscriptions which might be raised. The donations amounted to Rs. 15,000.

❑

[2] "This decided action on the part of the Maharaja of Jaipur materially strengthened Col. Keatinge's hands. All the Native States met at a conference at Ajmer on Dec. combs 16, 1868 and agreed to abolish or reduce these duties during the famine* (Report, para. 171).

Pratap the Great

On 27th November, 1576, the Emperor left Mohi and started for Malwa via Udaipur and Banswara, and the Maharana at once resumed his raids into the plains. So, from Banswara Akbar, on 27th December, sent off Bhagwant Dass, Man Singh and some other officers who restored order there. But it was found by painful experience that imperial peace in Mewar or Idar could at best be only a precarious armed truce: it was impossible for a small detachment to maintain its predominance at Gogunda, not to speak of overawing the hill region, and equally impossible for a large army to subsist long in that barren country for want of provisions and fodder. It was during this Compaign that the ladies of Mirza Khan, while proceeding to Macea, were captured by Kanwar Amar Singh. But the Maharana treated them with honour and chivalrously restored them to the Khan.

Sawai Jai Singh's Early Career

Jai Singh's Accession :

With the accession of Jai Singh II., the history of Jaipur enters on a new stage. The thirty-two years before him had a very dark period for the Kachchhawa race: three generations of their ruling dynasty had been crowded into this span of a single human lifetime and had perished in distant fields far from home; the family fortunes and prestige had sunk very low; and the future looked hardly more promising, with a boy of tweleve on the throne and its army reduced to a thousand men engaged in very minor services. But the glory of the Kachchhawa royalty was retrieved by the genius and opportunism of Sawai Jai Singh II and raised to an even loftier pitch than under the great Man Singh of Mirza Raja Jai Singh I.

It the life's work of Sawai Jai Singh did not benefit the Empire as Man Singh's or the first Jai Singh's had done, it was not his fault. His masters got only what they deserved; the hopelèss moral decay of the later Mughals and their nobility defeated the attempts of Sawai Jai Singh, as it had done the equally sincere efforts of Nizamulmulk Asait Jah, to arrest the fall of the Delhi monarchy, Jai Singh's active life entirely covers the eventful period from the death of Aurangzeb to the sack of Delhi by Nadir Shah and even overlaps it at both ends by several years. The tragic story of this age is well known in general outline, and the historian of the Kachhhawas need concern himself only with the doings of Jai Singh; for which an enormous number of contemporary records, state papers and newsletters have been preserved at Jaipur.

Since his return from the Deccan (in July, 1698), Jai Singh had been staying at home in spite of the emperor's angry summons. On 18th February 1700, the news of Bishun Singh's death reached the imperial camp in Maharashtra, and two days later Aurangzeb conferred the throne of Amber of the late Raja's eldest son changing his name from Bijay Singh which it was before to Jai Singh. While his younger brother, customarily called chimaji or the Infant, was ordered to be henceforth named Bijay Singh.

Six months after his accession Jai Singh received the Emperor's call to the Deccan with his troops. But there was nearly a year's delay in his responding to the call. One reason for it was that he had been instructed to recruit a large force of his clansmen, in excess of the contingent required by his Mansab, in order to/fill up the ever-gaping void of Mughal manpower caused by the Maratha wars. This meant money, of which nothing could come forth from his sovereign, whose own soldier's pay was three years in arrear Besides this, Jai Singh could not leave his home

territory denuded of troops, as the Naruka and other local rebels were constantly rising against this child on the throne of Amber. He had also to conclude the affair of his marriage, with the daughter of Udit Singh, nephew of Raja Uttam Ram Gaur of Sheopur; in March 1701.

As early as Novermber 17, 1700 the Emperor had sent racebearers from his camp to fetch Jai Singh to the Deccan. After much delay the young Raja made a start and reached Burhanpur on August 3, 1701, but here he was brought to a month's halt by the heavy rains which made marching impossible over the black cotton soil of Khandesh. By this time Aurangzeb's patience was exhausted; he had now emparked on his ruinous sieges of the Maratha hillforts and required every man that the Raja and officers in the north could supply.

So, on Septermber 13, he reduced Jai Singh's rank by 50 and turned his agent out of the imperial camp. The Raja now quickened his pace and in October joined the army of his commander, Prince Bidar Bakht, who was under orders to guard the environs of newly conquered fort of Panhala, when the Emperor advanced to lay siege to Kheloa in Konkan, west of the Ambaghat pass.

Jai Singh under Bidar Bakht :

The siege of Khelna dragged on for five months (January, June 1702), the Mughal army and camp followers suffering indescribable hardship and loss from the rugged barren nature of the country and the cyclonic weather of the Western Ghats.Succcess was long delayed, partly by the impregnable character of this rockfortress, but more by the mutual jealousies of the leaking Muslim generals. The Mughal artillery beat in vain against the solid rock of the walls; on the other hand, the catapults of the garrison showered huge stones upon the advancing siege-works; they also raided the trenches at night.

Bidar Bakht was given chargeof the imperial trenches opposite the Konkani or western gate of the fort, and with Jai Singh took his post on a fortified hillock facing that gate. The Kachchhawa contingent's work before Khelna was strenuous and eminently successful, and naturally a heavy price in human lives had to be paid for it. On February 14, 1702, Jai Singh detached a force under one of his general to take the Maratha post under one of his general to take the Maratha post outside the westerngate (hirki). After clearing a path through the rock and scrub, the Rajputs engaged the enemy, and at the cost of many losses in slain and wounded, expelled the defenders and established themselves at that post, which was only 15 jaribs from the gate. Eleven days later several Kachchhawas were rewarded with mansabs.

On March 17, Bhojraj Chauhan (an amber captain) beat back a sortie of the Maratha garrison upon Jai Singh's trenches. On May 11, Jai Singh delivered an assault upon the fausse braye (rauni

or outer earth work) of the .Konkani gate, and scaled it in site of heavy loss from the bombs flung from the walls. The charge was headed by his diwan Budh Singh who fell, but the Barli Burj was captured and the five-coloured banner of Amber was the first to be planted on the conquered bastion. Jai Singh thus earned his restoration to his original mansab. On May 13, he became once more a Commander of 2,000 (with 1000 troopers) and Rs. 1,25,000 as allowance.

After the fall of Khelna (June 4, the imperial army withdrew from it. Bidar Bakht was appointed in September next, subedar of Aurangabad in addition to which the deputy governorship of Khandesh on behalf of his absentee Father Prince Muhammed Azam Shah was conferred on him. The prince arrived at Aurangabad on November 22 and sent off Jai Singh and other officers to guard Khandesh against Maratha incursions. This was a physically impossible talk, with his small contingent, neither Jai Singh nor any other imperial general could completely block the paths of the myriads of Maratha light horse out on raid or catch them up by pursuit. In February, 1703, Nima Sindhia entered Khandesh and looted many places including the subrubs of that province's capital and also the city of Khargon, then included in Malwa. Jai Singh was visited with the Emperor's wrath for his supposed negligence and his mansab was again reduced by 500 jat. But he soon afterwards redeemed his credit: In May 1703 the Raja was detached by Bidar Bakht to assist the Mughal tharahdar Kuchak Khan who had been invested by Nima Sindhia at the village of Anwa near Deulaht. The Kachak awas drove away the besiegers, after slaying and wounding several men. From this duty Jai Singh returned to his station at Aurangabad, but was soon afterwards called upon to rescue his chief Bidar Bakht, who was threatened by a Maratha band when our hunting near the Fardapur pass (Ajanta) on September 30.

With the return of winter, Nima Sindhia burst into Berar and Malwa, and at first carried everything before him. But in the end he was foiled and expelled after a long and active chase by Firuz Jang, the governor of Berar. Bidar Bakht co-operated by sending a detachment from Aurangabad to the scene of this war. For Jai Singh's activity in this campaign he was rewarded by the reductin of 500 in his mansab being restore on January 8, 1704. The gross cowardice and incompetence displayed by Shaista khan II, the Malwa governor, during this Maratha raid induced the Emperor to remove him and place at province in charge of Bidar bakht (3rd August 3, 1704). The prince sent Jai Singh as his deputy (Naib Subedar) to govern Malwa. The Raja safely escorted the Bengal revenue on the way to the Deccan, from Sironj to Ujjain (arriving at Ujjain on), whence other officers took it to the Emperor.

Bidar Bakht was so pleased with Jai Singh's ability and devotion that he

nominated him his deputy governor for Malwa, where he could not attend in person. but the pious Aurangzeb vetoed the appointments as opposed to Islam and ordered it to be given to Muhammaden, for in his bigotry he had now made a rule that no subahdari,- not even the minor post of a faujdar should be given to a Rajput (Inayetullth's Ankam-i-Alamgiri. The contrast with Akbar's full and rank rewarding talents is here obvious and less obvious is the effect of such narrow sectarianism and suspiciousness on the fate of an Empire which had now come to have such sovereign as its helmsman. To insult the greatest Hindu Raja then under his banners, Aurangzib ordered that Jai Singh must not hold office sitting on a cushion (masnad) but should squat down on a printed cloth spread on the floor (Ibid. 72)

Aurangzeb pursued Jai Singh with a malignity which looked like a personal fued. The Raja, after his great deeds at Khelna (1702) had begged the Emperor for the grant of kettledrums, and now Bidar Bakht repeated the same prayer and also recommended that he should be given the parganas of Chatsu, Deosa, Muizzabad and Rewari, to enable him with this additional revenue to raise and keep a large and efficient contingent for the imperial service in the Deccan. Aurangzeb's reply was, "No; he is too young and led by other." Bidar Bakht made a second appeal for the Kachchhawa Raja, saying how impoverished and scantily supplied with troops he was. The Emperor angrily replied. "His father in the Sansani campaign brought to the Muster ten or twelve thousand horsemen This (Raja Jai Singh) is the master of treasures and territory and the head of a clan. He can get together such a large contingent." A later appeal from the same prince to increase Jai Singh's trooper rank from one thousand to two thousand and to grant him Kettledrums, was rejected by the Emperor who caustically wrote on the petition, "This proposal is crude, crude, kham kham ." (Inayetullah)

Thus we find Jai Singh, at the end of Aurangzeb's reign after six years of strenuous service, still 2-hazari in rand (with 1000 troopers do aspa), as at the time of his succession to Amber, and still attached to the army of Bidar Bakht wherever he went. One good, however, had been done to him: two imperial faujdars with local assistance captured the fort of Jhilai from Khushal Singh and other rebel Rajputs and established Jai Singh's rule over it (Nov. 13, 1704), and next forced the rebels to vacate Isarda also. The imperial collector of Rajmer having reported that no revenue was being yielded by the pargana of Malarna (with a nominal rent roll of 1,1/2 lakhs of rupees), then under the crown administration Aurangzeb was pleased to pass it on as a bad bargain to Jai Singh.

❑

HISTORY OF THE JAIPUR STATE

A CRITICAL APPRECIATION

History of the Jaipur state was written and published in 1969 A.D. by Dr. Mathura Lal Sharma at Ajanta Printers, Jaipur under banner of the Rajasthan Institute of Historical Research. It contains 22 chapters with 286 pages in book form. In the introductory chapter, importance of Jaipur and its geographical features with the climate and minerals and the people have been described and then from first chapter, its historical background, the origin of Kachchhawa families with Dulha Rai (Dhola) as its first hero, who set up that Kachchhawa rule in Dundhar by defeating the Meenas of Dausa, Machi and Koth is told, as written by Muhont Nainsi in his Khayat in the 18th centurry and Col. James Todd in the beginning of the 19th century and by Col. Brown in the Gazettes of Jaipur state. Next attempt to write the History of Jaipur was materialised by Sir Jadunath Sarkar but it was not published because it was considered more a history of the Mughals than the Kachchhawa rulers of Jaipur. Therefore, Dr. Sharma took this work in his hand and tried to produce an authentic History of the Jaipur State and tried his best to throw light on the heroic character of its able rulers like Man Singh, Mirza Raja Sawai Jai Singh and Sawai Pratap Singh and the astronomical arithmetic calculations of Sawai Jai Singh and the literary state of Sawai Pratap Singh and the modern educational developments along with progressive medical and to men and animals, construction of roads, canals and railways by Maharaja Madho Singh. Dr. Sharma based his book mainly on the material available in the Jaipur State Archives and the contemporary Persian histories and the Maratha Documents.

He requested the foreword for the nonavailability of certain important and confidential records in the kapadwara section of the archives of His Highness-the Maharaja of Jaipur which if available could enrich his work more and made it more and more authentic. As we study The History of Jaipur, further we find that first four chapters were devoted to the former rulers of this Kachchhawa family up to Prithivi Raj who worked for the establishment of their rule in Dhundhar and to make it firm and strong. Then begins the reign of Beharimal with whom the rise of the Kachchha was is connected. The helped in safety, in the court of Akbar at Delhi, though he was assisting Hazi Khan the usupper. Here Behari Mal did not allow the sentiments to dominate his political

wisdom and pursued practical statecraft. Now Majnu Khan's good office gained for Behari Mal Akbar's In Chagtac Khan an influencial noble in Akbar's march from Karauli to Sanganer, he got further news about the valour and respectability of the Amber House. Behari Mal along with his son and kins men, brothers and the cousin met Akbar and offered his helping hand in his programme of conquest. Akbar, therefore, received the Raja on January 20, 1562. With great regard and courtesey and expressed his desire to take him in imparial service along with his close relatives. On the return march also Akbar stayed at Sambhar. Both Behari Mal and Mansing met him there and accompained him up to Ratanpur. The Mughal King was highly impressed by the dignified men and heroic appearance of Man Singh. He was appointed on a high military post and loaded with honours and distinctions and accompanied the emperor to Delhi. Nothing has been said about the celebration of marriage of Jodha Bai with Akbar during this visit. Dr. Sharma did not even mention the marriage episode to which the historians attached too much importance because it was not the main cause for the rise of the kachchhawa but the bravery, courage and the humble performance of their fearless character which would prove a great prop, and support of the empire he had to carve out. Moreover Bhagwandas saved.

Akbar's life by giving water to drink when he was feeling thirsty. His elephant's foot went into a pit and was left alone against a house held by the rebels. Similar unfailing help was rendered to him in the battle of sarnal during his campaign of 1572. Raja Behari Mal was the first to foresee the greatness of Akbar and his policy of subordinate political allien was followed by several Rajput chiefs. About Kunwar Man Singhs's visit to Rana Pratap, Dr. Sharma says "From all Rajasthan sources and also from the autobiography of Jahangir, as also from the journal of sir Thomas Roy it is clear that Maharana Pratap turned a deaf ear to this wise friendly and practical advice. Though both father and the son (Bhagwan Dass and Man Singh) tried to convince Pratap for the alliance.This refusal resulted in the Battle of Haldhighati. While describing the battle, Dr. Sharma says "It was a heroic task easily to be comparable to Nepoleon Bonapart crossing the Alps." In the morning of the June 18, 1576 his (Pratap's) forces issued form the Haldighati and marched upon the camp of Man Singh........then followed a battle which for many acts of unprecedented heroism and sacrifice exhibited by the heros on both the sides and above all for the cool and calculating generalship employed by Man Singh........The

headless undauntable dash of Maharana Pratap....Man Singh used foreign methods called Jaz-w-Harwal against Pratap's weak Rajput methods.....But Mansing's Tazw-i-Harawal could not stand the impetuousity of the troops and.......the Mughal.......had been converted into a confused frightened rebels....It was midday when the Rana was surrounded by his faithful......Bida Jhala........................snatched his umbrella,......pressure on the Rana was released.....Similarly Mirza Raja Jai Singh's strategy against Shivaji is described as such "Jai Singh made his son Ram Singh responsible for the safety of Shivaji ....Shivaji was put under Ram Singh's charge and made him sign a bond.......Shivaji bade Ram singh to take back the bail bond.....the escaped in baskets disguised.....as Hindus ascetics.....

Ram Singh and his father both were suspected for collusion with Shivaji....Dr. Sharma was a great admirer of Sawai Jai Singh. His heroism, his statemanship, his skill about the construction of a new palace Jai Niwas, and to set up a new city (in November 1727) round it......The city was planned by a Bengali Brahmin Vidyadhar Bhattacharya.........Dr. Sharma writes about the city. The city Stratches about two miles from east to west and its breadth south north is about one mile. The central road is one hundred and twenty feet broad and runs through out its entire length. It is crossed by the wide roads which...... intersected at regular intervals and the process is carried as until the thorough fares become merely small lanes."

"The house are coloured pink. The city thus built was peopled by traders, bankers and artisans invited from Delhi, Agra, Udaipur and other places at the cost of thousands of rupees." Sawai Jai Singh was a great scholar of astronomy and mathematics." He, therefore, constructed at Delhi, several instruments for astronomical observations." Dr. Sharma gives the details of the observations and the result of the researches done by Sawai Jai Singh himself and other scholars Persian as well as the Europeans. One of the portugese mathematician was sent to Europe with sufficient funds for purchasing books and instruments for astronomical observations." His court Pandit Jagannath, translated under his orders into Sanskrit an Arabic book 'Alma Gest' named it "Siddhant Saar Kaustubha." Thus it is made clear that Sawai Jai Singh was not a mere General of the Mughal King who helped the Empire in building and strengthening, but Jai Singh was the upholder of religion, performer of Vedic rites, master of the scriptures student of the knowledge.....learner of all the 64 arts.....Nobody could reach the speed of

his wisdom. He became the symbol of Hindu learning. About Pratap Singh, Dr. Sharma writes truly. " His estimate by the Maratha newswriters is not only wrong but seems to be deliberately mischievious, Sawai Pratap Singh was both a successful military leader as well as a wise diplomat, Sawai Pratap Singh was a great poet too.

Sawai Pratap Singh fought two battles at Tunja and Lalsot with the Maratha leader Mahadji Sindhia who was acting as Vakil; Mutalq to the Mughal Emperor Shah Alam. Dr. Sharma declared these battles as" Major action comparable to big battles not only in Indian History but the History of the world before 1914. Sawai Pratap was not only a great warrior but a poet and a scholar too. He extended patronage to a large number of scholars. He wrote 23 books in Brij Bhasha and Dhundhari. Dr. Sharma gives a long list of books written and translated by him. He compiled prescritions by renowned Doctors (Vaidyas) in his books Pratap Sagar and Amrit Sagar.

Dr. Sharma gives much importance to good administration and good character. While describing Maharaja Jagat singh. He says "Jagat Singh was inordinarily fond of young women and suffered from over infatuation specially for a dancing girl named Ras Kapoor who had so completely hypnotized him that he allowed her to interfere in the affairs of the state. This lowered him considerably in the estimatian of his people......At last the dancing girl was confined in Nahargarh fort," The barons also became powerful. Treaty with the British war concluded in 1818 A.D. and a new era of peace and progress started. The benevolent rulers like Ram Singh and Madho Singh acquired high praise for their social and administrative reforms. An era of progress started. Educational developments in all the faculties of arts, literature and science gone up to the highest mark. Railways, canals, medicines and roads were constructed. Public Works department used large capitals to give the comfort to the public. Famine relief works were outstandingly started at the expenses of more than 20 lakh of rupees. Maharaja Madho Singh contributed liberally to the Catholic church as well as the Protestant church and also to the Muslim Mosques. He gave 5 lakh of rupees to Pandit Madan Mohan Malviya for Benaras Hindu University.

There can be certain controversies about certain facts which is but natural The persian Historians can be more biased while describing the battle of Haldighati and Maharana Pratap's undaunted dash and Maharaja Mansingh's sober submissive attitude while describing Abul Fazal's overstatement about Man Singh's visit to Gogunda, Dr. Sharma is quite

impartial to say "His style is characterised by fullsome flattery to please his imperial master and the fact can be overshadowed. The History of Jaipur written by Ram Kavi in 17th century conformed the view which was also supported by Suryamal Mishran the author of Vansha Bhashkar. The same is the case while describing Shivaji's escape from Agra." Three days passed but Shivaji did not change his attitude. Ram Singh tried his best but Maratha chief would not agree to go to the court again Ram Singh conveyed his prayer to the Mughal king to put him to death before Shivaji was touched......Shivaji bade Ram singh to take back the bail bond he had signed.......then he and his son disguised as Hindu ascetics....took their way homewards........Ram singh was ordered not to attend the Darbar for seven months. Unnecessary details were passed over for want of space.

The battle of Patan was fought on the June 20, It was the Ekadashi day when most of the Rajputs were fasting. For six hours......not a shot was fired, real battle was precipitated in the evening.....Dr. Sharma was all in praise for the heroic deeds of the Kachchhawa and the Rathores but he appreciated also" The discipline of the European trained brigades and the skill, strategy and calculating, cool headedness of De-Boign..........truimphed over the age long methods and the personal dash and heroism of the Rajputs."

He quotes the words of Bishop Haber who passed through Jaipur. "The fortifications of the city are so like these of Kremlin that I could have fancied myself at Mascow. "A French scholar says" Delhi has only one similar road namely the Chandni Chouk but at Jaipur all the roads resemble it and fear that name," "The houses are plastered in the lime cement......sometimes polished like stucco.

Dr. Sharma enjoyed when he says that "Even hostile critic of Sawai Jai Singh, Surayamall, Mishran, a poet chronicle of Bundi is forced to the praise of Sawai Jai Singh......" in cleverness, in statesmanship, in counsel, the Kachchhawa Raja is the foremost........."

Dr. Sharma was an admirer of Jaipur painting and literature. He devoted full one chapter to them..An artistic combinatin of actul likeness and conventional figure of art traditions, the fold of the flowery muslim are carefully brought out and every picture contains but subtle chastity of life which is the peculiarity of Jaipur art only. The artistes used to concentrate on the determination of the face and the elaboration of ornaments and drapery. "They are just" The mental summary of visual perceptions. "Pandit Harnath Behari, Kulpati Mishra, Sujan Singh, Sunder

Das and Mangal Ram were some of the scholars, Pandits and the poets who got rewards for their works, treatise and the collections, in Brij Bhasha, Dhunhari as well as in Sanskrit. At the time of Madho Singh, Jaipur became a seat of Hindi and Sanskrit learning as to eclipse the sacred Kashi. Sawai Pratap Singh himself was a great poet and gave protection to various scholars of name.

Administrative details also could not hide themselves from the sharp insight of Dr. Sharma. The working of State Council, the executive department, the public welfare department, education, medical department, famine relief, work included with ful ividity. Maharaja Jaipur, a chief, conspicous alike for his liberally and benevolence was honoured by the Government of India and the public at the same time." This books is really a help for the students of Rajasthan History and fills the gap left by GauriShanker Heera Chand Ojha. It may be helpful for the students of Mughal History and the Maratha History also. The people of Rajasthan are proud of the heroic deeds as well as the litreature and artistic activites of the rajas and the people of Jaipur state.

❑

SHIVAJI ESCAPED

In the meanwhile Shivaji was trying to secure his release, promising to cede all his remaining forts and then seeking permission to turn a Sanyasi and pass his remaining days in the holy city of Allahabad. When Shivaji did not succeed, he fell back on his own resources. He bade Ramsingh to take back the bail-bond he had signed and free himself of all responsibility in future. Then Shivaji sent away all his followers and he himself and his son escaped in baskets which were covered with sweets, and then made their way to a village six miles from Agra where they disguised themselves as Hindu ascetics and hastened towards Mathura, while his followers took thier way homewards. The details of Shivaji's flight to the South, though intresting and exciting, need not detain us.

The emperor suspected RamSingh's collusion with Shivaji and his rank was reduced by one thousand both Jat and Sawar and he was ordered not to attend the Darbar. For seven months Ramsingh was not allowed to see the emperor. At long last Maharaja Jaswant Singh interceded for him and he was permitted to attend the Darbar.

Shivaji as Politician and Diplomat

Shivaji was not only a dashing and enterprising raider but a very skillful and astute politician and diplomat. His political maneuvers generally preceded his armed actions, and invariably followed his raids. He was a very fit product of his times and political environments which were full of intrigues, distrusts and suspicions leading to murders and armed actions.

Shivaji was born in 1627 and his boyhood was a period of great hardships and difficulties. He passed the first nine years of his life at Shivaner, Bijapur, Shivapur Shivapattan etc. with his mother, because his father Shahji was busy resisting the Mughal invasion of Ahmadnagar. This acclimatized him for roughness and adventure.

His mother Jijabai was neglected by his father, which developed in her self help and self-confidence. She was a pious lady, proud of her birth and deeply immersed in ancient Hindu lore of religion and heroism and she proved to be a very proper guardian of her young son on whom she had to lean in her coming years.

During the impressionable period of his boyhood Shivaji was told stories of Mahabharata and Ramayana and was introduced to the broad principles of smritits and political treatises like Shukraniti and Chanakya niti. Probably the Rajdharma of Mahabharat was explained to him and we are told that he had special liking for Vidurniti, a part of Mahabharat. Though not a close student of these works Shivaji was pretty well acquainted with Hindu polity and statecraft.

From his mother Shivaji learnt the principles and from his official guardian-Dada Kundadeva the practice of politics and diplomacy. Shivaji was a precocious boy and under Kundadeva's devoted care by the time he was 15 years old till 1647 when the father died Shivaji picked up and knew practically everything that contributed to his success and greatness horsemanship, use of lance, sword and how to imitate sounds of birds and animals and put on several disguises. He knew how to speak several dialects. His knowledge was more practical than bookish.

Thus equipped Shivaji started his career. He had developed an irrepressible spirit of patriotism and burning desire to free his land from the foreign yoke with his natural power of leadership and inspiring personality. While yet in his teens he gathered and organized a large band of mavalis who were fully acquainted with every inch of the mountain land of Shivaji. They became the main body of his future forces. They were illiterate and wild

people but deeply devoted to their leader. It was Shivaji's political tact that enabled him to discern the importance of these people. He needed no recruitment outside his father's Jagir and raised an inexpensive force.

Inspired by his mother, Shivaji chafed under the rule of the Bijapur Sultan and desired to establish an independent Hindu kingdom, When his father presented him to the Sultan, the young Shivaji did not perform the customary Sijda and Shahji had to explain away his behaviour. In fact Shivaji in his heart of hearts did not like the Sultan's domination but, for the present, he was doing nothing which might irritate or offend him.

Shivaji was strengthening his position by organizing the Maratha Sardars for resistance, but whenever the Sultan objected to his activities, he relied that he was reducing the refractory chiefs to obedience and thus acting in the best interest of the state.

Shivaji's speech was inspiring and touched the hearts of his friends and admirers. The general trend of his ovations was politically exciting. He would say, "Why should we be contented with our ancestral lands and the records that the foreign rulers condescendingly vouchsafe us. We are Hindus the entire land is ours but it is the foreigners who are preparing all sorts of tyrannies on us. We should not now tolerate it and defend our religion and culture with the power of sword, and free our country from the foreign yoke. We should be the soldiers and liberators of our mother land." If we undertake the noble works the Almighty will certainly help us. It is the tone in which Lokamanya Tilak, Lala Lajpat Rai and Savarkar spoke early in the 20th century.

While professing loyalty to the sultan Shivaji continued to make incursious into his territory, and annexations to his own kingdom. The sultan sent the following order to Dadaji Narasprabhu:

"Shivaji has turned a rebel against us. He has raised a force of the Mavalis, has seized the fort of Rohida and garrisoned it with his own men. He has also built a new resort and named it Rajgadh. In this way he has strengthened himself. You disobey our officers and pay taxes to Shivaji. His control can not be tolerated. You are, therefore, ordered to surrender yourself to the thanedar of Shivbal, if you fail to do it, you will be put to death."

Narasprabhu forwarded this letter to Shivaji and asked his advice as to the reply to be sent. Shivaji wrote back saying. "The sultan has been gravely misinformed. Neither of us is a rebel. We are both guided by Lord Raireshwar. Keep firm and come and meet me."

While dealing with powerful adversaries- and his adversaries were all powerful, the Mories, Bijapuri Sultan and Aurangzeb etc. Shivaji invariably employed political strategem by feiging friendship fear, submission or loyalty and when opportunity arived he struck

with lightening rapadity and always succeeded.

Among to Maratha Chiefs of importance the Mores of Jawali would not accept Shivaji's leadership. They were too proud of their ancestry which they traced to the imperial mauryas, and too deeply and sentimentally loayal to the Sultans of Bijapur to fall in line with Shivaji, whom they probably regarded as an upstart, who, they thought, was rebel against the rightful sultan. Shivaji's patriotic appeal for unity against a tyrant foreign yoke, and for the defence of religion and motherland fell flat on their ears. The Mores were too grateful to the sultan for the status and honour they enjoyed, to listen to counsels of political emancipation and freedom from foreign thral-dom. Besides Afzalkhan who was appointed governor of Bai in 1649 had orders, to curb the rising powers of Shivaji. He, therefore, advised and encouraged the Mores Chief to maintain a stiff attitude and treat Shivaji's proposals for pourparlers with open disdain.

Shivaji's tried for seven long years remarkable political patience to persuade the Mores to support the cause of country's freedom but they would not budge. He even proposed matrimonial alliance to bring them close to him, and accept his leadership but he did not succeed. Shivaji then threatened to use force, but instigated by Afzalkhan they sent offensive reply, even bragging that they were socially superior, did not recognize him a raja and were prepared for an armed confrontation with him.

When all diplomatic endeavours failed and no option was left but an armed action shivaji seized Jawali and annihilated the male members of the hostile family. This became unavoidable because they tried to seek the Sultan's military assistance against him. However, he treated their ladies with due courtesy and honour.

Prince Aurangzeb and Shivaji :

In 1657 Shivaji faced a new situation. Aurangzeb, who was nine years older than Shivaji was with his father when the later campaigned against Ahemadnagar; and when this kingdom had been subbued the prince was appointed subedar of the suba and returned to the north. Aurangzeb was governor first from 1636 to 1644 and then from 1653 to 1658 After having reduced the Mores of Jawli Shivaji for, the first time, turned his attention to the Mughal territory and plundered Ahemadnagar and Junnar It was possible because Muhammad Adil Shah had died and Aurangzeb was preoccupied, launching an expedition against Bijapur. When Aurangzeb became engrossed in the campaign, Shivaji employed his diplomacy. He offered his armed support to the prince on condition that he should be allowed to annex to his kingdom the region of Konkan and the forts situated in the area and also to retain possession of Ahmadnagar and Junnar. That Shivaji's clever move was successful against an

astute and bigotted politician cum military leader like young Aurangzeb speaks volumes of Shivaji artful strategy. Aurangzeb knew that he had to deal with two opponents, Bijapur and Shivaji of the two Bijapur was weaker and more easily assailable. Shivaji was not tractable unless a mighty force was hurled against him, and as that time he had no such force under, his command, hence the only option left to him was to accept Shivaji's offer of co-operation, and to let him annex Konkan and retain possession of Ahemadnagar and Junnar. Both Shivaji and Aurangzeb were careful and far-sighted diplomats.

Aurangzeb had to leave Bijapur to itself because news reached him that Emperor Shahjahan had been taken seriously ill and prince Dara was scheming to seize the throne. Aurangzeb was too ambitious and capable not to enter the contest for succession, and in the fratricidal war that ensued among the four sons of Shahjahan he emerged victorous. As he marched to the north to participate in the struggle an open armed conflict between the sultanate and Shivaji became inevitable. Shivaji now had no fear of Aurangzeb, who was too busy consolidating his power in the north to think of Bijapur or Maharashtra. The Maratha leader seized the opportunity and made frequent raids and incursions into Bijapur. The reigns of the Govertment of the State were in the hands of the widow Begam. The affairs of the territory were in a state of deploıable disarry. Most of the Jagirdars and high officers had ceased to be sincere or loyal and began fishing in troubled waters, Shivaji posed serious menace to the sultanate. The one officer whom the Begam considered faithful and capable of confrontation with Shivaji was Afzalkhan. He was an illegitimate son of the Sultan by one of his slave cooks. But he was an experienced commander, administrator and diplomat and could safely be entrusted with the difficult task subduing Shivaji.

Being an old enemy of Shivaji's house the Khan was the fittest man who, the Begam believed, could capture Shivaji by employing diplomacy or slay him in an armed contest.

While despatching him with a large army and artillery the Begam had advised him to make use of all possible political guiles, and extravagant promises of elevation in the Sultan's service in order to lure him into the Bijapuri camp so that he might he easily arrested and brought to the capital to be imprisoned or executed. This was the usual and traditional strategy of the Bijapur Sultans, and had been used against many Hindu chiefs and Shivaji was not ignorant of it.

With a force of 12000 Afzalkhan reached Rahimatpur and on his way he broke many idols and desecrated or destroyed a number of Hindu temples. This barbarous and bigotted iconoclasm antagonized the entire Hindu population of the land who heartily desired his discomfiture at the hands of their leader. Shivaji was in the fort of Pratapgarh

with his mother. His strategy was to give battle to Afzal near Bai and Javli. The Khan reached Javli and encamped there in the month of October. His camp was about 15 miles to the east of Pratapgarh and the high land of Mahabaleshwar stood between the two places.The two adversaries now faced each other- Shivaji at Pratapgarh in the west and Afzal at Bai in the east. Pratapgarh was situated on a high and precipitous summit of a hill. It was much suitable for defence. Afzalkhan had no experience of mountain warfare and did not know how to take a fort by assault.

Shivaji had given up the plan of facing Afzal in the plain and acted in defence. Afzalkhan expected Shivaji to come down from the fort and tight a pitched battle. Shivaji was trying to gain time but the Khan was finding it difficult to wait indefinitely with his large army. But Shivaji trusted to his defensive tactics. When the Khan's patience was exhausted, he decided to initiate pour parlers and for this purpose selected Krishnaji Bhashkar, a clever and loyal Brahmin of Bijapur. He was to assure Shivaji that the Khan's attitude towards him was one of honour and friendship. If he accepted the Sultan's overlordship he would be accorded an honourable reception, and like his father would rise high in the service of the stage. His cherished ambitions would be fulfilled. It was a scheme to bring him into his camp so that he might be arrested and killed. When Krishnaji came Shivaji accorded him a flattering reception and asked him to help him in the difficulty in which he founded himself caught. He told the envoy, "I am much frightened and want to come to understanding." At the same tme he appealed to Bhaskar to be of help in the defence of the honour of the country's religion and sacred shrines. Bhashkar was too shrewd to betray his feelings generated by Shivaji's appeal and did not like to create the faintest doubt about his loyalty. But Shivaji's depth of patriotism and love of religion must have internally moved him.

Bhaskar returned to the Khan accompanied by Shivaji's envoy Pannaji Gopinath who was a clever and seasoned negotiator. Gopinath took with him Krishna Rao Nanaji Naik who was his wise spy. Disguised as a muslim faqir, Naik moved about in Afzal's camp apparently begging for alms and food, but really watching and studying the internal conditions there and keeping Shivaji posted with all information. Spies and messengers daily moved between Bai and Pratapgarh which enabled the Maratha Chief to prepare his plans to handle the situation. The Khan concealed his forces here and there with instructions that as soon as Shivaji came out of his citadel they should come out and, when signal is given, close in upon him. Shivaji had full knowledge of all these manoeuvres and had made adequate defensive and offensive arrangements by hiding his rimble mavalis in the caves of the surrounding dense jungle, Gopinath,

with is sincerity and re-assurance succeeded in pursuading the Khan to meet Shivaji below the fort of Pratapgarh. Shivaji had taken precaution against every possible eventuality. A gorgeous wooden chamber was created for the reception of the Khan who arrived earlier than Shivaji and took him seat. He had only two armed men with him and was himself fully armed. Shivaji, according to the terms of the meeting, came unattended and apparently unarmed but he had hidden a dagger under his loose cloak and skilfully held an iron tiger claw in his hand. As he arrived the Khan rose and embraced him tightly with his left hand and wanted to thrust his dagger into him, but Shivaji was quicker and with his iron claw pulled out his entrails and instantaneously finished him. The Khan was twenty years older than Shivaji and a giant, more than six feet tall. Shivaji hardly reached to his shoulders. Afzal Khan's destruction was for Shivaji a feat both of political manoeuvring and physical strength. It spread his fame far and wide and he came to be regarded by the Hindus as an invincible hero, born for the defence of Hindu religion and culture and the political liberation of his country. The dowager Begam was simply stupefied when from the stragglers of the Khan's army has beard of his death and the annihilation of her horde.

In about two weeks after Afzal Khan's death Shivaji's general Ananji Datta seized the forts of Panbala, Kolhapur, Vasantgadh, and Khelna which he renamed Vishalgadh. Afzal's son afazal Khan and Rustam-i-Zama collected a force and sought the help of the British merchants of Rajpur who sent three officers and a powerful army to help the muslim general.

When Shivaji was in great difficulty regarding the defence of Vasantgadh a new and greater danger appeared from the north. Aurangzeb, on hearing of the tragedy of Afzal Khan felt much perturbed and appointed for the supression of Shivaji his uncle Shaistakhan as governor of the Daccan. The governor seized Poona and occupied Shivaji's palace. Shivaji thus found himself caught between two dangers. But his spirit was undantable and undaunted. The greater the danger the stronger was his political resourcefulness. He sent his minister Sonopant Dabir to negotiate an understanding with Shaistakhan and to blunt the edge of his bitterness. Sonopant succeeded in his mission Shaistakhan realized the difficulties of mountain warfare of which his army had no experience. He, therefore, prepared terms of truce and forwarded them to the Emperor for approval. But the latter was determined to extirpate Shivaji and refused any accommodation with him.

Meanwhile Shivaji was also carrying on pourparlers with Sababad Khan, the Bijapuri general who was relentlessly pressing the siege of Panhala where Shivaji had shut himself. The general agreed to a temporary armistice which Shivaji turned to his advantage and escaped by a back gate towards

Vishalgadh. He was very closely pursued by a contingent of Bijapuri soldiers but his flight was most heroically defended by Baji Prabhu, who held up the pursuers in the narrow pass of Ghorkhand till Shivaji reached Vishalgadh safely. Before Baji Prabhu breathed his last he had the satisfaction to hear of the safe arrival of his master in Vishalgarh fort.

Shaistakhan organised campaign against Shivaji and seized several of his districts and reduced him to a very difficult position. The Khan had spread a net work of spies round Shivaji. They watched his movements and studied his designs and kept the Khan well informed about him Shivaji also sent two very clever Brahmin spies in the mughal camp who supplied him detailed information about everything. For over two years Shivaji kept thinking furiously how to face the danger surrounding him. At last he hit upon a plan and perfected it. He prepared four hundred daring Mavalis for attack on Shaistakhan. They were disguised as mughals and sent down the fort of Singhgadh. It was the 6th day of the bright fortnight. They reached the gate of the camp when the night had become dark and represented that they had come to relieve the guards on duty. It was the month of Ramzan After breaking the day's fast the muslim soldiers were fast asleep. Except for a few dim lights the Khan palace was all silence. On entering the camp Shivaji's men created a terrible confusion, killed one of the khan's sons, six women, and he himself was all but killed and escaped with the loss of few of his fingers, Finding Poona not a safe place to stay at, he shifted to Aurangabad. The debacle of the Khan was noised about in the country. It treated consteration not only in the imperial camp but even in the capital when the Emperor was simply stunned and confounded. It heightened Shivaji's prestige in the community for his political moves, diplomatic dexterities, expionage, wonderful strategy and unsurpassed dash. They saw in him a great Hindu soldier and politician who was Aurangzeb's equal. The success immensely encouraged Shivaji and emboldened his spirit. After all nothing succeeds like success.

What happened at poona was indeed a great How to the imperial prestige, but it did put a pie in Shivaji's pocket. Shaistakhan and his lieutenants had seized the fertile tracts of his kingdom and reduced him to a great financial difficulty. He, therefore, started contemplating another blow to the empire, a blow which he thought should fill his coffers and enable him to undertake further expeditions. He spread a net work of clever spies between Poona and Daulatabad. They minutely surveyed the mughal positions and their weak points. He gathered full information at what places the mughal forces were posted and what their strength was. It was necessary because a straight fight between Shivaji and the empire had commenced and the great maratha leader knew that a pitched battle

or battles with the vast muslim hordes would not be a success.

Having made a careful study of the situation Shivaji made a plan to plunder Surat, the rich port of the mughal empire. He kept his plan a very close secret to the last minute of his march even from his reliable confidents. He said that he was about to move to the south, when, as a matter of fact to had made up his mind to march to the north, that is to the city of Surat. The leaders of his spies Babirji Naik had brought him detailed information about the prosperous city. There were about two dozen multimillionares there and one Mulla Abdul Fazal owned as many as 190 merchantships.

Before reaching Surat Shivaji informed the governor and the leading citizens of the city that he expected to be at the city the following day. They should meet him and pay the fixed contribution. If they failed to do it, strict measures would be adopted for which they alone will be responsible. The governor sent a laughty reply through a messenger whom Shivaji kept under surveillance. Shivaji reached Surat at noon on the 6th January and encamped outside the city. He gave up the city to plunder and collected cash and jwellery worth more than a crore. The news spread about quickly. A strong mughal force marched from Khandesh for the defence of the unfortunate city but no sooner did he get scent of it than he withdrew with the booty with lighthing speed and the Mughal commander who took to reach there about a week found that Surat had already become besurat.

Shivaji was in need of money and this was the only way he could get it. He tried to avoid bloodshed but the governor quite foolishly acted hastily and unwisely and did not even like to prolong the negotiations. The rich magnates depended too much on the power of the governor and underestimated the striking strength of Shivaji. Shivaji wanted morey and also to punish the emperor for what Shaistkhan had done in his state and he succeeded in achieving both his objects.

In 1660 Ali Adilshah took the reigns of government in his own hands and his mother the dowager Begum, feeling disgusted, sailed for pilgrimage to Mecca, Shivaji took advantage of this change of situation and defeated one by one the officers who were despatched to suppress him and avenge the death of Afzal Khan. While Shivaji was engaged in this campaigning he received the news that Mirza Raja Jaisingh was marching against him.

Since the loot of Surat and death of Shaistkhan Aurangzeb was feeling deeply galled and was constantly planning how to imprison or kill Shivaji. He despatched prince Mauzzam and Raja Jaswant Singh of Jodhpur against Shivaji but they could do nothing and were, therefore, recalled and replaced by Mirza Raja Jaisingh of Jaipur, who was a very shrewed politician and diplomat and quite at home in Turkish, Persian, Urdu and Hindi and had varied

experience of discussion with several foreign delegations. He was given a large imperial army and had his own Rajput troops with him. He was assisted by his son KiratSingh and several Kachchhawa nobles and clever Brahmians who knew the art of determining truce or peace. With Jai Singh was associated Dalerkhan, a Pathan general to watch the activities and spy over Jaisingh, who though deeply loyal was after all a Hindu and could not, therefore, be trusted by the Emperor who would not always trust his own sons, what to speak of Hindu rulers. Aurangzeb called Jaisingh and said, "Shiva is posing a danger to the empire which has made it necessary that either you should march to the Deccan or I should proceed but I have decided to send you." Jaisingh expressed his readiness to lead the imperial army against the formidable Maratha leader, but requested for a freehand in dealing with him, which was conceeded.

Jaisingh made the fullest use of political and diplomatic moves against Shivaji-bribes and promises. He alienated a number of Maratha chiefs from him and "despatched agents to persuade him to accept the emperor as his overhood and avoid bloodshed. They said Jaisingh was an ardent a lover of Hindu religion as Shivaji and assured him that in the Mughal Darbar he would be treated with all due honour. When persuasion failed Jaisingh ordered Daler Khan to besiege Purandhar and the situation for Shivaji became soon very serious. He, therefore, asked for terms of peace. It was agreed that Shivaji could retain 12 small forts to himself and surrender the remaining important 23 to the imperial officers. Accordingly, Jaisingh's son Kirat Singh took possession of the 23 forts.

Shivaji stayed in the Mughal camp where Jaisingh treated him with all due courtesy and hospitality. During those days Shivaji denounced Jaisingh's expousal of a foreign bigot's cause who was responsible for so much destruction and iconoclasm of Hindu temples and idols, but Jaisingh continued to harp on his cherished theme that the Emperor was after all their liege lord and as such must be obeyed. Shivaji addressed a Persian letter to Jaisingh saying "Was it not your duty to be equally loyal to Shahjahan when he ordered you to march against Aurangzeb to help Dara? Did you not fully believe in the honesty of Shahjahan and Dara? What happened to your loyalty then when you deserted Shahjahan and lent your support to Aurangzeb? You will have to answer for this behaviour of yours before God. You should take note of Shivaji's warning.

According to the treaty of Purandhar Shivaji had agreed to serve the Emperor but instead of going personally he proposed to depute his eight year old son Sambhaji for the purpose. But Jaisingh persuaded Shivaji to believe that he stood to gain if he personally proceeded to Agra to meet Aurangzeb. At the same time the Raja sent orders to the officers enroute to Agra to look after

Shivaji's comforts during his journey. He also assured Shivaji that he would not in any way be injured at Agra.

When Shivaji and his son Sambhaji with a large retinue of trusted servants reached Agra, Aurangzeb was celebrating his birthday and fixed Shivaji's meeting with him in the Darbar Shivaji felt deeply humiliated and angrily withdrew from the Darbar. Kanwar Ram singh, son of Mirza Raja Jaisingh tried to bring him back but he would not. Then the Emperor asked three noted Mughal nobles to present a rich robe of honour to him and persuade him to attend the Darbar but Shivaji was smarting under the insult of having been asked to stand in the line of the mansabdars of 5000 and flatly refused to return to the Darbar, what ever the consequences.

Aurangzeb now contemplated either to put an end to Shivaji life or imprison him in some fort. The emperor also ordered that Shivaji be put under the guard of Rudandaj who was a low born religious fanatic Ram singh strongly protested against the step. Aurangzeb then asked Ramsingh to give a written surety that he would be responsible if Shivaji escaped or did any injury

Shivaji was kept under surveillance for three months, which was made more and more strict as time passed on.

As a matter of fact the Emperor had determined to put an end to his life but was revolving in his mind how best to do it so that it might cause the least stir among the people. Shivaji got scent of it and began to scheme ceaselessly how to save himself from the danger.

Then Shivaji sent a letter to Aurangzeb saying,'If all my fort are restored to me I am prepared to pay two crores of rupees to you. Please let me return to my Country. I shall leave my son for your service here. I shall fight on your behalf against Bijapur against which you are warring at present, Aurangzeb sent a flat refusal and tightened the watch on Shivaji.

Now Shivaji advised Ram singh to withdrew the written surety he had given to the Emperor saying, "let the Emperor do to me what he likes."

On the June 9, Shivaji called his 200 servants and said, "You all go away. Let the Emperor do his damn worst to me. I am prepared."

On the June 16, Shivaji sent request to the Emperor that he might be permitted to proceed to Benaras to reside there as a Sadhu. To this Aurangzeb replied that he could live in the fort of Allahabad as such. There the Subedar would watch on him. When all requests of Shivaji for permission to return home fell flat on his ears Shivaji took resorts to other methods.

Shivaji took a loan of Rs. 66,000 from Kanwar Ramsingh and bribed the officers who were keeping watch on him. He reigned illness and to propitiate gods and goddesses he daily sent sweets to them in large baskets which were wached by the guards but seeing that it

was only a routine they slackened the attention and Shivaji, who was carefully watching this slipped away from his room, he and his son covered with sweets in baskets.

On reaching home Shivaji wrote to Aurangzeb, "I escaped from the capital because I apprehended a danger to my life. I have no personal ill feeling for you and I am loyal". To Mirza Raja Jaisingh he wrote "I wished to serve the emperor in his Kandhar campaign but he would not care for me." Aurangzeb suspected both Jaisingh and Kanwar Ramsingh's complicity in Shivaji's escape. Jaisingh died at Aurangabad on the August 28, 1667 at the age of 62.

Finding that Shivaji was not subduable, Aurangzeb awarded him the title of Raja, appointed his son Sambhaji Mansabdar of 5000 and gave him an elephant and a jewelled daggar as a gift. Then most of the forts which according to the treaty of Purandhar were ceded to the Emperor were retroceded to Shivaji. His position was not at all compromised by this arrangement and he got back practically all that he had lost.

Shivaji's prestige as a politician and diplomat stood very high. The stories of his political manoeuvres and daring dashes were on every body's tongue and many thought that he was more than human. ❑

Literary Works of Sawai Pratap Singh

The works of Sawai Pratap Singh in Braj Bhasha or Dhundhari are noted below :

1. Prem Prakash
2. Phag Rang
3. Priti Lata
4. Murli Bihar
5. Suhag Raini
6. Virah Sarita
7. Rekhta Sangrah
8. Ramak Jhamak Battissi
9. Sneh Bihar
10. Priti Pachchisi
11. Braj Shringar
12. Sneh Sangram
13. Niti Manjari
14. Shringar Manjari
15. Vairagya Manjari
16. Rang Chaupad
17. Prem Panth
18. Dukkharanveli
19. Sorath Khyal
20. Ras ka Rekhta
21. Shri Brajnidhi Muktavali
22. Braj Nidhi Pad Sangrah
23. Hari Pad Sangrah

The language of Sawai Pratap Singh, particularly Braj Basha is polished and sweet and reminds one of the felicitous style of Surdas, Bihari Das and Nagridas. His style bears striking similarity to that of Nagridas, whose works, it seems, he had studied with care and interest.

Vinayak Damodar Savarkar

Vinayak Damodar Savarkar was born in 1883 in Nasik, one of the holy cities of Western India. A Chitpavan Brahmin as were his fellow maharashtrians, Tilak and Gokhale, he was the second son of a landowner known for both his Sanskrit scholarship and his Western-style education. Savarakar was 14 years old when he witnessed the hanging of the Chapekar brothers, the convicted assassins of Mr. Rand, the plague inspector, and his companion. It was this he said, which inspired him to take a pledge before "Our family deity-the Armed Goddess Durga, and invoke the blessing of the Great Mother, the source of Divine inspiration and strength."

"I took a solemn vow before Goddess Durga to do my duty towards my Country....and to drive and Britishers from my beloved motherland and make my Country free and great once again— the glory that was Hind." This he countinued was how and why he became a revolutionary. True to his vow, he organised his school boy friends, into the 'Rashtra-Bhakta Samuha'— Society of the Devotees of the Nation, and devised measures to maintain secrecy and discipline. In the best tradition of Kautilya, he "Planned tests of devotion and loyalty" to be passed by the young members of his society.

A year later, a more sophisticated organiztion was set up, called 'Mitra Mela' (Society of Friends), which concentrated its efforts on religious and patriotic observances, notably the Ganpati festival and the Shivaji anniversary celebrations which had been instituted by Tilak as devices to stimulate nationalism among the Hindu masses in Maharashtra. The Ganpati festival was a ten-day long observance of the birth of the elephant headed god— Ganesh the son of Shiva and Parvati. It served to give the Hindus a congregational observance of their own. Shivaji the founder of the Maratha Empire, was resurrected, refurbished, and virtually defied by Tilak in his effort to weld religion and politics. It was not enough for Savarkar that the Mitra Mela participate in these religio-patriotic observances. He formed its members into weekly study groups to reinforce their determination to sacrifice their lives, if necessary for freedom. The Mitra Mela gave way to the ABHINAVA BHARAT which was patterned after mazzini's young Italy.

In 1905, the partition of Bengal was announced, which let to boycott and swadeshi movements, aimed to place an economic squeeze on the British by encouraging the cosumption of Indian-made goods along with refusal to buy those made in Britain. At this time, Savarkar was a student of Ferguson College in Poona. He mobilized Abhinava Bharat on behalf of the Swedeshi Movement and collected cartloads of videshi (foreign made) cloth and ceremonially burnt it in the spirit of the traditional vedic fire sacrifice.

This brought him to the attention of Tilak, who recommended Savarkar for one of the travelling scholarships founded by S. R. Rana a wealthy Indian expatriate- and patriot who made his home in Paris. Tilak wrote that Savarkar was "A spirited young man, very enthusiastic in the Swadeshi cause, so much so that he had to incur the displeasure of the Ferguson College authorities for his outspokeness last year."

Tilak concluded his recommendation by saying that Savarkar "Has no mind to take up government service at any time and his moral character is good." This was sufficient to assure the awarding of the scholarship and before departing for England Savarkar exhorted his followers to "organize all the people, fill their minds with one thought, and with all the strength in your blood, attack the malecchas, meaning all foreigners."

Savarkar arrived in London in July of 1906 and was admitted to Gray's Inn as a student of law. His later revolutionary activities precluded him ever being awarded a degree. As a scholorship winner, he moved into India House. One of his first acts was no establish what he called the Free India Society, Indentified as a recruiting agency for the more select Abhinava Bharat, which was, as it had been in India an inner circle of dedicated revolutionaries. Savarkar is reported to have brought Bhai Parmanand into the revolutionary movement and to have similarly attracted Har Dayal.

The biographer of Savarkar says that the very first meeting "turned out to be a revolutionary one for Lala Hardayal" who was "as sentimental as he was reflective.....a fanatic in everything. Once a conviction came, he would go to its logical end and try to put it into active practice. When the two met, "What a coincidence it must have been an extremist patriort coming in contact with a fanatic intellect. These two, he called the "twin souls of Pandit Shyamaji Krishnavarma moving in two external forms," becoming the maganetic centre of attraction and activity in the years to come. They were

"the manifestation of thunder and lightning, which, on the one hand, gave an alarming shock to the British rule, and, on the other, started the beholders with its brilliance. The relation of Savarkar and Har Dayal to Krishnavarma is evaluated differently by Lala Lajpat Rai, who commented. They say that Hardayal and Savarkar were his disciples would be to belittle these two greatmen, but there can be no doubt that Shaymaji's ideas did influence them.

The argument may well continue as to who outshone whom, who influenced whom, and who was a 'disciple' of whom, but two facts stand out (1) India House, which was the creation of Pandit Shyamaji Krishnavarma, was undeniably the point of contact for Savarkar and Hardayal; at the time of their meeting (2) Savarkar had built up a record of nationalist activity and had an organization behind him. It was not until after they met that Hardayal become stellar performer in the revolutionary movement. Har Dayal was initiated into the Abhinava Bharat and took and oath that Savarkar required of its members.

In the sacred name of Chhatrapati Shivaji, in the name of my sacred religion for the sake of my beloved country, involing my forefathers, Ishwar, that my national will be prosperous, only after freedom, full freedom is achieved. Convinced of this, I dedicate my health, wealth and talents for the freedom of my country and for her total uplift. I will work hard to my utmost capacity till my last breath. I will not spare myself for slackening, this mission will follow all the rules and regulations of Abhinava Bharat will never disclose anything about the organization.

Shortly after his arrival in England he had translated Mazzini's autobiography into Marathi and sent the manuscript to his brother for publication in Poona. This translation sold at the rate of 1000 copies per month and it was so highly regarded that it was "taken out in procession, as if it were a sacred religious volume. His next undertaking was a history of what he was to call." "The Indian War of independence," intended to glorify Indian participation in what the British chose to call the Sepoy Mutiny.

Bomb Manual :

At a public meeting of Indians held at India House in early June of 1907 it was proposed that a protest resolution be passed against the British action in involving Regulation III. The idea of a protest resolution was dropped and at this point, a young member of Abhinava Bharat arose and volunteered to go to Russia "to study the art of explosives

and meet the Government of India as the Russians met the Czarists" Russia, however, was obviously not the place to go at this time. Pams seemed more logical, so the young volunteer, Senapati Bapat, and two other young Indians were designated to go to the French capital to find a Russian revolutionist to initiate them into the "mysteries of bomb making."

According to the account, experimentation in this direction had been going on for some time among the Indians. The Indians were successful and returned to London with a bomb manual which was cyclostyled and readied for distribution in India. When Bapat returned with the knowhow, he wanted to blow up the Houses of Parliament immediately, but Savarkar advised restraint and patience, saying, "There will no doubt be thunder and lightning, in the darkness of our present condition. But what of the deadlier darkness that will descend on our mission? It will be more profitable to disseminate this art of bombmaking through our different branches of the Abhinava Bharat and equip them with a weapon which is more effective.

Savarkar was now in complete control of the establishment, and the extreme Hindu nationalism which he espoused was reflected in most of the activities centered there.

Savarkar now set about to collect firearms and arrange that they be smuggled into India, and young Indians associated with India House began target practice with revolvers at a range in London. Bomb making apparently was going on, because it was reported that Savarkar often appeared at weekly meetings of the Abhinava Bharat with picric acid stains on his finger.

Savarkar's programme was the effort made to enlist sympathy for India's cause outside the United Kingdom. He exploited every facet of the redical press on a worldwide basis.

War of Independence:

Savarkar explained that his object in writing the book was "to inspire his people with a burning desire to rise again and wage a second and a successul war to liberate their Motherland." A second objective was "to place before the revolutionists an outline of the programme of organisation and action to enable them to prepare the nation for a future war of liberation. His book was written in Marathi, and selected chapters were translated into English and read at open meetings of the Free India Society at India House. The English youth was "More struck by his extraordinary personal magnetism was an intensity of faith and curious single-minded recklessness which were deeply attractive to me."

The book thus enjoyed a certain uniqueness that it was precribed before it even became a book. Since the manuscript could not be published in India, it was returned to Paris and from there it was sent to Germany, where there were facilities for printing with Sanskrit characters. There, however, could not be adapted to reproduce the Marathi language. The work was finally translated into English in its entierety, and the first edition was printed in Holland in 1909.

While Hardayal was recovering his health in Paris and his co-workers continued their strenuous activities at India House. Savarkar concealed twenty Browning automatics, with ammuition in the luggage of a former cook at India House, who was returning to Bombay. They were intended for eventual delivery to Savarkar's elder brother who, however, had been taken into custody before the arrival of the weapons and sentenced to six years transportation to the Andsmans. When Savarkar heard what had happened to his brother, he became wild with rage and swore vengeance in the British. The vengeance was no come through another's hand when a fortnight later (July 1, 1909) Sir William Curzon Wyllie, political aide-de-camp of the Secretary of State for India was shot full in the face with five bullets.

The Jackson murder had taken place just before Christmas. Jackson was the Magistrate who had bound Savarkar's brother over for trial, so Savarkar's departure for paris within a month had been intended to place him out of reach of the British. Parish offered no release from the anguish he felt over the plight of his brother. The older one, it will be remembered, was in prison in the Andsmans, and the younger had been taken into custody in connection with an attempt on the life of Lord Minto. All of this hightened Savarkar's beliefs that he, too, must suffer. Return to England would mean certain arrest but, he said, "He could not continue sauntering in the gardens of Paris while his dear and near relatives rotted in prisons."

Savarkar was taken into custody when he stepped from the train in Victoria Station.

The British courts ruled that Savarkar should be returned to India for trial. Heavily guarded, he was placed aboard a ship sailing from England July 1, 1990. A week later Savarkar made a dramatic escape from the ship when it put in at Marseilles. Swimming to shore, he demanded asylum from an uncomprehending French policeman and in the confusion, was readily recaptured and taken to the ship.

Vinayak Savarkar paid for his convictions with a long period of servitude under the most rigorous conditions of transportation to the Andsman.

He was released in 1919 when, after the victory in the first world war, the British Government declared amnesty for all political prisoners of India. After his return home joined the Hindu Mahasabha and very strongly opposed the creation of Pakistan. He had to suffer imprisonment again but was released due to his week health and long illness. He died in misery and poverty. He had suffered heavily for the cause of his Motherland.

❑

Bhagwandas Saves Akbar

The Kachhawa Rajputs, whom Akbar had treated with such a great honour and drawn so near to his bosom, proved a great prop and support of the empire he carved. They supplied the bravest and most devoted war-band for his personal defence in every battle. Less than a year after his first meeting with Beharimal Akbar owed his life to their bravery and courage. Akbar made a forced march from Agra to attack the village of Paronkh in the Mainpuri district, which was held by four thousand rebels and plunderers. He charged recklessly at the head of two hundred men only, more than half of whom were the Amber troops under Raja Bhagwandas. A hot engagement followed. The front side of the village was unassailable, and a number of Akbar's men took shelter under the trees and looked out for a safe corner. Akbar was infuriated by this lack of dash and courage in his men, and in great anger went alone to the back of the village, with no one with him except Raja Bhagwandas. As he drove his elephant against a house held by the rebels, his elephant's foot went into a grain pit and the bump threw the servant in the near seat upon Akbars back.He extricated the elephant from the hole and continued his attack. This he could do because Raja Bhagwandas was by his side, and when Akbar was dying with thirst he offered him his own flask of water and kept him in his seat. Similar unfailing help was rendered him in the battle of Sarnal during his Gujrat compaign of 1572 when he was in a very critical position.

Schools Of Painting In Rajasthan

From the beginning of the seventeenth century onwards till the middle of the nineteenth century, Rajputana was a centre of the art of painting. The impetus came from the court of Akbar where numerous artistes received Imperial patronage. Among them, were great masters from Persia and Western Turkistan and leading Hindu painters of India. Akbar believed in liberal culture. In religion, in administration and in architecture he introduced the policy of bringing the Hindu and Muslim elements togethere. This outlook of the great Emperor manifested itself in the field of painting as well and as a result there evolved a new school the mixed school of Perso-Indian painting. This was the blend of the Persian and Indian School. By the end of the sixteenth century the art of Indian painting had bifurcated into two schools North India, the Mughal painting and the Rajput painting. Each has its peculiarities by which shows that they were not water tight compartments. Here we are concerned with the painting in Rajasthan only.

The school of painting which evolved in Rajasthan during the hey day of the Mughal power is known as Rajput painting. Some Scholars call it Hindu painting while other suggest that it should be called Rajasthani paintings— but Rajput painting has become a conventional expression and we may adhere to it.

The general characteristics of the school are an elaborate background and three profile miniature pictures set in it. The blend of colours is very skillful Expression of feeling or sentiments is not attempted in single portraits and some group paintings, there is a riotous exuberance of colours. The subjects are religious. Ragas and Raginis, illustrations of histories both religious and secular, ceremonial processions, march of troops, shikar expenditions and love scenes based on Naika Bhed or imaginations. There are paintings of birds, animals, buildings etc. The borders of certain manuscripts are skillfully painted. Krishna Lila, Ramayan and Durga Saptshati dominate the religious subject. These characteristics are common to all the paintings found in Rajasthan but there are regional peculiarities which divided the paintings in quite a number of sub-school. To mention only a few, there are the sub-schools of Mewar, Nathdwara, Marwar, Kishangarh, Jaipur, Alwar, Bikaner, Bundi and Kota.

1. Mewar School :

It is in Mewar that we find specimens of the oldest paintings. There was an intensive renaissance of the mediaeval Hindu art during the reigns of Lakha, Mokal, Kumbha and Raimal in the fourteenth and fifteenth centuries. The Mewar art became fixed before the sixteenth century when the development of style of Rajput are set in. Till about 1700 Mewar art was conservative. In the beginning of the eighteenth century the Mughal art was adopted because by that time it had become the sole style acknowledged all over India.

During the time of Rana Amar Singh an artistic revival set in. His successor Karn Singh was also a builder and patron of this art. There are several portraits of his together with Emperor Shahjahan in a variety of Mughal style. During the reign of Jagat Singh (1628-1652) real studio seems to have developed. A manuscript of Ramayan was copied by Mahatma Hira Nand at Chittorgarh in 1708 V.S. It consists of 77 folios and one side of each folio contains illustration of the text. The scenes of Sita and Anusuya, Ram and Surpankha, Hanuman and Sita in Ashok Vatika are remarkably beautiful. There are other pictures illustrating was between the forces of Ram and Rawan. The pictures are very informative depicting as they do the methods of fighting, the costumes of ladies, varieties of ornaments, religious life etc.

The most important manuscript is of Sukar Khshetra Mahatamya (In Varah Puran). It was illustrated by Muslim painter named Shah Vadil in 1712 Vikram Samvat. The pictures depict among other scenes a marriage party and certain aspects of the agricultural life of the period. The manuscript of Ekadashi Mahatmya is illustrated by several pictures of secular life. The manuscript of Kadambari contains pictures of fighting, departure of envoys, woman dressed as warriors etc. The Sarangdhar Paddhati contains beautiful pictures of the poses and habits of beggars, porters, oil millers, palki bearer etc. In Hari Vansha Puran manuscript there are pictures of wood cutters, Gujris, art drivers etc.

The illustrations in the manuscript of the Bhagwata relate to Krishna Lila but they represent the event which occured every day in Hindu homes of that period. An Album of Ragmala prepared in the seventeenth century contains a number of pictures of the Ragas and raginis executed in the conventional style.

The illustrations of Sundar Shringar prepared in 1782 Vikram Samvat contain pictures of Nayakas in various moods. The plants and the foliage among which they are set in are very drawn. The background consists of clouds, sky, rainy day, some buildings etc. A picture

done probably in the eighteenth century A.D. depicts the various scenes of the battle of Haldi Ghati. It gives a narration of the battle in the conventional style which in sculpture is called the steal style.

2. Nathdwara School :

The school of Nathdwara started in about 1728 Vikram Samvat when the idol of Shri Nathji was installed in the village of Sinhad. The early paintings have all disappeared in the political ups and downs. The paintings are in possession of individuals who represent either the old families of paintings or nobles who could afforded to purchase them. In the Moti Mahal of Nathdwara there are specimens of the paintings of the eighteenth century on the walls of balcony. They represent the stories of Krishna's life as given in the tenth chapter of Bhagwat Puran. The beautifully illustrated copy of Bhagwat is in possession of Maharaj Shri of Nathdwara. The illustrations are about 700 in number. The other important collections are of Ramayan Chitrawali, Krishna Chitrawali. Chitrawali of Sapt Swaroop etc. The Nathdwara school of painting is easily distinguishable by its peculiarities but it is a blend of the styles of Marwar, Jaipur and Alwar. A number of painters of Nathdwara trace their origin from Jaipur, Alwar, Udaipur and Nagaur.

3. Jodhpur School :

The art of painting received a great patronage from Maharaja Jaswant Singh and Ajit Singh of Jodhpur. Nagaur, Kuchaman and Jalore were the centres of paintings in the Jodhpur State. The Jodhpur School of painting is characterised by almost the complete absence of pictures of Krishna Lila. The majority of the pictures are secular and depict love scenes, marriage processions, march of armies, animal fighting and palace scences. There are pictures of the parties of Sadhoos, kingly darbars, shikar scenes, royal processions and heroes like Pabuji Doongji Jawaharji are number of popular love stories beautifully illustrated. The pictures express a life of joy and festivity, of royal splendour and magnificence, of plays and frolics, and Ragas and Raginis. There are collections of paintings in the household department of His Highness the Maharaja and in possession of several important chiefs of the state like the Thakur of Kuchaman, Thakur of Asopa, Maharaja Ajit Singh etc.

4. Kishangarh School :

Kishangarh has its own school of painting devoted to the Krishna cult. The rulers of this state from Maharaja Roop Singh downwards were all great patrons of art and literature and some of them were both poets and painters. Of these Samant Singh (Nagridas) is most prominent. He was a great scholar and

a great painter. He extended liberal patronage to the poets and painters and enriched his palace and library with beautiful paintings and books on poetry. The rulers of Kishangarh were the followers of Vallabhacharya's sect of Vaishnavism. The paintings executed under their patronage and specially under Nagridas related the Krishna Lila as narrated in the tenth chapter of Bhagwat Puran. The collection of paintings is in possession of His Highness. The pictures can be classified as under:-

1) Illustrated manuscripts of Shrimad Bhagwat, Rasik Priya, Behari Satsai etc.

2) Pictures of animals and birds, trees, foliage etc.

3) Pictures of ideas expressed by Keshav Das and Soordas.

Altogether there are about 300 paintings in possession of His Highness and they belong to the Kishangarh school of painting. About two dozens of them are remarkable for their originality and delicacy as also for their harmony of colours. The paintings done by Nihal Chand and the followers of his school make lavish use of gold and depict fascinating scenes of Vrindavan. The colours they use are green, blue, light-red, brown, gold and grey mostly.

5. Jaipur School :

The Jaipur School of Painting is the richest in Rajasthan. The ruling family of Jaipur came in very close contact with the Mughal Darbar. The Jaipur rulers were admirers of Mughal culture and, therefore, the Mughal impact on the art of Jaipur was very great. The Jaipur rulers extended liberal patronage to art of painting from Beharidas onwards. But there are only a few specimens of Akbar's time Most of the pictures date from Jahangir's rule and form the time of Shahahan onwards there is a wealth of paintings executed both in the Mughal and Rajput style.

The largest collection of the paintings of the Jaipur school is naturally in possession of His Highness the Maharaja. The greatesst treasure of the Library of Jaipur (Pothi Khana) is the magnificient copy of the Raymnamah, the Persian abridgement of the Mahabharat. On the last page of the Manuscript are the impressions of the seals showing that it was in the Imperial Library at Delhi as late as the reign of Shah Alam(1759-1800). It is highly probable that it was Akbar's own copy. The illustrations in the manucript were prepared by the greatest artists of his day whose names are given in Ain-E-Akbari. It is said that fourteen artists were engaged upon the Jaipur Raymnamah. Among them Madho, Basawan, Mushkin, Mukand and Lal were noted for coloured paintings and Babu for drawing animals. The artists of Jaipur Raymnamah have not

illustrated the main story of the Mahabharat. They have painted only the important episodes in the work. There are about 150 illustrations in the Manuscripts. It is evident that Raymnamah came in possession of the Jaipur Darbar after Delhi had been taken by Lord Lake in the early years of the nineteenth century. Among the rulers who were most interested in the art of painting and who liberally patronised it were Sawai Jaisingh, Ishwari Singh, Pratap Singh and Ram Singh, In the time of Sawai Jaisingh there was an all-round progress in the Jaipur State. During his reign a large number of miniature paintings were prepared and some manuscripts like Behari Satsai were illustrated. Aurangzeb was an iconoclast and withdrew his patronage from the painters. A number of leading painters were then employed in Jaipur and they enriched the walls of the Jaipur palaces and produced a wealth of miniature paintings.

Maharaja Ishwari Singh was also a great patron of this art. He was interested in pictures of elephant fighting and shikar excursions. In certain pictrues the Maharaja himself is dipicted as drawing a portrait. He took special delight in rich backgrounds of pictures and its perspective showing palaces and pillars and miniatures miles away.

Maharaja Pratap Singh was also equally interested in the art of painting. He was a poet of note and was, therefore, a lover of paintings also. He was a great devotee of Krishna and had adopted the name of Brajnidhi. There are certain pictures which were drawn by himself. They relate to Krishna Lila and Naika Bhed as also to seasons and Ragas. His rule can be called an age of paintings in Jaipur.

The largest collection of paintings is in possession of His Highness the Maharaja of Jaipur, but there are numerous collections, big and small, also in the possession of the leading nobles of the state. Kunwar Sangram Singh of Nawalgarh is deeply interested in the study of this art and possesses a large and valuable collection of pictures.

6. Alwar School :

The Alwar school, though not very old, is an imortant one. The state was founded by Pratap Singh Naruka in 1775. He was succeeded by Bakhtawar Singh. These two rulers were busy in establishing their rule and administratin. However, they did not ignore patronage of are and literature. During their rule Dal Chand, Baldeva and Salig Ram were great artists, Dal Chand was an artist of Rajput school and served during the time of Pratap Singh, Baldeva excelled in Mughal painting and was a protege of Bakhtawar Singh. The greatest patron of the art of painting among the Alwar rulers was Bijai Singh. His court was adorned by number of

poets, painters and authors. Prominent among the painters were Gulam ali, Baldeva, Ganga Bishan and Kishan. Gulam Ali had served the imperial government and had migrated to Alwar when power of Delhi declined, Binai Singh was a great admirer of Baldeva and used to take lessons from him in the art of painting. Baldeva had a seat in the Darbar and was respected as a noble. It was during the reign of this ruler that Gulistan of Sadi was illustrated by the master artists like Gulam Ali Khan and Baldeva, who followed the Indo-persian style. Binai Singh's half brother Baldeva Singh, who held the Jagir of Tijara, was a great lover of painting. Among the painters whom he patronised were Balesh Ram, Jamna Das, Chhota Ram, Baksha Ram and Nand Ram. The Durga Saptshati was illustrated under his patronage by these artists. The illustrated Gulistan, the Durga Saptshati another pictures prepared at Tijara are now preserved in the Alwar Museum.

Binai Singh was succeeded by Shiva Dan Singh. During his time the art of photography had made its appearance and he himself was greatly interested in it, but he took an equal interest in the art of painting as well. During his rule Mangal Sen, Nand Ram and Budha Ram were well known artists. Shiva Dan Singh was a comfort seeker and led the life of ease and luxury. He had paintings prepared of several dancing girls in various attractive and artistic poses. Shiva Dan Singh was succeeded by Mangal Singh who was educated at the Mayo College and, therefore, had very little interest in the art of painting. But the tradition of the patronage of the fine art continued by mere convention. There are about one dozen skillful artists in his times who adorned the walls of Shish Mahal at Rajarh with their frescoes. These paintings are the work of Budha Ram, who was also a great expert in drawing the pictures of animals. Maharaja Mangal Singh was a great shikari and, therefore, had good many paintings prepared, depicting the shikar expeditions, scenes and moods and poses of wild animals. The Alwar Museum has a gallery of pictures both of Mughal and Rajput style. There are some paintings of Jaipur school also and a few of Mewar, Marwar and Kota style. The Alwar school is infact a continuatin of the Jaiur school and the collection in the Museum represents almost all the subjects which we find in the Pothikhana of Jaipur.

7. Bikaner School :

Bikaner school of painting began to develop in the time of Maharaja Rai Singh, who brought home excellent sets of miniatures from Amber, Jodhpur and Udaipur. Most of them being illustrations of Bhagwat Puran and Rasik Priya and a fascinating Raga Mala. Under the succssor of Rai Singh a

number of artists of Rajput school found employment at Bikaner and produced numerous miniature & of great excellence. The pictures prepared under the patronage of Raja Karn Singh are of exquisite beauty. Under Anup Singh there was a remarkable revival of the art of painting and the Bikaner School developed to perfection. At about this time Aurangzeb had dismissed a number of artists who found employment under Anup Singh. Among them was Ruknuddin, a notable figure among the artists of that period. He prepared Mughal paintings of Hindu subjects. His subjects were historical events, royal couples retirement of princesses, devotions in time of crisis. After the death of Anup Singh very little was added to the collection of miniatures or palace frescoes.

The paintings in the early eighteenth century were almost completely Mughal and hence we find Gods appearing like Zenana girls in fancy dress. The Rajput style appeared in the second quarter of the century. It is represented in the beautiful doors of the Sajjan Mahal. After this the Mughal influence again revived. We find it in Phool Mahal, Chandra Mahal, Anup Mahal.

Besides the Palace collections Seth Motichand Khajanchi of Bikaner and Shri Agarchand Nahta of the same place possess excellent and important collections of paintings. The collections of Mr. Khajanchi represent all subjects and schools. Nahtas, collection relates mostly to Jainism. His collection of Vigyapti Patra is specially remarkable.

8. Bundi School :

His Highness of Bundi has a large collection of paintings in his possession. There are probably as many as 700 miniatures produced in the seventeenth, eighteenth and nineteenth centuries under the patronage of the Bundi rulers. Good many pictures bear the names of the painters. The collection is very well preserved.

9. Kota School :

At Kota there are excellent wall paintings in Badal Mahal and Amar Niwas, and quite a number of them also in Jhala Haveli inside the campus of the old palace. His Highness's collection of paintings is not very large but hundred of them are excellent miniatures representing various love and erotic scenes. In the Saraswati Bhandar there are some illustrations of Manuscripts like Kadambari, Bhartriharishataka and Hitopdesha. Another important collection is of Diwan Bahadur Seth Kesari Singh. It consists of some important historical miniatures, some pictures of Ragmalas, Barahmasa and miscellaneous subjects both religious and secular.

❑

RECOLLECTIONS OF DR. M. L. SHARMA

— Dr. C. M. MATHUR

My first opportunity of meeting the distinguished personality of Dr. Mathura Lal Sharma in Janurary 1945. The occasion was the visit of Dr. Sarvapalli Radhakrishnan, the then Vice Chancellor of Benaras Hindu University, to Herbert College, Kota. I was studying in this college in the XII class. The students union of the college had been formed for the first time in 1944-45 and I was its first elected chairman. I was given the proud privilege of welcoming the visiting dignitary who was coming there on the invitation of His Highness Shri Bhim Singh of Kota State. The purpose of his visit was probably to consider the upgrading of Herbert Intermediate College to a degree college.

The responsibility of delivering an impressive welcome address to such an august gathering was indeed an onerous one. I prepared the same under the able guidance of my respected father Shri Behari Lal, renowned teacher. But as the time of delivering the address drew near my excitement and enthusiasm added to the butterflies in my stomach. The Principal of our college Shri B.D. Batta came to my aid with the suggestion of rehearsing my speech with Dr. Mathura Lal Sharma, the Vice Principal of the college.

Under Dr. Sharma's skillful supervision, the ray of hope turned into a halo of applause. My address was a complete success. A young boy of 12th class was personally congratulated by His Highness, The Prime Minister and Dr. Radha Krishnan in the presence of the principal Dr.Mathura Lal ji Sharma. It was a thrilling and exhilarating experience and I was overwhelmed.

Dr. Sharma's skills at oratory and public speaking were superb and he shared them with me in the most unpretentious and unassuming manner. In fact it was this quality of Dr. Sharma's personality which inspired all those who came in contact with him. His kindness of all those who were fortunate to meet him and I was definitely one of them.

Herbert College became a degree college in 1945 and Dr. Sharma became the principal. I continued my studies there in the science stream and also continued to take lessons from him in public speaking and oratory. Under his dynamic leadership, extra curricular activities also flourished in the college along with an excellent academic environment.

Dr. Sharma's high esteem in the academic circles won for the college the honoured credentials of participation in the famous Sir Panna Lal Memorial English Debate. This debate, in these

days was open only to the Post Graduate Colleges of the Agra University. We were given the chance of participating in the same and once again I was chosen to represent the college. The debate was held in the Senate Hall of the Agra University in February, 1946 and the topic for discussion was 'Principles and not the Personalities rule the world.' It was then, an era of world personalities like Churchill, Roosevelt, Hitler, Mussolini and Stalin with their different principles and ideologies. Dr. Sharma supervised my preparation and himself came to Agra. He felt very happy when he learnt that the juniormost student of his college ranked third among 40 senior participants.

After graduation from Herbert College, Kota in 1947, I joined M.Sc. at Agra College, but my contacts with Dr. Sharma continued. In the meantime, India became independent and Rajasthan state was constituted in 1948. Shri Abhinn Hari, a prominent public figure of Kota state was included in the cabinet. In early 1949 Shri Abhinn Hari paid a visit to Herbert College. I happened to be at Kota during that period in the holidays. Dr. Sharma called for me from my home and introduced me to Shri Abhinn Hari as the first B.Sc. graduate of the college. I was honoured by this praise so generously, showered on me by Dr. Sharma and made up my mind to live up to it always.

Later in 1949 I was selected for Forestry Training at Indian Forest College, Dehradun as the only candidate from Rajasthan state. I always feel indebted to Dr. Sharma for the interest he took in shaping my career. The course at Forest College was very tough and Dr. Sharma wrote to me occasionally giving lessons on hard work, perseverance and extensive reading habits.

Dr. Sharma's stature rose rapidly and by 1961 he had already held the honourable posts of Vice Chancellor of University of Rajasthan Director of Education of the state. A book on the occasion of Forest Centenary was to be published by Government of India in 1961 giving an account of 100 years of forestry. I was given the responsibility of writing a chapter on the "History of Forestry in Rajasthan" for this book. I approached Dr. Sharma for his advice and guidance. His versatile knowledge of history of and discipline was vast, consequently he gave me the valuable suggestion of reading Col. Todd's memoirs of journeys through various princely states of Rajputana, and many other books and pamphlets on the related subjects. With his assistance I could contribute successfully, satisfactorily and substantially in the chapter on Rajasthan.

It was a pleasant co-incidence when Dr. Sharma's eldest son Dr. Madan Mohan Sharma was posted in Udaipur as Prof. of surgery in 1972-75. I was also posted at Udaipur as conservator of Forests during this period. Earlier also in 1954, Dr. Madan Mohan Sharma and myself were together at Bundi. My stay

at Bundi and Udaipur gave me the opportunity of continuing my contact with Dr. Sharma. I remember one particular incident of this period. There were many students of Hadoti region in RNT Medical College, Udaiur. During one of Dr. Sharma's visit to Udaipur he expressed the desire to meet all the Hadoti students of the Medical College. Promptly a Hadoti get together was arranged in the premises of the medical college and I also participated in it. Dr. Sharma enquired about the names of the fathers and grandfathers of all the students. It was a pleasure to note that he knew the families of most of those students of Kota. This incident highlights his love, concern and affection for the younger generation of the Hadoti region.

During my posting in Jaipur in 1976-78 Dr.Sharma invited us a number of times to his residence for tea. He enjoyed perfect health even at that advancing age. He was a regular early morning walker and this according to him, was the secret of his health.

I went to Jodhpur in 1978 and, therefore, could not meet the great personality of Dr. Sharma when he breathed his last. But the memories of my acquaintance with him are still fresh even to day. His sensitive and benevolent attitude remains ageless and flowers again and again in my mind. His quality of treasuring relationships, his warmth and generosity of spirit were contagious and therefore, he was liked by most of his acquaintances. He liked everybody and in return was liked by all. This probably would be the best epitaph for an inspiring person like Dr. Mathura Lal Sharma.

19 C, Gopal Bari
Jaipur- 302 001

Dulha Rai married a Dhundhar Princess

Dulha Rai married the daughter of Ralhan-si chief of Lalsot, now a small village, between Tonk and Deoli. Ralhan-si was a Chauhan Rajput, and the only chief of that clan in this area, other chiefs being of the Badgujar race. Probably the Badgujars treated him with disregard and indifference, and he felt that his position was not secure. In order to seek the support of a powerful chief against his Badgujar rivals Ralhan-si offered the hand of his daugthter to Dulha Rai of Gwalior. The latter was both brave and beautiful, and more than a match for any Badgujar princeling. In order to make Dulha Rai continuously interested in the affairs of Dhundhar, that is, the territory which later came to be known as the Jaipur State, Ralhansi gave him a part of his chiefship with half the town of Dausa. This town was then the capital of the surrounding districts which belonged partly to Ralhansi and partly to a Badgujar chief. The latter resided at Dausa and held under him half of the town. The other half belonged to Ralhansi but he continued to live at Lalsot and not at Dusa, obviously because his stay at Duasa would have meant a constant conflict. Probably he used to experience difficulty even in rurling the districts of Dausa which belonged to him. These reasons might have induced him to enter into a matrimonial alliance with the Kachhawa house of Gwalior and to cede his Dausa district and his part of the town to his son-in law. Apparently the offer of the rich dowry was irresistible and Dulha Rai accepted the alliance. and soon after his marriage began to feel keenly interested in his Dausa territory.

A MOVING INSTITUTION

- Dr. MALTI SAXENA

Dr. Mathura Lal Sharma, an eminent historian of India, was a moving institution. He embodied in himself all old values of discipline, courtsey, dignity, straightforwardness, integrity, punctuality, simplicity, dedication and helpfulness. A tall man with handsome personality, sheer intelligence and the qualities of head and heart, he rose from the position of an ordinary teacher to that of the Vice Chancellor and adorned many respectable posts such as Chief Secretary in Kota State, Principal Herbert College, Kota and Maharaja College, Jaipur, Director, College Education and Head of the History Department of University of Rajasthan and then Vice Chancellor of the same University. He also served as the elected chairman of the Municipal Council of Jaipur. He headed many committees, conferences, and seminars. But first and formost he was a professor in which career be shined brightly. He has written about 40 books on history including 15 translations, but his two immortal original works are' History of Kota State' and 'History of Jaipur State'. He guided several Research Scholars for their Ph.D. Degree in various disciplines such as Law, Political Science, Sanskrit, History, Economics and Jain Studies. He was a versatile genius. He was a regular columnist for 'Chand' magazine for 4 years and he was very fond of poetry, Galib and Jaffar were his most favourite poets. He never gossiped or wasted time in fruitless discussions but always kept himself busy in reading, writing or dictating anything. Even at the age of eighty-six he was quite active and kept himself busy from 5.30 a.m. to 9.30 p.m. He edited a tri-monthly journal of Rajasthan Historical Research for 20 years regularly.

His father Shri Kanhaiya Lal Sharma wanted to make him **Katha-Vachak** as in those days 'Katha-Vachaks' were highly respected and loved by village folk and they also received fairly good amount in cash and kind during their Katha session. He was sent to the village Pathshala. He was a very intelligent and hardworking boy. Impressed by his intellegence his teacher advised his father to teach him english as the days were fast changing. So he was sent to Baran and was put under the charge of an Englishman- an opium agent. Here he learnt talking in English but since the agent was not a teacher, he advised that as he was a very brilliant boy Mr. Mathura Lal be sent to a good school for education. Hence, he was sent to a known Kayasth family of Kota. He learnt decent manners of living and delicacy of speech in this family and also learnt Urdu. He was admitted to Herbert High School. He stood first in the 8th Class but his father died the same year. The

burden of supporting the family fall on his young shoulders. He took tution and taught children of his own class and earned money. And after passing the Matriculation he became a teacher in the school. He passed his B.A. as a Private candidate from Allahabad University. Sir Apaji Onkar Singhji, the then Prime Minister of K.ta State appointed him as a tutor for his.children. Here he came in contact with Rajput culture and learnt royal etiquettes. The children of Apaji Saheb were then sent to Benaras for higher education. For his sincerity, devotion and learning Mr. Mathura Lal was asked to accompany them as a tutor-guardian. This was a blessing in disguise for the young scholar. Here he accomplished himself with the highest academic degrees. Passed M.A. in History & Art & Culture. He received the degree of D.Litt. He was the first D.Litt. in history of the Benaras Hindu University. At Benaras he came in contact with many eminent scholars patriots and politicians of His time and he maintained contact with them till the end. After his return, he was greatly honoured and His Highness Kota appointed him as Chief Secretary and later he was appointed as the Principal, Herbert College.

He was married at the age of 18 years to Radha Devi, daughter of shri Ishwar Prasad Sharma a renowned vaidya and President of Arya Samaj of Ajmer. His wife a noble and pious soul devoted herself to household duties later on she fall ill and Dr. Sharma looked after her well. She died in August, 1981. She had four sons and two daughters. These children were well placed in life. His children respected him very much and heard him with all attention.

As a devoted Brahamin he always wear dhoti kurta at home and in office a pant, a buttoned up coat and a cap. he kept limited clothes and distribute old thing as soon as the new ones replaced them. He believed fully in motto of simple living and high thinking. He ran his household with dignity and comfort but without extravagance. He entertained lot of guests but all in a simple modest fashion.

The professor had a well disciplined personal life. He was extremely regular in habits. He got up at 5.30 in the morning had his prayers and took a regular morning walk for a hour then his simple breakfast at 8 a.m. At 1 O'clock in the noon he would take his lunch. At 4.30 p.m. tea with snacks and 7.30 his dinner. He took nothing in between. He was a staunch vegetarian and never took garlic or onions. But he use to remember that once at Benaras he had eaten fine onion pakoras and onion- kheer. Without knowing that they were of onions. Though he was an Arya Samajist the influence of his sanatanist parents was great on him. He used to read Ramcharit-Manas daily before retiring to bed and took only three months to complete a sampurn path.

Due to regular habits he had a sound health. He could walk erect straight as a pillar even at the age of 86. He never complained of any minor ailment. He

was fond of sweets but due to diabities he rarely took a small piece of sweet. He would use saccharin for tea or milk. He had an attack of thrombosis in 1966 and a paralytic attack in 1978 but he never lost hope and started his daily routine again as soon as he recovered. He was a man of extreme valour, courage and firm determination. He never became disturbed even in odd circumstances and tried to face the problem with calm and courage.

Dr. Mathura Lal was a great committees man. He headed innumerable committees and conference in his long and distinguished career. His endeavour was to bring parties together and produce a consensus. He had the art of getting thing done in a fashion he wanted but never imposed his will on others. He was very good orator and could talk on any subject. His speeches were a combination of information and knowledge, humor and wit but short and simple. He had a very sharp memory and could recite long verses from English, Urdu, Hindi, Sanskrit, Persians verbturm. He could lecture-extempore in Sanskrit, a task difficult even for sanskrit scholars. Hence he was invited in all the academic functions of the town and was asked to preside in many of them. He received many felicitations in the form of 'Abhinandan Samaroh', 'Manpatra', 'Prashastipatra' etc. Rich tributes were paid to him on these occasions.

He entertained visitors at his residence. He would listen to their problems patiently and promised them to do the best he could if it was a deserving case or expressed his inability in a frank but charming manner. His meetings were brief. He never wasted time. He mastered the art of taking leave of the visitors as soon as the purpose of the visit was over. But he liked the company of scholars and students and talked with them at length on concerned issue.

Even after retirement he maintained a well organised office. With a Clerk cum Accountant and a Steno Typist for dictation. He had a very fine collection of books not only of history but of all subjects he was interested in. Daily he replied the letters received by him. He published Rajasthan Historical Research, Journal and wrote articals in it regularly and encouraged his students and scholars to contribute papers on some or the other aspect of Rajasthan History. Thus his contribution was great in revealing Rajasthan's history. He remained busy throughout the day either in reading or writing or dictating or guiding scholars. He was a hard task master and wanted that every work must be finished well in time without any delay or excuse by others too. This routine he continued till his end far & wide. Dr. Sharma maintained contacts with all his friends and former renowned students. He would visit their houses whenever he visited their towns and took keen interest in their personal welfare and solved their problems enthusiastically. He made lot of friends and admirers in his long and distinguished life. He had won the

esteem of all those with whom he came in contact rich or poor, young or old, high or low alike. He was greatly honoured and extremely loved by his admirers and students. Discipline, sincereity and puncutality were the qualities he valued the most. He died at a ripe age of 86 on April 1, 1982 after 2 days illness. In his death the country has lost aneminent historian, a renowned scholar and a great teacher dedicated utterly to high values of life. His life will inspire all of us as he was a monument of the finest tradition of great teachers. His memory will be cherished long by his students and admirers as an outstanding scholar and a lovable gentle-teacher.

Associate Professor
Department of Economics
University of Rajasthan.

❑

Sawai Jaisingh founded Jaipur 1727

Sawai Jaisingh was not only a great general and diplomat but also a great builder. The city of Amber was beautified by noble edifices by Raja Mansingh. But Jaisingh wanted to build a still more beautiful city, better planned and better designed. He laid the foundation of a new palace called Jai Niwas in 1725 and two years later, precisely speaking on the 18th November 1727, he began to build a new city round it, which he named Jainagar after himself. Later it came to be known as Sawai Jaipur and then popularly shortened into simple Jaipur. The city was planned by a Bengali Brahman, named Vidyadhar Bhattacharya, who had made a close study of the art of town-planning in ancient India through the study of sanskrit books on architecture. Two years later in recognition of his services, Vidhyadhar was appointed Revenue Minister and still richly rewaded after five years for the construction of a seven storeyed palace. He obtained rich rewards on various occassions. His son Murlidhar also was a minister and held a jagir of Rs. 5000 a year. Murlidhar's son was Lakshmidhar who also occupied an important position in Government service. Vidyadhar's name is perpetuated by a street named after him and stretching in the middle of the city. There is a garden two miles south-east of the city, which is named Vidyadhar ka Bag.

MY TEACHER

— Dr. V.S. BHATNAGAR

I had the honour to be one of the early research student of Professor Mathura Lal Sharma having worked for the Ph.D. degree under his guidance during 1956-59. I recollect that I had the privilege to hear him for the first time in 1954 when he was delivering a lecture in the imposing hall of the Maharaja College, Jaipur. By that time, he had already acted as the Vice-Chancellor of the University of Rajasthan. He was a gifted orator and kept his audience spell bound by the wide range of his knowledge and sonorous voice. He was one of those rare scholars who could talk on Kalidas, or Shakespeare, or Abul Fazal or Macauley with equal erudition, ease and grace. His knowledge of the Vedas, Upanisads, the two great epics and Jain and Buddhist literature was profound. His speeches were full of interesting anecdotes, sophisticated satire, and deep knowledge of the subject.

When, after passing M.A., I requested him to enrol me as a research scholar under his guidance, he told me to go home and write twenty to thirty pages on any historical subject of my choice. I happened to choose the later Mughal period. After a few days. when I showed him what I had written, he seemed to be satisfied and permitted me to get the topic registered and commence work in his library. Thus I began research on **The History of Rajputana during the Eighteenth Century (1700-1743 A.D.)**

I based my work mainly on the archival sources and adopted an integrated style which obviated the treatment of the history of this period state wise. He was happy when the work was approved by Professor Kalika Ranjan Kanungo and Professor Hari Ram Gupta, both being disciples of Sir Jadunath Sarkar in 1959. It was out of this work that years later **Life and Times of Sawai Jai Singh** emerged in 1974, which gave him much happiness and satisfaction.

About this time, Doctor Sahib founded the Rajasthan Institute of Historical Research which was soon recognised as a research centre by the University of Rajasthan. He also began to publish a quarterly journal to which scholars and his students began to contribute regularly. He was very particular that the Journal must appear on time and sometimes when the papers did not reach him by the specified date, he would write for the Journal from end to end. He had a remarkable grasp over the entire history of Rajasthan and could write as authoritatively on the ancient archaeology of this province as on the medieval or modern periods of Rajasthan's history.

Doctor Sahib was not in the habit of recounting his personal life and matters but occasionally when in a remniscent mood he would tell us about his childhood. He was born in a small village in the former Kota State. The family apparently had very modest means and he walked several miles every day to attend the school. Many a time, he studied in the light of a nearby lamp post. Later he was appointed as tutor to the children of Palaitha chief. When the children grew up and went to Benaras Hindu University for high studies, he was sent as their guardian-cum-tutor. At Benaras, he continued his studies and took his D. Litt. degree from there. Professor A.S. Altekar was his contemporary there and the two came in close contact. Even when Doctor Sahib was Chief Secretary of Kota State, his love for History remained undiminished. His History of Kota in 2 volumes was the first work in which the contemporary papers of Kota Archives were used. The work still remains the basis for any further research on any aspect of that state which played an important part in the history of India since the days of Shahjahan.

Doctor Sahib had a wonderful command over a number of languages, especially Sanskrit, English and Hindi. He studied the Persian and Marathi works in original. He had great potential as a scholar and writer and would have contributed much more in the field of original research but he sacrificed his own personal interests, unlike most of the scholars, to help others, modestly provided by nature, to attain excellence, or at least some measure of success in life, and in uplifting their spirit, so that they might have with Hartly coleridge:

Let me not deem that I was made in vain

Each drop uncounted in a storm of rain

Hath its own mission, and is duly sent

To its own leaf or blade, not idly spent

'Mid Myriad dimples on the shipless main.'

Doctor Sahib was par excellent as an orator and his subtle humour, art of narration and satire, for he was a person of strong likes and dislikes, left a deep impression on his listeners. It was interesting to see that he was more generous and helpful to those who were the object of his satire than those who were the recipient of his commendation. Perhaps the reason was that Doctor Sahib kept malice towards none though he was very sensitive about his self respect or rather the respect which the society owes towards the teachers. There are many ancedotes of the stunning rebuff he administered to the Vice-Chancellors, politicians, Registrars and senior administrators who dared to interfere with his autonomy as a teacher and showed temerity to adopt a patronising attitude towards him. With the peons and others, he would be very considerate and generous. Such was his awe, dignity of personality, wide learning and ready

knowledge that I never saw anyone dominating conversation in his presence, despite his innate kindness and affability.

Doctor Sahib was a follower of Arya Samaj, but it seems to me that during the latter part of his life his feelings for those who believed in **sagun bhakti** had mellowed a great deal. Till almost the end of his rich life, he continued to guide research students. He belonged to that old generation of grand professors profoundly learned, extremely dignified and sensitive about their selfrespect, stern disciplinarians and tenderly looking towards their students— which has almost vanished to day. He was truly an ornament of Rajasthan and generations of students and scholars were benefitted by his wisdom, learning and generosity. He will continue to be a source of inspiration to other for a long time to come.

❑

Polygamy among Rajputs

The Rajputs are often criticised and even ridiculed for their polygamy by those who, under the influence of Christian doctrine of strict monogamy, consider the polygamous system as atrocious. But they forget that what really counted in the medieval times was man power, men whose devotion and loyalty could not be questioned; and who could be expected to be more loyal and devoted than one's own progeny, one's kith and kin? It was this political and military necessity which was responsible for the prevailing polygamy among the Rajput chiefs. It is well known that the undaunted and indomitable Chhatarsal Bundela had married about two dozen wives who bore him more than one hundred sons, and they formed his personal bodyguards. This is why he was such a great terror to the merceneries of the Mughal army. It was this type of blood which kept hundreds of Rajput soldiers so closely attached to the heads of their clan, and which drove them to desperate and heroic deeds in battle fields. In the battle of Dharmat in 1658 fought between Aurangzeb and Shahjahan's generals, Mohan Singh Hada, ruler of Kotah, led and commanded his own forces which consisted of three thousand strong, and which included his four brothers and four hundred Hadas who were proud of a common ancestory. When Mohan Singh fell fighting in the battle, his followers fought with surprising valour and courage. His four brothers fell on the very spot where he had fallen and the four hundred Hadas, anxious to give proof of their devotion and affection for their brother lord, sacrificed their lives fighting a desperate action and formed a heap of the dead and dying on his corpse. Such dreadful spectacles of deeds of deep devotion were witnessed many a time also in the history of the Kachhawas.

Shining Star among the Galaxy of Historians

Dr. Beni Gupta

It is really interesting to study the History of Rajasthan which is full of brave deeds and sacrifices. It remained neglected till 1829 when Col. Todd's monumental work Annąls and Antiquities of Rajasthan appeared. He was followed by other Historians who threw light on its history. The learned Charan writer Suryamall Mishran wrote 'Vansha Bhaskar' in 4th volums. He was a genius of uncommon intelligence. He gives long descriptions of the History of Bundi. He has written about wars and peace, chivalry and heroism, astronomy and astrology, philosophy and religion, culture and civilization with equal ease. He pictured and portrayed the scenes and situations of wars and battles, as if he himself was present on the scene. He was a great patriot too. He had written letters to several chiefs and sardars to be assembled in 1857 against the British. We can not forget Mohnot Nainsi who gives us in full details the History of Marwar in his two books Nainsi-Ri-Khyat and Pargana-Ṛi-Vigat. He was the only author who preserved all the oral and the written traditions and all their version available to him at that time. He was well aware to all important revenue, administrative, geographical and social data. Then comes Rairaja Shyamaldas who makes us familiar with the History of Mewar. 'Vir Vinod' is full of historical evidences, actual versions of Mughal fermaans and the administrative scriptures. Here and there the history of other states related to Mewar is also described. He made full use of the administrative records of Mewar state. Dr. G.H. Ojha the curater of Ajmer Museum added the study of inscreiptions to history. He published 'Prachima Lali Mala, in 1894 A.D. and history of ancient Rajputana in 2 vols. Later histories of various states of Rajputana, Udaipur, Jodhpur, Bikaner, Sirohi, Banswara, Dungarpur & Pratapgarh were published in seperate books in 16 years i.e. from 1924 to 1940 A.D. He established himself as a renouned scholar not only in India but abroad also by publishing hundreds of articles in various historical journals and magazines. A collection of these articles are published by Sahitya Sansthan Udaipur in 4 volumes. Benaras Hindu University bestowed on him the degree of D.Litt in 1937 A.D.

Visheshwar Nath Reu a Kashmiirian-by birth served in the state of Jodhpur, wellversed Sanskrit English and Hindi was pioneer in epigraphy and Numesmatics. He rebuted several times the persian chronocler's statements and

eulobised the rulers of Marwar. Dayaldas the convent poet of Bikaner wrote his khyat. He was an authority not only on Bikaner but also the neighbouring states. Maharaja Bikaner— studied the fermaans pattas and parwanas, romshavalians and the old administrative records of the state. His books 'Bikaner-Ri-Khyat, Desh Darpan and Arya Kalpadrum are worth studying to know the History of Rajasthan. Diwan Bhadur Harvilas Sharda was well known author of Ajmer Historical descriptives (1911 A.D.) He made use of all available material political, economic, social, religious and cultural heritage in his book. His other books are Maharana Sanga (1924 A.D.) and a brief monograph on Maharana Kumbha and english version of Prithvi Raj Vijay and the life of Vishaldeo of Ajmer.

Dr. Dashrath Sharma presented a good picture of the Chauhan dynasty in his book the Early Chauhans and the result of his deep study reflects in his book Rajasthan Through the Age (up to 13th Century) Pt. Ganga Sahai, Lalja Ram Mehta were the scholars of Bundi whose Vansha Prakash, Ummed Singh about give factual information about the political, social and literacy environment of Bundi state, Munshi Mool Chand of Kota in his book 'Ahawal-i-Raj (in Urdu) gives simple facts based on his visits to various historical places of Kota state. Thakur Laxmandas 'manuscripts about the history of Kota state also wrote noticing. Pandit Ram Karan Munshi Devi Prasad did a lot to study the History of Rajasthan. But these books on history of Rajasthan and a large number of appeared in 1947 were monthly, the official versions of a particular state of the states situated nearby. History writing was mostly an art of collecting material and furnishing details like a biographer or the record keeper. Though it is not denied that they opened new vistas and gave new guidelines for more scientific and critical research, which was the new art just started in writing history after independence. A number of scholars came forward to take up this challange and started discovering the great part of Rajasthan. Dr. Mathura Lal Sharma, Dr. Satish Chandra, Dr. G.N. Sharma gave new guidelines to modern researchers in the field of socio-economic religious and cultural history of Rajasthan. Dr. Pushpa Suri gave us a new book 'Social conditions in 18th century Nothern India, Dr. K.C. Jain has written Jainism in Rajasthan and Dr. K.C. Kasliwal's Jain Granth Bhandars. Dr. G.N. Sharma's 'Social Life in Rajasthan' and Dr. Beni Guptas' Religious in Rajasthan up to 12 Century threw new light on Rajasthan History. Recently Capt. Bhismpal published 'Historic Rajasthan' (1974) J.N. Asopa 'Origin of the Rajputs', R.V. Somani 'History of Mewar', G.D. Shauri's 'Rajput Polity'. Dr. Malti Saxena

'History of Mewar', Dr. Malti Saxena's 'Impact of British Sovereignty and Economic Conditions in Rajasthan. Dr. R.N Verma's 'Constitutional Law in Ancient India', Dr. Krishana Swaroop's 'The State of Hindu Society in Sanskrit Literature.' Dr. Gyan Chand Sharma's 'Taxation in Rajasthan,' Dr. Archana Kulshrestha's 'Wall Paintings in Rajasthan. Moreover Dr. Mathura Lal Sharma has contributed thousand of articles in numerous journals and magazines covering all the aspects of Rajasthan History including political, social, religions, art and cultural progress.

Dr. Mathura Lal Sharma published two books: Kota Rajya Ka Itihas 2 Vols. and The History of Jaipur State and tried to fill the gap left by Dr. Ojha. He had an advantage of getting access to archives material in both the states of Kota and Jaipur. He was familiar with the minutest details of the administration in both the states. He was well in reading and writing the local dilect the Hadauti and the Dundhari. He could decipher the Marathi and Persian letters and the Fermaans in order to prove the authenticity of various problematic facts. As regards the deepness and vastness of ideas in the field of Rajasthan History he had no equal. He was a great scholar of Sanskrit also. He studied Vansh Bhaskar writtens by Suryamall Mishran in Dingal and constructed the authentic History of Bundi and Kota.

He studied the Maratha records of Kota and the Peshwa's of Poona and understood the secrets of Maratha Policy in Rajasthan. As a faithful son of Hadauti and a loyal resident of Jodhpur he threw light on hidden facts of the exploits of chivalarous Hadas and the statesmanship of the Kachchhawas and presented it in readable form his style was simple and was not affected by superflous verbosity and metaphorical guidelines. He was endowed with the gift of sharp memory and, therefore, did not give much importance to give footnotes to each and every fact. He writes about political history as well as the administrative setup along with the social and economic developments and literary and astronomical achievements and the cultural and artistic monumental edifices with accuracy both in Kota and the Jaipur states. He reveals the facts with ease as if he was the spectator himself. He translated a books from english to Hindi most important of them is Akbarnama by Abul Fazal. He wrote 12 books for students of higher classes. He was a learned professor who guided 40 research scholars for doing research in Rajasthan History as well as in Indian History. The subjects were scatterred to all the fields of political, economic, social, religious, art and architecture and paintings and administration. He published a quarterly journal under his able editorship from 1963 to 1982 which was known not only but in India abroad also. He was the honourary Director of

the Rajasthan Institute of Historical Research. As professor emeratus he was recognised as an authority on Rajasthan History every where.

He devoted to epigraphy and Numasmatics and his unbounded knowledge of Sanskrit, Prakrit, Dingal, Marathi, Bengali, Gujarati and Urdu, Persian and Arabic and pursuit of research made him an authority on Rajasthan History. He was a loving teacher and he had the profession of teaching to be a drain upon which the edifice of learning was built. He was a live encyclopedia on the History of Rajasthan. As Director of Education he tried his best to promote the cause of education itself and as director of Historical Research and Professor of History and first president of Rajasthan History Congress, he did a lot to promote the cause of Rajasthan History. While inaugurating the 9th session of Rajasthan History Congress held at Kota, the whole process of History and work done so far in research in Rajasthan History and pointed out the still left to be filled in by the learned scholars. As a comman man he always tried to give much importance to labourers, traders and artisins. In his books we find that the comman man is keeping out from ever corner. He appreciated the benevolent rulers. Who devoted their lives for the welfare of their people. Administrative reforms and agricultural reforms cover several chapters in both the books of Kota and Jaipur. he always studied orginal sources and never depended on secondary information. He was never satisfied with translation and always consulted the persians or the Dingal manuscripts where and whenever some controversy occured to fuse the authenticity of the facts. Several times he brought to light the unreliability of persian sources.

His expression of fact with accuracy and objectivity is really appreciable. He was a versatile man of letters endowed with intellectual integrity and sharp memory.

In his personal life we was humble and simple but loved self-respect more than anything else. He was passionately in love with Indian culture and civilization, that he did not like to deviate from it in the least. He could speak and write fluently and uniterruptedly in english because it was the language of the learned those days, but he spoke and wrote Hindi and Sanskrit with the same fluency without any hesitation. Hadauti was his mothertongue he talked with the Hadauti people in Hadauti. Hindi and Urdu were also his favourite languages. He was a staunch Arya-Samaji but never used language with others. He had respect for the learned Pandits as well as the Muslim Maulavis. He enjoyed Sanskrit books, Hindi and english poetry and the urdu poetry at the same time, he used to rewrite them whenever it suites his in his lectures.

Born in small village of Samaspur in the Tehsil of Baran in a respected

family of Joshi Pt. Kanahaya Lal Ji, Dr. Mathura Lal Sharma was a perfect teacher. He was proud of his profession and always left pleased to be called by the name of 'Master Sahib.' He was the founder member of the Rajasthan History Congress and was its first president in the session held at Jodhpur in 1966. His Presidential address was really a monumental mark in the path of the study of Rajasthan History. His inaugural address in its 9th session held at Kota was also memorable one. He serveyed the whole history of Rajasthan and pointed out the gaps which are to filled by the learned young historians. He paid a glowing tribute to all the vetern historians of Rajasthan and inspired the future generations to work-hard for the cause of history. His commemorative volume will be a fitting tribute to them. Dr. Mathura Lal Sharma was the most shining star among the galaxy of the Historians of Rajasthan.

The writings of Dr. Mathura Lal Sharma shed their buster in the wake of modern studies. He excels even Dr. G.H. Ojha. We are really proud of him. Modern researchers are indebted to him for the guidance given in their valuable attempts.

❑

Ishwari Singh Commits Suicide

When Ishwari Singh was informed that the Holkar had arrived within 20 miles of the city, seeing no help and in utter despondence he swallowed poison and also caused a cobra to bite him at the dead of might. Three of his queens and a favourite concubine, who came to know the secret, also took poison along with him and all the five of them sank into eternal rest in the silence and seclusion of the palace chamber.

Next day, Holkar and Gangadhar appeared before the walls of Jaipur, but hours passed without any sign of activity. At last, at noon a personal attendant disclosed the secret that Maharaja Ishwari Singh was no more. The cremation ceremony was performed after sunset in the palace garden. Twenty-one more ranis of Ishwari Singh became satis with him, thus did Ishwari Singh sacrifice his life, along with his so many ranis, to the relentless demand for money by the decani free-booters, who only a decade ago were boasting of establishing the 'Hindu Pad Padshahi.'

— History of the Jaipur State

PRINCIPAL M.L. SHARMA : AS I KNEW HIM

— Triloki Das Khandelwal

All teachers may be respectable but there are very rare of them whom students remember in their later lives. In fact, this is the only true criterion of a right kind of teacher, who survives the memory lane and to whom the students feel grateful when he is physically no more to guide or inspire them.

Professor M.L. Sharma was a very unique kind of a teacher with extraordinary qualities of high scholarship and self-disciplinary administration. He come to Maharaja's College, to Premier Post-Graduate Educational Institution of Rajasthan, from Kota in turbulent times but was a successor of another legendary Principal Late Shri K.L. Varma, whose shoes were too big to step for an ordinary mortal. Principal Sharma, popularly known as Mathura Lalji, was a distinguished son of Hadauti and had a rare distinction of teaching the Royal family of Kota. Simple, unassuming, jovial and always full of disarming sarcasm Principal M.L. Sharma was an erudite historian of International repute. A traditional cap over a bright Neck-tie characterised his attire, but whenver he got up to speak on subjects pertaining to his area of classical learning, he left his audiences spell bound by the charm of his personality expause of his erudition and above all the eloquence and humour in his voice.

I was privileged to know Prof. M.L. Sharma in a very embarrasing capacity as an elected Honorary Secretary of Maharaja's College students Union in the year 1951-52. Unlike, the Students Union of Today, though I was directly elected but I could never dare to don the mantle of a threatening Student Leader before an all-revered Principal, whose feet I never forgot to touch in every encounter. To me he was a teacher first and a teacher last. But it was his magnonimity and graciousness that he extended extra kindness to an ordinary student like me, the like of which thousands must have come in his academic life spanning over decades. He was a teacher figure to us all and it was inconceivable that we could think of a student demand, which an affectionate teacher of his understanding will ever say No.

In fact, his style of saying 'No' was so pleasant and disarming that one felt more respectful to him. He was an unquestioned and unquestionable guardian of all those who sat at his feet and honestly felt that they knew very little about their ownselves.

It was my rare good fortune that I remained in close touch with Prof. M.L. Sharma even in my later life, especially

when he was elected as Chairman of Jaipur Municipal Council— a highly respectable public figure in Rajasthan as he was, he played this new role in local politics with equal distinction and brought an imprint of his personality on the Local Governance of our Pink City of Jaipur, which he loved quite dearly.

Prof. M.L. Sharma was a versatile person of varied virtues and tastes. He represented his Age in its wholesomeness and made valuable contribution in all those fields, where he was invited to play his role against odds. He was a colossos hailing from a humble origin but the tormenting past never precluded his rosy visions of future. His critics used to maintain that he was too scholarly a person to act as a strong disciplinarian but as students and union leaders we all knew by experience that he may not take punitive actions against erring students but a mere wrinkle of sadness on his countenance was a punishment, powerful enough to coerce us to mend our ways.

I cannot recall any untoward event of my tenure as Secretary of the Students' Union causing bitterness or disrespact to his person. We fought our student battles at our own levels and respectfully avoided to enter his office even with a request what to speak of a demand.

Remembering Principal Mathura Lalji is like remembering your own Patriarch in the family. His glowing face with radiant smile used to greet everybody. Memorable Urdu couplets or pungent comments in Sanskrit used to ooze out from his heart only when someone amongst us provoked him by being ridiculous. He was a sage among teachers and a mighty teacher of the sages of his times.

Former students of my generation owe a life-time debt to teachers. He made my life richer and I should prove worthy of his teachings and disciplehood has inspired me the serve society and the country in my own humble way. The power of his character and the charm of his simplicity were the twin virtues which influenced me most and I have assiuidously strived to emulate these virtues within the given frame of my limited capacities.

Time flies and memories of student days flash like a dream.

It is incredible that societies, people and professions change so much and so fast in a brief span of four decades. As a historian of repute, Prof. M.L. Sharma used to tell us jokes about historical personages of the past. Today most of these wise sayings apply on his own historical figure of our times. Naturally, small men like us who had the privilege of being closeted with these stalwarts can genuinely take pride in reminiscancing that "We saw them in flesh and blood". May His Soul rest in Eternal Peace. ❑

Comments of Mr. M. HIRIYANNA on the Research Work– "History of Indian Magical Beliefs & Superstitions" by Mr. M. L. Sharma

The research work of Mr. M. L. Sharma starts with a general statement of the current theories on the subject, and, after enunciating a new and quite plausible view regarding the origin and place of magic in comman life, sketches its history in India from the earliest times, the account being somewhat comprehensive in the later chapters than in the earlier ones. It is throughout written in an easy and flowing style, and is illustrated by a wealth of example which indicate a wide range of study. The examples are all classified and are often interpreted in a clever and convincing manner. The last chapter where the place of magic in modern Indian life is treated of in reference to one province represents the result of what may be described as the 'Field -Work' done by the candidate. It gives ample evidence of his capacity for carrying on indepedent investigation. The treatment of the subject is also comparative in some measure. I have only two criticisms of a general character to make :

(1) There is nothing like a 'Budhistic Period' in Indian History. It partly overlaps the Sutra Period and rest of it dealt with in Chapter VII was not exclusively Buddhistic as there was more than one Hindu revival of great consequence then. Much the same criticism also applies to the title of Chapter VIII– 'Tantric Period'. This division is probably responsible for the small place which the Epic find in the thesis. As repositories of popular customs and beliefs, these Epics, especially the Mahabharata, deserve a better place in it.

(2) The bearing of the growth of the 'Darsanas' upon magic might have been pointed out specifically. Rationalistic systems like the 'Nyaya' and Systems like the 'Advaita' which commend 'Jnana' as the chief or the sole means of reaching the goal of life have largely checked its spread at least in certain levels of the society. Other doctrines like the 'Yoga' and the 'Mimamsa' have retained magical elements but have considerably refined their conception. □

DR. M.L. SHARMA As An Author

Dr. Mathura Lal Sharma was an author of 22 books. In which two are the original books (1) Kota Rajya Ka Itihas 2 Vols. and (2) History of Jaipur State. 9 are translations out of which 8 were translated from English to Hindi and one from Hindi to English. While 8 books are helping books for students. There names are as follows :—

1. **Kota Rajya Ka Itihas**
2. **History of Jaipur State**

TRANSLATIONS

1. History of Europe — Lipsen
2. Shershah — Qanungo
3. Tuzuk-E-Babari —Babar.
4. Akbarnama — Abul-Fazal
5. Wakyat-i-Jahangiri — Jahangir
6. Down Fall of the Mughal Empire — J.N. Sarkar
7. History as Told by its Historians — Illiot & Dowsen (8 Vols.)
8. History of Modern India — Tarachand
9. Bahirang Yoga — Swami Yogeshwara Nand

BOOKS FOR STUDENTS

1. Pracheen Bharat
2. Bhartiya Sabhyata Aur Sanskriti
3. Mughal Samrajya Ka Udaya and Vaibhava
4. Mughal Samrajya Ka Patan
5. Marathon Ka Itihas
6. Peshwaon Ka Itihas
7. Europe Ka Itihas
8. International Relations up to 1919·
9. International Relations up to 1945
10. International Relations up to 1965
11. International Relations up to date till 1981 (Unpublished)

Research work under the Able Guidence of Dr. M.L. Sharma

1. Dr. K.C. Jain — Jainism in Rajasthan
2. Dr. R.P. Shastri — Jhala Zalim Singh
3. Dr. K.K. Maitra — Terrorist Movement in India
4. Dr. K.S. Gupta — Mewar and the Marathas
5. Dr. Y.S. Bhatnagar — Sawai Jai Singh (1707-1743)
6. Dr. K.S. Rajora —War and Diplomacy in Rajasthan
7. Dr. H.C. Tikkival — Jaipur and the Later Mughals
8. Dr. P.S. Chaudhari — Rajasthan between Two World Wars
9. Dr. B.D. Sharma — Udaipur and East India Company
10. Dr. Krishna Swaroop — The State of Hindu Society in Sanskrit Literature
11. Dr. Nirmla Acharya — Administration of Jodhpur State
12. Dr. Malti Saxena — Impact of British Sovereignty & Economic Condition in Raj.
13. Dr. B.P. Arora — Budha Singh and Ummed Singh of Bundi
14. Dr. B.P. Gupta — Growth of Administration in Bikaner
15. Dr. K.C. Kasliwal — Jain Granth Bhandaras
16. Dr. D.L. Paliwal — Udaipur and the British
17. Dr. R.G. Sharma — Political Thought and Institutions in Mahabharat
18. Dr. J.C. Kukkar — Freedom Movement in Rajasthan
19. Dr. R.N. Verma — Constitutional Law in Ancient India
20. Dr. S.P. Srivastava — India under the Guptas
21. Dr. Shanti Bhardwaj — Arya Samaj in Northern India
22. Dr. R.K. Mathur — Paramountcy and the States of Rajasthan
23. Dr. S.C. Mishra — Maratha Rivalry in Rajasthan
24. Dr. P. Kalani — Politicals Cultural History in Rajasthan up to 11th Century
25. Dr. B.K. Joshi — Rajasthan in 13th Century
26. Dr. J.K. Gupta — Sawai Jai Singh and Bundi
27. Dr. Vijai Laxmi Bhargava — British Policy towards Major States of Rajasthan
28. Dr. Laxmi Bhatnagar — British and the Rajput States of Rajasthan
29. Dr. R.L. Sharma — Rajasthan under the Mughals
30. Dr. Gyan Chand Sharma — Taxation in Rajasthan
31. Dr. Aminuddin — Ajmer under the Mughals
32. Dr. Uma Bhardwaj — Culture of Rajasthan in the 7th, 8th and 9th Century
33. Dr. Banmala Kotia — Rajasthan and the British
34. Dr. Anil Rawat — Mansabdari System in Rajasthan
35. Dr. Kamlesh — Political & Cultural History of Rajasthan in Ancient Times
36. Dr. G.P. Pilania — Sawai Jai Singh and His Time
37. Dr. Madan Singh Chawla — Administration of the State of Kota
38. Dr. Archana Kulshreshtha — Wall Painting in Rajasthan
39. Dr. Saroj Pava — British Sovereignty and Rajasthan
40. Dr. Manju Singh — Political Rising in Jaipur

He Achieved Every Intellectual Honour

This is to certify that Pt. Mathura Lal Sharma, M.A., served as a paid & honorary teacher in various schools in Kotah State for about 7 years from July 1916 to February, 1923. He taught English and Hindi to the upper primary & middle classes and history & geography to the pupil teachers in the Normal School. He was a very successful teacher & always showed excellent results. He has also been coaching boys privately for the university examinations and the parents have always seemed highly satisfied with his work.

I have known him since he was a small boy in the school and have followed his career with great interest. Born of ordinary parents in a Brahmin family in the district, he owes nothing to birth or relatives and is entirely a self-made man. He is a living example of pursuit of knowledge under great difficulties. Where an ordinary mortal would have failed to pass even the matriculation, he has secured the highest degree that a university can confer on its alumni of extremely simple stes and habits and full of zeal for learning & knowledge, he has achieved every intellectual honour by dint of sheer industry, remarkable perseverence, and exemplary self denial. He is an example that can not fail to inspire a student struggling against adverse circumstances & constrained to depend upon his own resources. He is now nearing the end of his academic career and I have every hope he will soon make his mark in the intellectual world and benefit his country and mankind with his knowledge and high attainments.

Kotah, Rajputana
6th May, 1930

Director of Education
Kotah State

Well Spoken by His Professors

Mr. Mathura Lal Sharma who passed his M.A. in History in Second Division is well known to me. He has been a regular student in the Ancient Indian History and Cultural Department and has been well spoken of by his professors. He also attended some of my lectures in History this year before he appeared for M.A. He is intelligent, hard working and well read. He is also a person of good moral character.

S.V. Puntambekar
M.A. (Oxon), Bar at Law
Head of the History Department
Hindu University, Benares

Benares
19.5.1930

An Accomplished Speaker

Dr. Mathura Lalji Sharma, M.A., D. Litt., Vice Principal of the Herbert College, Kotah, was intimately known to me during my Prime Ministership of Kotah State. He has written a comprehensive history of the Kotah State in Hindi and I read it with much interest. Dr. Sharma is also an accomplished speaker in Hindi and English. Besides being a historian, Dr. Sharma is also a student of archaeology. He has been entrusted by the Darbar with the work of organizing a historical museum at Kotah. In view of his attainments and abilities I have no doubt that he will go far.

S.N.Mehta
I.C.S.
Prime Minister & Vice President,
State Council, Kotah.

Kotah
Rajputana
20th December, 1943

Sentiments Have No Place In The Historical Facts

My dear Dr. Mathura Lalji,

Many thanks for your letter of Feburary 19th which I received today along with the two volumes of your History of Kotah State. I am grateful to you for presenting me a copy of your work which appears to be valuable and I shall be glad to benefit from a study of your work as soon as I have a few spare moments for that purpose. I congratulate you for producing this book which must be the result of many months research and hard labour.

I remember our meeting each other at the time of the All Asia Conference at Benares in 1930. I have certainly heard of you, although it has not been my pleasure to meet you again and renew our acquaintance.

Many thanks for your appreciation of my book "Lord Hastings and The Indian States." You must have found it a rather dull and heavy reading. My period also touched the life of Raj Rana Zalim Singh who was the distinguished Prime Minister of the Maharao of Kotah in the first quarter of the last century and who later on with the diplomatic support of the East India Company became the founder of the present State of Jhalawar. In that sordid episode the students of history give all their sympathy to the Maharao of Kotah. However, in the study of historical facts, sentiments should not have a prominent place.

With kind regards and renewed thanks for your fine gifts,

I am, Yours Sincerely,

Udaipur,
March 5th, 1942.

Mohan Singh Mehta

VICE-CHANCELLOR.

Benares Hindu University.

16th May, 1930

Pandit Mathuralal Sharma, M.A., has been a student of the Benares Hindu University for the last six years. Having taken his Bachelor's degree from the Allahabad University, Pandit Mathuralal took up nis studies at this University for the degree of Master of Arts in Ancient Indian Histroy and Culture, which he obtained in 1926, with credit in the second division. He then took up studies for the M.A. degree in the history of Medieval India which also he obtained with credit in the second division this year. He has for three years been working as a research scholar under the able guidance of Prof. A.B. Dhruva for the degree of D.Litt. of the University for which he has submitted his thesis.

Pandit Mathuralal has been one of the best scholars of this University - very intelligent, industrious and devoted to his studies. Simple in habits and with an excellent character, he combines administrative capacity with high intellectual attainments and I expect that he will prove an acquisition to any institution which he will join. I wish him every prosperity in life.

M. M. Malaviya

VICE-CHANCELLOR

Towards Peace Through Science

Farewell Address Presented to:

SHRI M.L. SHARMA, M.A., D.LITT.

Principal Maharaja's College, Jaipur

Sir,

We, the members of Science Association have assembled here to bid farewell on the eve of your relinquishing the office of the Principal, Maharaja's College, Jaipur.

The news of your having to leave us came as a shock and for some time it was hard to give credence to it, for your association with us was taken as inseparable. But fate has willed otherwise, and your leaving us has so filled us with a deep sense of personal loss that we find no words to express our feelings on this occasion.

Ever since your arrival in our midst, your winning manners, amiable personality, and good humour have impressed us deeply. We have been deeply touched by your affectionate attitude towards us and our sense of loss is the more poignant and keen as we are loosing in you a loving and affectionate of this family of students.

It was our rare good fortune, Sir, to have you as our principal. It would be presumptous on our part to say about your deep learning but we may assure you, Sir, that it is a matter of personal pride for us to have a non of such learning amidst us. Your speeches

littered with gems of learning and wisdom have kept the audiences spell-bound.

As a Principal, you have shown sympathy and consideration for us all for which we shall remain deeply grateful to you. Your anxiety to solve our difficulties was well known and won our spontaneous affection and respect for you. Your being appointed as the Director of Education comforts us in one respect that you will still be connected with the cause of education and from a position of greater responsibility and power you will guide the entire student community on the right path. You have so much the good of students at heart that the students could not have expected to see a more sympathetic Director of Education than you. May God give you strength to achieve better success as Director of Education than ever before.

The members of the Science Association are specially indebted to you for your encouraging and sympathetic attitude towards this society. By your keen interest in our society you have shown that it is possible for one who has never been a student of science to understand and appreciate the importance of Science. We shall forever remain grateful to you for your guidence and advice and feel confident that it will still be forthcoming even though you will not be with us.

We hope that you will have a place for us in your affectionate heart and praying to God to bless you with a life full of health, happiness and success,

We are,

Yours Obediently

Members of the Science Association
Maharaja's College, Jaipur.

September 28, 1951

❑

॥श्रीः॥

श्रीमतां विद्वदग्रेसराणां भारतीय संस्कृतिपरिरक्षकाणां गीर्वाणवाणीप्रणयिनां
न्यायप्रिमाणां शासनकुशलानां श्रद्धेयानां
राजस्थानीयशिक्षाविभागस्याध्यक्ष्यमावहतां

पं. श्री मथुरालालशर्ममहोदयानां

करकमलयोस्सादरं सगौरवञ्च समर्प्यमाणम्

—अभिनन्दन पत्रम्—

विद्वदग्रेसराः श्री शर्माणाः !

विद्वद्भिश्शोभते देशः' इत्यभियुक्तोक्तिमनुसृत्य जननीयं भारतमाता भवादृशान् कतिपयान् सुतान् प्रासूय सन्तुष्टान्तरङ्गा विलसतीत्यहो भाग्यमस्माकम्। विशेषतश्च धार्मिकधुरन्धरैः, स्वस्वपराक्रमातिशयेनावाप्तस्वातन्त्र्यसुश्रीकैः, अनिर्वर्णनीयेनोद्यमविशेषेणापाकृतकुसंस्कृतिभी राजभिः, सतीरत्नैश्चध्युषितेयं राजपुत्राणां भूमिः श्रीमतः प्राप्य शोभतेतमाम्।भवन्तो हि सद्विप्रकुलप्रसूताः सक्रमं सश्रमञ्चानन्यसुलभां विद्यां बाल्य एव यथावदधीत्य परिष्कृतमतिप्रकर्षाः विविधैरूपाधिभिरलङ्कृताः तेषु तेषुविद्यालयेषु क्रमेणाध्यापकप्राध्यापकाध्यक्षपदानि सुशोभयन्त उच्चावचं छात्राणामध्यापनेन तानन्वगृह्णन्निति नितरामधमर्णोऽयं देशः। अनितरसाधारणोन भवदीयवैदुष्येणा महान्तं लाभमनुभवन्तो भवच्छात्रास्सर्वत्र प्रान्तेऽस्मिन् प्रसृताः शिक्षणसंस्थासु, नैकविधेषु राजकीयकार्यालयेषु संल्लग्नाः भगवतीं भारतमातरं स्वकीयानुपमया परिचर्यया परितर्पयन्तीति नितरां प्रमोदस्थानमिदम्।

भारतीयसंस्कृतिपरिरक्षका महाभागाः !

'अग्रे समृद्धिमेष्यमाणा सस्यलता अङ्कुरावस्थायामेव परिचीयते तदभिज्ञैः' इति लौकिकीमुक्तिमनुसृत्य शैशवावस्थायामेव भवतस्सम्यगवगत्य भवतपूर्वजाः यत्संस्कृतिबीजं सहसुशिक्षया भवत्सु समवाप्सुः, तदेवाद्य क्रमशोऽङ्कुरितं पल्लवितं पुष्पितं फलितच विलसतीत्यहो धन्या वयम्। सत्यमेवास्माकं चेतश्चित्रीयते—यद्वैदेशिकैर्भारतीयार्यसंस्कृतिं समूलोन्मूलनैकधिषणया प्रवर्तितायां शिक्षापद्धतौ, ताञ्च प्रसारयितुं प्रवर्तितेषु विद्यालयेषु आ च छात्रावस्थायाः आ चैतन्निमेषात् सुसम्बद्धा अपि 'गुणदोषौ बुधो गृह्णन् इन्दूक्ष्वेडाविवेश्वरः। शिरसा श्लाधते पूर्वं परं कण्ठे नियच्छति' इति नीत्या गुणैकपक्षपातिनो भवन्तः तादृशशिक्षापद्धतेर्दोषान् दूरवस्समुत्सार्यार्यसंस्कृतिप्रसारैकमनसः स्वीयं कार्य सञ्चालयन्तीति। सन्तीह भारते गणानातीता एम. ए. पदभाजः, डाक्टरपद्भाजश्च, ये हि भारतीयसंस्कृतितो भीतभीताः वैदेशिककुसंस्कृतिपिशाचिकया समाकान्ताः भगवतीमार्यसंस्कृतिं केशेषु गृहीत्वा इतस्ततस्समाकर्षन्तः स्वैरं नृत्यन्ति, परं भवन्तो भारतस्य वास्तविकमितिहासं परिचिन्वन्तः, अनितरसाधारणेन भारतवर्षस्य गौरवेण सुपरिचिताः विंश्ति-तमेऽप्यस्मिन् शतके ताभेवार्यसंस्कृतिं सर्वत्र प्रसारयितुमीहमानाश्चेष्टन्त इति निवृर्तस्वान्ता वयम्।

गीर्वाणावाणीप्रणायिनो महाशयः !

'न हि कस्तूरिकामोदःशपथेन विभाव्यत' इति न्यायेन पाश्चात्यशिक्षितेष्वपि भवत्सु निसर्गतो विद्यमानं निरतिशयं निलिम्पवाणीप्रणयित्वं, तत्र पाणिडत्यप्रकर्षञ्च तदा तदा भाषणावसरेषु समनुभूय न केवलं

संस्कृतवाग्विवर्धिनीयं परिषत्, किन्तु सर्वोऽपि संस्कृतसमाजः महान्तमानन्दसन्दोहमनुभवति।भगवत्या गीर्वाणवाण्या लोकप्रियत्वं सम्पाद्य पुरेव भारतवर्षेऽस्याः प्रचारं कामयमानाः श्रीमन्तो यतन्त इत्यस्माकं महानवलम्बः। युक्तञ्चेदम्–'सर्वस्सगन्धेषु विश्वसिति' इति न्यायमनुसृत्य सर्वोऽपि लोकः स्वदेशस्य सांस्कृतिकीमुन्नतिं सम्पादयितुं स्वकीयामेव भाषामवलम्बत इति नैसर्गिकोऽयं पन्थाः। भारतमातुर्भाषा निलिम्पवाणी, मातुर्भाषैवापत्यैर्व्यवहर्तव्येति न्याट्या सरणिः। तामिमां सरणिं सर्वात्मना स्वीकुर्वाणा भवन्तः अपरानपि तत्र प्रेरयन्तीति साध्विदं कर्म। संस्कृतवाग्विवर्धिनीयं परिषद् भवन्निर्दिष्टमेव पन्थानमनुसरन्ती नचिरादेव स्वकीयं मनोरथं पूरयिष्यतीति सुदृढोऽयमस्माकं विश्वासः।

न्यायप्रियाः शिक्षविभागाध्यक्षाः !

शिक्षविभागो हि नाम सर्वस्य देशस्य जीवातुः। सोऽयं सच्चारित्र्यस्य सुसंस्कृतेश्चोद्गमः। अनेनैव नागरिकेषु सच्चरित्र्यं सुसंस्कृतिश्च व्यवस्थापयितुं शक्यत इति निर्विवादमिदं वचः।तदिदं सुविमृश्य शिक्षा मन्त्रिणः श्रीमाथुरमहोदयाः सच्चारित्र्यसम्पन्नान् ज्ञानेन वयसानुभवेन च पलितम्भवुकाशरस्तर्षुत्रभवतश्शिक्षाविभागाध्यक्ष्ये नियुञ्जानाः सत्यमेव शिक्षाविभागमस्मांश्च धंन्यतमानकार्षुरिति तान् प्रथमं हृदयेनाभिनन्दामः। अथवा–'श्रिया दुरापः कथमीप्सितो भवेत्' इति न्यायेन स्थाने इयं शिक्षा स्वाध्यक्षत्वेन श्रीमतःस्वयमवृत। अद्यास्माकं गांवः कामदुघास्समजनिषत,मनोरथाश्च परिपूर्णाः, किन्तु साम्प्रतं सर्वत्र भारतवर्षे विशेषतश्च राजस्थाने संस्कृता अपि संस्कृतच्छात्रा असंस्कृताः, सुशिक्षिताः, अपीमेऽशिजिताः कुशला अपि कार्येष्वकुशलाः सर्वतः परिभूयमाना न कैरपि परिगण्यन्त इति नितरां विषीदामः। हन्त! त्यागैकशीलानां, प्राचीनार्यैस्सुपरिश्रम्य भारतवर्षस्य गौरवं समेधयितुं प्रणीतानि शास्त्राणि महान्तं क्लेशमनुभूयाप्यधीयमानानाम्, उत्सन्नप्रायामपि भारतीयसंस्कृतिं कथं कथमपि परिरक्षतां संस्कृतच्छात्राणामियान् परिभवः? अथवा न्यायप्रियेषु सुदृढसङ्कल्पेषु भवत्सु शिक्षाविभागाध्यक्षपदं समलङ्कृतवत्सु नास्माकं विषादस्यावकाशः, नापि परिभवस्य स्थानम्। अधुनास्माकमायतिस्समुज्ज्वलैवेति निश्चिन्ता वयमास्महे। सम्प्रति ह्येकैकोऽपि देववाणीसमुपासकश्छात्रः, ये सर्वेषु विद्यालयेषु संस्कृतस्यानिवार्यतां, संस्कृतज्ञेषु विद्यमानाया वैषम्यपिशाचिकाया उत्सादनं, संस्कृतोपाधीनाञ्च सर्वमान्यतां चिकीर्षितुं दृढसङ्कल्पा भवन्त इत्यवगत्य नितरां प्रसन्नचेता विलोक्यते।

शासनकुशलाः श्रद्धेयाः !

विद्यार्थिनामनुशासनवर्तित्वं नाम परमो गुणः तत्र तत्र विद्यालयेषु भवदाध्यक्ष्यावसरे निरङ्कुशा अपि छात्राः अनुशासने वर्तितुं भवद्भ्यः शिक्षित्वा स्वकर्तव्यं यथावत्परिपालयितुं प्रवृत्ता इत्यसकृद्वयमन्वभवाम। तदानीं सङ्कुचितमेव श्रीमतां क्षेत्रमासीत्। अधुना तु शिक्षाविभागस्याध्यक्ष्यमावहन्तोऽतिविस्तृते अस्मिन् राजस्थानप्रान्ते स्वप्रभावातिशयेन निगृह्य निरङ्कुशांश्छात्रान् प्राचीनैरार्यैस्सुभृशं क्षुण्णे कल्याणे पथि सञ्चरितुं भवन्तः प्रेरयिष्यन्तीत्यत्र न कस्यापि सन्देहः। नैतिकं सांस्कृतिकञ्च समाजं निर्मातुं शोभनोऽयमवसरः श्रीमताम्।भवत्सु विद्यमानां शासनकुशलतां वीक्ष्य सर्वसाधु सम्पनीपत्स्यत इति वयं निश्चेचीयामहे। तथापि पवित्राणीमानि भारतवर्षैकसुलभानि कार्याणि यथावत्सम्पादयितुं तदुचितां भूयसीं साधनसम्पदं नीरोगदृढगात्रतां धैर्यश्रियञ्च भवद्भ्यः प्रदाय साधुशीलान् सौम्यप्रकृतींश्च भवतोऽनुगृह्णीयाद्भगवान् परमेश्वर इत्यभ्यर्थयामहे।

तिथिः कार्तिक कृष्णा ११ भृगुः,संवत् २००८ वि.

जयपुरम्

भावत्का एव वयं–

श्रीसंस्कृतवाग्विवर्धिन्याः परिषदः सदस्याः

जैयपुरीयाः

राजस्थान-संस्कृत-परिषद्-तृतीयअधिवेशनम्

अपि च

अखिल-भारतीय-संस्कृत-दर्शन-उपनिषद्

(21-24 मार्च 1976)

संस्कृत-प्रचार-मण्डल-राजस्थानम्, बांसवाड़ा-नगरम्

*

परिषद् उपनिषद् चेयं संस्कृतसंस्कृतेः संस्कृतस्य

च समुन्नत्यै सततं प्रयतमानान् सरस्वतीवरदपुत्रान्

श्री डॉ. मथुरालाल शर्मा महाभागान् सादरं

समभिनन्दन्ती किमपि सातिशयं गौरवमनुभवति।

अध्यक्षः	अधिवेशन-सचिवः	महासचिवः	स्वागताध्यक्षः

नक़ल रोबकार महकमा खास कोटा

२६४८ — २२ जुलाई १९३१

KHAS KOTAH STATE

Ramgopal Sharma

पं. मथुरालाल

पं. मथुरालाल को तालीम के लिये रियासत से वजीफा दिया गया था - उसने बनारस हिन्दू यूनीवर्सिटी से डाक्टर की डिग्री हासिल की है - श्री जी हुजूर बहादुर को प्रसन्नता है कि राज्य के एक निवासी ने महनत करके इतनी योग्यता प्राप्त की और

हुक्म देते हैं कि

डाक्टर मथुरालाल को कोटा राज्य का इतिहास लिखने और हर्बर्ट कालिज में इन्टरमीजियेट क्लासेज को इतिहास पर एक सप्ताह में दो लेक्चर देने के लिये दो साल के लिये मुकर्रर किया जावे - इस अवधि में उनको २००) मासिक तनख्वाह दी जावेगी - और इसके सिवाय (नौकर, कुली (जिनके रखने का उनको स्वय अधिकार होगा) व स्टेशनरी और आवश्यकता होने पर बाहर जाने के लिये ५०) मासिक और दिया जावेगा - इस तरह २५०) मासिक बचत बजट शिक्षा से उसको १ अगस्त १९३१ से मिलेगा - बाहर जाने का कोई भत्ता नहीं दिया जावेगा अहकाम जारी होवें - Nandlal. G. Singh.

नकल रोबकार स्टेट कौन्सिल कोटा

२१ नवम्बर १९४१

MAHKMA KHAS KOTAH STATE
महकमा खास रियासत कोटा

डाक्टर
मथरालालजी
६६१

डाक्टर मथरालाल जी सेक्रेटरी महकमा खास को प्राइम मिनिस्टर और कौन्सिल का सेक्रेटरी मुकर्रर किया जाता है- और हुजूर आज को तारीख से उन को तनख्वाह में ५०) माहवार की वृद्धि फरमाते हैं-

हु. हु. कि

अहकाम जारी होवें-

Rajputana Middle School Examination.

No. 123

Certified that Mathura Lal

Son of Kanhaiya Lal

Age, 15 Years 10 Months.

Student of Herbert High School, Kotah

passed the Middle School Examination, held in April 1914, and was placed in Division I His Optional Subject was Sanskrit. distinguished in mathematics & Hindi.

Ajmer, 18th June ~~July~~ 1914.

Aitkins I.C.S.

Director of Public Instruction, Ajmer-Merwara.

No. 121

University of Allahabad.

Matriculation Examination, March, 1916.

Roll No. 357

I certify *that* Mathura Lal Sharma *Herbert H. School* Kotah, *aged* 17 *years and* 8 *months, passed the Matriculation Examination, held in the month of March, 1916, and was placed in the* Second *Division.*

The subjects in which he was examined were English, Mathematics, History and Geography, Sanskrit *and* Hindi

University of Allahabad:
The 5th June, 1916

M. G. V. Cole
Registrar.

4-JAN 1927
ORIENTAL LIFE OFFICE ALLAHABAD
INSURANCE CO.
10 DEC
UNIVERSITY OF ALLAHABAD QUOT RAMI TOT ARBORES

UNIVERSITY OF ALLAHABAD.

Bachelor of Arts.

This is to Certify that Mathura Lal Sharma Teacher, Kotah

Ex-student obtained the degree of Bachelor of Arts in this University in the Examination of 1923.

The subjects in which he was examined were English Literature, Sanskrit and History

University of Allahabad :
The 24th November, 1923.

Vice-Chancellor.

Benares Hindu University

Master of Arts.

This is to Certify that Mathura Lal Sharma

obtained the degree of Master of Arts in this

University in the Examination of 1926 , in

Ancient Indian History and Culture ,and that he was placed in the

Second Class

Benares Hindu University:

The. 6th January 1927

M. M. Malaviya

Vice-Chancellor

विशारदका उपाधि-पत्र

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, परीक्षा-समिति, प्रयाग

卐

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनकी व्यवस्थामें संवत १९७४ विक्रमाब्दकी हिन्दी मध्यमा परीक्षामें

(१) साहित्य (२) इतिहास (३) अर्थशास्त्र (४) संस्कृत से अनुवाद

(५) अंग्रेज़ी से अनुवाद विषयमें द्वितीय श्रेणीमें उत्तीर्ण होनेके उप

श्रीयुत पं० कन्हैयालाल शर्म्मा आत्मज

श्रीयुत पं० मथुरा लाल शर्म्मा को

इन्दौर स्थानमें आठ वां हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन

सहर्ष **विशारद** नामकी उपाधि और उसके प्रमाणमें यह उपाधिपत्र प्रदान करता है।

ह० मोहनदास करमचंद गांधी सम्मेलनके सभापति

ह० पुरुषोत्तम दास टण्डन प्रधानमन्त्री

ह० ब्रजराज परीक्षासमितिके संयोजक मंत्री

मिति वैसाख सं० १९७५ विक्रमाब्द ।